अमृत राय
हंस प्रकाशन
इलाहाबाद

प्रकाशक :

अमृतराय

हंस प्रकाशन

इलाहाबाद

मुद्रक :

अग्रवाल प्रेस

इलाहाबाद

आवरण

सुप्रभात नन्दन

पहला संस्करण, अक्तूबर १९५१

मूल्य साढ़े सात रुपया

बापू जी की स्मृति को

आखिरकार 'बीज' अब आपके हाथ में है ! लेकिन दिक्कतें तो इसके रास्ते में ऐसी ऐसी आयीं कि कभी कभी धीरज छूट जाता और लगने लगता कि यह बीज अंकुरित होने के लिए नहीं सड़ने के लिए उपजा है !

इसका लिखना शुरू हुआ मार्च १९५० में, बनारस डिस्ट्रिक्ट जेल में। काम बहुत अच्छी तरह से चल रहा था जबकि इलाहाबाद हाइ-कोर्ट के एक फैसले से मेरी नजरबन्दी गैर-कानूनी करार दी गयी और मैं जल्दी ही छूट गया। जेल से बाहर आ जाना अच्छी ही बात थी; लेकिन जहाँ तक इस उपन्यास का सम्बन्ध है, यह रिहाई उसके लिए जहर साबित हुई। बाहर आकर दूसरे काम लग गये और जिस एकाग्रता से मैं जेल के अंदर इसके ऊपर काम कर रहा था, वह चीज बाहर आकर हवा हो गयी। इस नुक्ते से तो सचमुच जेल से छूटने का अफसोस ही हुआ।

बहरहाल जून १९५२ में किताब पूरी हुई और उसके बाद प्रकाशन की अनेकानेक कठिनाइयाँ शुरू हुईं, जिन्होंने अन्त तक अपनी प्रीत को निबाहा !

अब ख़ुदा ख़ुदा करके किताब छप पायी है और आपके हाथ में

है। लेकिन किताब बहुत बदनसीब है, इसलिए ज़रा पोढ़े हाथ से पकड़ कर रखिएगा। वर्ना कौन जाने कोई चील ही झपट्टा मार ले जाय! इस किताब के लिए कुछ भी अजब नहीं!

खैर, यह तो अन्तर्कथा हुई। खास उपन्यास के बारे में कुछ भी नहीं कह रहा हूं क्योंकि अगर वह पांच सौ सत्ताइस पन्नों में अपनी बात नहीं कह सका तो मैं ही दो पंक्ति में क्या कह लूंगा?।

गीत

१

तुम आज बड़ी उदास दिखाई देती हो, राजेश्वरी, सत्यवान ने कहा।

कुछ तो नहीं, राजेश्वरी ने कहा और मुसकराने की कोशिश की। लेकिन सत्यवान ने आसानी से देख लिया कि यह मुसकराहट यों ही ओठों के फैल जाने से ज्यादा कुछ नहीं है। उसने कहा—"अपना चेहरा तो जरा आइने में देखो" और सचमुच मेज पर से आइना उठाकर राजेश्वरी की तरफ बढ़ाया। लेकिन राजेश्वरी ने आइना नहीं लिया और लम्बा मुंह बनाकर क्रोध का अभिनय करते हुए कहा—यह तुम्हारी बड़ी बुरी आदत है, सत्य!

सत्यवान ने आज शाम राजेश्वरी का चेहरा देखते ही भांप लिया था कि आज इसके सीने पर कोई बोझ है जो तभी हलका हो सकता है जब राजेश्वरी उसके बारे में कुछ बोले। मनुष्य सामाजिक प्राणी है और यह उसका स्वभाव है कि वह अपने किसी आत्मीय से अपनी तकलीफें बांटे। लेकिन जैसे आत्मीय से आत्मीय आदमी के आगे भी नंगा होने में इन्सान को झिझक होती ही है उसी तरह दिल को भी नंगा करने में होती है यानी उन लोगों को जिनके पास दिल है। दिल यानी दिल, चमड़े का पट्टा नहीं जो कलाई पर बांधा जाता है!

सत्यवान ने इन्हीं सब विचारों में डूबे हुए कहा—चलो ज़रा टहल आवें।

राजेश्वरी जैसे इस प्रस्ताव का इन्तज़ार ही कर रही थी। उसने कहा—तुम ज़रा बाहर चलो, मैं साड़ी बदल लूं।

मार्च के दिन थे। गुलाबी सर्दी थी। हलकी हलकी हवा चल रही थी। सत्यवान और राजेश्वरी टहलते टहलते जार्जटाउन के एक छोर पर पहुंच गये। दोनों काफी खामोश चले जा रहे थे। राजेश्वरी कुछ कहना चाहती थी, लेकिन बात जैसे ओठों तक आ आकर रुक जाती थी। सत्यवान उसका बोझ हलका करना चाहता था लेकिन एक खास हद से ज़्यादा आग्रह भी अपनी तरफ से नहीं करना चाहता था, पता नहीं किसकी कौन सी दुखती रग छू जाय। लेकिन एक सूनी सड़क पर काफी फ़ासले तक यों ही चुप चुप चलने में घुटन दोनों महसूस कर रहे थे। आखिर सत्यवान से और न रहा गया, उसने हिम्मत करके पूछा—आज तुम वहां तो नहीं गई थीं ?

राजेश्वरी ने कोई जवाब नहीं दिया।

सत्यवान ने फिर धीरे से पूछा—क्यों ? तुम कुछ बोलती क्यों नहीं ?

इस बार राजेश्वरी ने उसे घायल गाय की सी निगाहों से देखा।

सत्यवान ने देखा कि राजेश्वरी की आंखों में आंसू हैं। उसने हलके से राजेश्वरी के कंधे पर हाथ रखा और कहा—छी...

फिर दोनों घर की तरफ लौट पड़े। रास्ते भर कोई कुछ नहीं बोला। राजेश्वरी रीता बादल थी और सत्यवान, जलता तवा।

घर पहुंचते ही सत्यवान ने काफी कठोर स्वर में कहा—राज,

उस जानवर के लिए तुम्हारी आंख में आंसू देखकर मेरे बदन में आग लग जाती है। ......

राजेश्वरी ने जमीन पर आंख गड़ाये गड़ाये कहा—तुम कब समझोगे, सत्य....मैं किसी के लिए नहीं रोती, अपने भाग्य को रोती हूं....

सत्यवान को जैसे किसी ने चुटकी काट ली—भाग्य ? एक तीखी जहर में बुझी हुई हँसी। राजेश्वरी चुप रही। और राजेश्वरी की चुप्पी से ही सत्यवान को सबसे ज्यादा चिढ़ होती है। ठीक भी तो है, कछुआ जब अपना सिर भीतर, काठी के अन्दर, समेट ले तो कोई उसपर चोट भी कैसे करे !

उसने राजेश्वरी का दिल दुखाने की गरज से कोई ऐसी कड़वी बात कहनी चाही कि वह अपनी चुप्पी तोड़े यानी अपनी काठी से बाहर आए। उसने कहा—तुम बार बार पत्तल चाटने वहां क्यों जाती हो ? वहां तुम्हारा ऐसा कौन सा खजाना गड़ा है ?

इसका भी राजेश्वरी पर कुछ खास असर नहीं हुआ। उसने बड़ी जालिम सादगी से कहा—आज मेरी शादी की बरसगांठ थी...

सत्यवान मारे गुस्से के गिनगिना गया। अपने शब्दों को चबाते हुए बोला—तुम्हारी शादी की बरसगांठ....बड़े जशन का दिन था तब तो !

राजेश्वरी ने निरीह आंखों से सत्यवान को देखा जैसे उसकी समझ में ही न आता हो कि इसे आज ऐसी दिलखराश बातें कहने में क्या मजा मिल रहा है। उन आंखों में हलका सा शिकायत का भाव था और वैसी ही हलकी सी याचना कि तुम आज क्यों मेरे पीछे हाथ धोकर पड़े हो। मेरा चेहरा क्या तुम्हें ऐसा खुश नजर आता है कि उसे दुखी करना जरूरी है ?!

और इधर सत्यवान सोच रहा था—यह भारतीय स्त्री भी क्या अजीब जन्तु है। जिस जाहिल आदमी ने इसकी जिन्दगी धूल में मिला दी है, उसी की माला जपती बैठी है और उसकी शान के खिलाफ एक लफ्ज़ भी सुनने को तैयार नहीं है। जिस घर में उसके लिए कोई जगह नहीं है उसमें बारबार घँसने की कोशिश करती है, "सभ्य" तरीके से दुतकारी जाती है, मगर फिर फिर वहीं पहुंचती है। स्वाभिमान भी तो कोई चीज़ है लेकिन यहां तो वह भी गायब है। गोरी-चिट्टी, लम्बी, छरहरी सी, लम्बी मगर कुछ चौड़ी भद्दी सी नाक, बड़ी बड़ी आंखों और घनी काली पलकों वाली राजेश्वरी सूरत—शकल में, शिक्षा-दीक्षा में, रहन-सहन में उस आदमी से हजार गुना अच्छी है, सचमुच वह राजेश्वरी के पैर की धोअन भी नहीं है।.....

सत्यवान ने एक मर्तबा राजेश्वरी के पति को देखा था, दबे हुए, पक्के रंग का, दुबला, रोगी, अफीमची चेहरा जिसपर मक्खियां सी भिनकती थीं, सर पर बड़ी सी चुटिया रक्खे, मैली सी धोती और चीकट कमीज़ और कोट पहने—पूरा कार्टून है। पढ़ाई-लिखाई में बिलकुल साढ़े बाइस, एड़ी चोटी का पसीना एक करके भी मेरा शेर एफ० ए० नहीं कर सका। लेकिन घर में पैसा बहुत था इसलिए लालन के एफ० ए० न पास कर सकने पर भी ज्यादा कुछ नहीं बिगड़ा, दूकान पर उन्हें चिपका दिया गया और वह मजे में चिपक गये।

राजेश्वरी के पिता बाबू भगवानसहाय कमिश्नरी में हेडक्लर्क थे। तनख्वाह तो डेढ़ ही सौ थी लेकिन ऊपरी आमदनी काफी थी, इसलिए अपनी बीस साल की नौकरी में उन्होंने काफी पैसा जोड़ लिया था। राजेश्वरी की शादी भी उन्होंने अपनी समझ में लाख में एक की थी। पूरे डढ़ साल की खोज ढूंढ़ के बाद, कई शहरों की खाक छानने पर उन्हें

यह वर मिला था—अरे दूल्हे का भी कहीं रंगरूप देखा जाता है, वह भी क्या कोई लड़की है ! नाक-नक्शे का अच्छा, घर अच्छा, बस और क्या चाहिए। शहर में अपने तीन चार मकान हैं, जमा हुआ कारबार है और उसमें तो फिर आप जानते ही हैं कितनी बरक्कत होती है। ...गरज राजेश्वरी के पिता की दृष्टि में यह मियां मुचड़ू किसी नौलखाहार से कम नहीं थे जो वह अपनी लाड़ली राज के गले में डाल रहे थे ! उन्होंने बहुत मगन होकर राज की मां से कहा था—कितनों को मिलते हैं ऐसे लड़के ? चलो अपनी राजो की जिन्दगी बन गयी, राज करेगी.......

और इसमें शक की गुन्जाइश भी कहां थी—चार बड़े बड़े पंडितों ने बैठकर वर-वधू का जायचा मिलाया था और एक स्वर से फतवा दिया था कि ऐसा अद्‌भुत योग कभी ही कभी देखने में आता है, संबन्ध पक्का करने में तनिक भी विलम्ब न कीजिए, शुभ कार्य में देर न करनी चाहिए, भगवान का नाम लेकर जाइए कल ही लड़का छेंक आइए, आपकी लड़की रानी बनेगी, रानी, ऐसा ही योग है।

बस फिर क्या था, बाबू भगवानसहाय दूसरे ही रोज़ गए और फलदान कर आए—कानपुर से इलाहाबाद दूर ही कितना। लड़का छिक गया यानी राजो तो अब रानी बनेगी और बनेगी। भगवान को यह जोड़ा मंजूर था तभी तो दोनों की कुंडलियां आपस में इतनी मिलीं कि ज्योतिषी लोग भी दंग रह गये !

उन्हीं ज्योतिषियों ने पोथी-पत्रा देखकर विवाह के लिए शुभ से शुभ दिन और मुहूर्त भी विचार दिया और उस दिन उसी शुभ से शुभ मुहूर्त में दस साल की राजेश्वरी चन्द्रमाप्रसाद के संग विवाह-सूत्र में बांध दी गई। संयोग की बात, विवाह के तीन हफ्ते पहले से

उसे बुखार आने लगा, लेकिन इस मारे कि कहीं वह शुभतम लग्न हाथ से न चली जाय, तीन हफ्ते के ज्वर से एकदम टूटी हुई, कमजोर राजेश्वरी को एक तरह से गोद में उठाकर उसकी मा ने अग्नि के फेरे लगवाये।

और फिर जब हर नुक्ते से ऐसी बेहतरीन शादी हो रही थी तब भला यह कैसे मुमकिन था कि खर्च के मामले में बाबू साहब फिसड्डी रह जाते। उन्होंने काफी शाहखर्ची दिखलाई, जो चीज जहां की मशहूर थी वहां से मंगाई गई, मिठाई बनाने के लिए लखनऊ से हलवाई आया, तरकारियों के लिए कश्मीरी रसोइया बुलाया गया, इटावे से बीसों पीपे घी आया। एक से एक अच्छी, सोने और चांदी के काम की बनारसी साड़ियां मंगाई गयीं, जेवर बम्बई से बनकर आए, नौकरों चाकरों को देने लेने के लिए कानपुर की मिलों से बेतहाशा जोड़े खरीदे गये। गरज कि किसी बात में कोताही नहीं की गयी कि कोई हेडक्लर्क साहब का नाम धर सके। सभी उनकी शाहखर्ची की दाद दे रहे थे, यहां तक कि लड़के वाले भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहे, गो यह बात वह ज़बान पर न लाते थे क्योंकि ऐसा करने में उनकी हेठी होती।

ऊंची शिक्षा जिन्दगी की एक बड़ी नेमत होती है लेकिन जब सत्यवान राजेश्वरी की ओर देखता तो उसे जैसे आंख में मिर्च झोंक कर कोई यह बतलाता कि ऊंची शिक्षा भी जीवन का अभिशाप हो सकती है। अगर राजेश्वरी एकदम अनपढ़, जाहिल-जपट्ट औरत होती तो कोई कारण नहीं था कि वह अपने लाख में एक कमाऊ पति के साथ और अपनी ससुराल के वातावरण के साथ पूरी तरह खप न जाती। मजे में चौके चूल्हे से लेकर सफाई-निगरानी तक घर का सारा काम काज देखती, रात में प्रेमपूर्वक पतिदेवता के पांव पलोटती, उनकी शैया

का अलंकार बनती, कोई बात नहीं अगर थकावट के मारे उसका शरीर भुसभुसी मिट्टी हो रहा है और नींद से आंखें झपी जा रही हैं। हर साल दो साल में एक तोहफा मियां की खिदमत में पेश करती और बस इसी तरह जिन्दगी कट जाती। तब तो कोई झगड़ा ही न था—लेकिन......

उसका विवाह तो दस साल की उम्र में हो गया था, लेकिन गौना हुआ सोलहवें वर्ष। उसी वर्ष उसने इन्ट्रेंस पास किया था और सो भी फर्स्ट डिवीजन में। आगे पढ़ने, लायक बनने, दुनिया में नाम कमाने और ऐसे ही दूसरे बचकाने सपनों को लेकर वह पहली बार पति के घर आई। उसको भेजते समय बाबू भगवानसहाय ने शर्त लगा दी कि राजेश्वरी को और आगे पढ़ाया जाय। अकसर बातों में बाबू भगवानसहाय बहुत पिछड़े हुए विचारों के आदमी थे, लेकिन एक अजीब बात थी कि लड़कियों को पढ़ाने का उन्हें बड़ा चाव था। खास तौर पर जब राज को इन्ट्रेन्स में फर्स्ट डिवीजन मिला तो उनके मन में यह बात और भी पक्की जम गयी कि राज ऊंची डिग्री हासिल करे। इसीलिए राज को रुखसत करते समय ही उन्होंने राज के चचिया ससुर से, जो उसे विदा कराने गये थे अपनी यह इच्छा प्रकट कर दी थी। उन महाशय ने इस सवाल पर बहस करना फिजूल समझा। बाबू भगवानसहाय से वह कहना तो बिलकुल यही चाहते थे, बिलकुल दो टूक, कि साहब, हमारे यहां लड़कियों और बहुओं को बहुत पढ़ाने का रिवाज नहीं है। कोई उनसे नौकरी करानी है। लेकिन उन्होंने बात को वैसे न कहकर नीति से काम लेना ज्यादा ठीक समझा और मुसकराकर, कुछ हां हूं करके राजेश्वरी को विदा करा लाये।

अपने इस नये घर का वातावरण राजेश्वरी को पहली ही बार में कुछ अच्छा नहीं लगा। एक तो घर की हर चीज में ऐसा एक टुच्चापन था जो राजेश्वरी को खल गया। पतिदेवता का हुलिया यों ही कुछ खास आकर्षक नहीं था, मगर पास से देखने और चार छः रोज संग रहने पर तो राजेश्वरी को उनसे गहरी अरुचि हो गई। राजेश्वरी परी न सही मगर काफी खूबसूरत लड़की थी और पतिदेवता के जोड़ में बिठाल देने पर तो सचमुच हूर थी। चन्द्रमा प्रसाद राजेश्वरी के सामने बिलकुल कहार दिखाई देता था। यह सही है कि उनके घर में अशर्फियां गड़ी थीं लेकिन अशर्फियां चन्द्रमाबाबू के चेहरे-मोहरे के संग भला क्या कीमिया कर देतीं! वह तो जैसा था वैसा था। उसपर कोई रंग-रोगन मुमकिन नहीं था। मगर सबसे बड़ा गजब तो यह हुआ कि उस ठस चेहरे पर कोई अक्ल की रोशनी भी न थी वर्ना उसी से शायद कुछ बात बनती। विवाहित जीवन के न जानें क्या क्या लुभावने सपने उसके षोडशवर्षीय मन में थे, सब पतिदेव के पहले ही दरस-परस से वहीं के वहीं ठंडे हो गये। फिर, उसके मन के किसी कोने में यह चीज भी बैठी हुई थी ही कि यह आदमी एफ० ए० भी नहीं पास है। पढ़ने लिखने की उसकी जो नयी नयी उमंगें थीं उनकी पूर्त्ति में उसे इस आदमी से भला क्या मदद मिल सकती थी। ..गरज, अपनी सभी जवान उमंगों के सर्द हत्यारे की शकल में राजेश्वरी ने इस नये आदमी को देखा जो कि उसका पति था।

गर्मी की छुट्टियां खतम होने पर जब राजेश्वरी ने अपने पतिदेव से कहा कि वह चलकर उसका नाम महिला विद्यालय में लिखा दें तो पतिदेव ने ऐसा मुंह बनाया मानो यह चर्चा ही कोई बेशर्मी हो और उन्हें इस बात पर हैरत हो रही हो वह ऐसी फोहश बात मुंह पर

मगर वह इस तरह मुंह बिचका देने से हार मानने वाली नहीं थी। लिहाजा वह पूरे जोर से अपनी बात पर अड़ी, लेकिन जब उसका कोई असर न हुआ, चन्द्रमाबाबू टस से मस न हुए और घर का सारा कामकाज उसकी इस उमंग को पैरों तले रौंदकर ज्यों का त्यों चलता रहा जैसे कोई बात ही नहीं हुई हो तो उसने मायके जाने की ज़िद की और अपने बाबू को चिट्ठी भी लिख दी कि मुझे आकर लिवा ले जाओ। जब इसकी भी कोई सुनवाई यहां न हुई तो जवानी के जोश में वह खाना-पीना छोड़कर पड़ गयी। एक-दो रोज़ तो सासु जी ने और घर के दूसरे लोगों ने इस पर भी बहुत ध्यान नहीं दिया। मगर यह चीज़ भला कब तक चलती। आखिरकार तंग आकर और चिढ़कर चन्द्रमा के चाचा जी ने बाबू भगवान सहाय को लिखा कि आकर अपनी लाड़ली को ले जाइये, ऐसी नकचढ़ी तो लड़की ही नहीं देखी। आपके घर में क्या लड़कियों को बेअदबी की ट्रेनिंग दी जाती है ?.....वगैरह-वगैरह पता नहीं क्या क्या उन्होंने तैश में आकर बाबू भगवानसहाय को लिख मारा। बाबू भगवानसहाय खत मिलने के तीसरे दिन आकर राज को अपने साथ ले गये। बाबू साहब राज को ले तो गये लेकिन मन ही मन डर रहे थे कि कहीं इसका अन्जाम बुरा न हो। इस चीज़ की गम्भीरता को वे न समझते हों, ऐसी बात नहीं थी। इस लिए उन्होंने घर से चलते समय ही सोच लिया था कि चलकर सबसे पहले राज को समझाऊंगा—बेटी जैसा देस वैसा भेख, अब अपने इन बड़ों को खुश रखना ही तुम्हारा कर्तव्य है, ऐसा काम करो जिसमें ये लोग तुमसे खुश रहें क्योंकि इन्हीं की खुशी में तुम्हारी खुशी है....लेकिन जब उन्होंने अपनी बेटी का सूखा मुर्झाया हुआ चेहरा देखा तो सब कुछ उनके दिमाग से जैसे उड़ सा गया और पहली बार उनके मन में जैसे बिजली सी चमकी कि अरे, यह कैसे कसाइयों

के हाथ मैंने अपनी लड़की दी। अपने उस आवेश में उन्होंने किसी से ज़्यादा बात भी नहीं की और राज को लेकर पहली गाड़ी से वापस चले गये।

आवेश ठंडा होने पर परिस्थिति की पूरी गम्भीरता धीरे धीरे उनके मन में उतरने लगी।

ज्योतिषियों ने कहीं झूठ तो नहीं कहा? जिस सौदे को उन्होंने अपनी जिन्दगी का सबसे बड़ा शाहकार समझा था, उसकी यह क्या गत बनी?

राजेश्वरी के वैवाहिक जीवन की यह पहली खरोंच थी, बाघ के नखों की, जो वक्त के साथ भरी नहीं, उल्टे जिसे वक्त ने एक गहरे ज़ख़्म की शकल दे दी जो कि नासूर बना, वही नासूर जिसे राजेश्वरी की जिन्दगी भी कहते हैं।

राजेश्वरी उस बार उनके घर से क्या गयी, सदा के लिए चली गयी। उसके ससुरालवालों ने समझ लिया कि वह मर गयी या कि वह उस घर में कभी आयी ही नहीं। उनके लिए राजेश्वरी सचमुच मर गयी थी और इसका उन्हें कोई ग़म नहीं था क्योंकि रकम जो उनके हाथ लगनी थी लग ही चुकी थी। उन्होंने भूलकर भी, झूठे मुंह से भी एक बार राजेश्वरी को नहीं बुलाया और राजेश्वरी मायके में रहकर वक्त काटने लगी और वक्त काटने की ग़रज़ से पढ़ने लगी और जितना ही आगे पढ़ती गयी, उसके और उसके पति के बीच की खाई उतनी ही ज़्यादा गहरी होती गयी।

बाबू भगवानसहाय अपनी लड़की की बेकस जवान जिन्दगी को देखते थे और खून के आंसू रोते थे, रात की रात बिस्तर में करवटें

बदलते रह जाते थे। लेकिन अब कोई चारा न था, पांसा ग़लत पड़ा था और बाज़ी हर गयी थी।

राजेश्वरी भी उस खाई को देखती थी जो उसने खुद अपने हाथों खोदी थी मगर अब लाख चाहने पर भी जिसको पाटना उसके हाथ में न था। अब तो वह खाई थी जिसके उस पार भूरे कंबल जैसा धुंधलका था और इस पार खड़ी थी वह, राजेश्वरी, मिसेज़ राजेश्वरी निगम एम० ए० एल० टी० जो लड़कियों को नागरिक शास्त्र और दुनिया का और बहुत सा अल्लम ग़ल्लम पढ़ाती थी।

२

सत्यवान साढ़े पांच फुट का, सांवले रंग का, मामूली जिस्म का आदमी है। उसकी आंखें देखने में तो खास बड़ी नहीं, मगर बड़ी तेज हैं। वह जब बहुत गौर से किसी की बात को सुनता है या किसी के चेहरे पर निगाहें गड़ाता है तो लगता है कि उस जगह पर अभी, देखते देखते एक बड़ा सा छेद हो जायगा। उसका माथा खूब चौड़ा है, पर सर पर बाल बहुत छोटे-छोटे हैं। ज्यादातर खादी का कुर्ता पाजामा पहनता है, कभी कभी खादी का सफेद पतलून और सफेद कमीज पहनता है। कुल मिला कर उसके बहिरंग में कुछ खास आकर्षण न होते हुए भी कुछ है जो उसके व्यक्तित्व को रुचिर बनाता है। वह शायद उसके चिन्तनशील चेहरे की ताजगी है, जो उसकी भीतरी ताजगी का दर्पन है।

सत्यवान के पिता के देहान्त को छः साल हुए। वह लखनऊ के जुबली स्कूल में ड्राइंग मास्टर थे। काफी कम उम्र में ही उनका अन्त हो गया—पैंतालिस के पेटे में ही होगें तब वह। काफी परीशानियों में उनकी जिन्दगी गुजरी थी। मुश्किल से पचास रुपए मिलते थे और इसी पचास में उन्हें गिरस्ती चलानी थी, दो लड़कों को पढ़ाना था और एक लड़की की शादी के लिए पैसा जोड़ना था। इन्हीं सब फिक्रों ने उन्हें घुन की तरह अन्दर ही अन्दर खोखला कर दिया था। अपने बच्चों के लिए वह करना बहुत कुछ चाहते थे मगर कुछ खास कर नहीं सके, असमय मृत्यु ने सभी मंसूबे धूल में मिला दिये। तब तक वह बस इतना कर पाये थे कि अपनी सारी जमा-जथा लगाकर

उन्होंने सत्यवती की शादी कर दी थी। दोनों लड़कों में से बड़ा सत्यव्रत पिता के देहान्त के समय मैट्रिक में और सत्यवान नवीं में था। पिता का साया सर से उठ जाने पर उन लोगों का वक्त बहुत भारी गुज़रा। घर में भूनी भांग नहीं थी और खाने वाले कम से कम तीन तो थे ही—सत्यवती का शुमार अगर न भी करें, गो कि दूसरे-तीसरे महीने वह भी आठ-दस रोज़ के लिए आ ही जाती थी। पास रायबरेली के एक गांव में ही उसका घर था। बस दाल रोटी पर गुज़र थी। सत्यव्रत मैट्रिक पास करके एक जेनरल मर्चेंडाइज़ की दूकान पर नौकर हो गया। घर को कुछ सहारा हुआ। सत्यवान की पढ़ाई चलती रही। जुबली में ही पढ़ता था। फीस माफ होने में कोई मुश्किल नहीं हुई। सत्यवान पढ़ने में तेज़ भी बहुत था, सदा क्लास में अव्वल आता था। मैट्रिक की परीक्षा में प्रान्त भर में उसकी आठवीं पोजीशन आई, वज़ीफा मिला और पढ़ने का सिलसिला रुका नहीं। इन्टर-मीडिएट में उसकी कोई पोज़ीशन तो नहीं आयी मगर प्रथम श्रेणी ज़रूर मिली। बी० ए० में पहुँचने के बाद उसने ट्यूशन करना शुरू कर दिया। और उसी साल वह लोग लखनऊ से इलाहाबाद चले आये। ट्यूशन के अलावा विदेशी उपन्यासों के अनुवाद से भी वह कुछ न कुछ कमा लेता था।

सत्य को अपनी पढ़ाई के लिए जो लम्बा संघर्ष करना पड़ा था उसने उसके स्वभाव में एक खास तरह की गम्भीरता ला दी थी जो आम तौर पर अच्छे खाते पीते घरों के लड़कों में नहीं पायी जाती, जो पढ़ाई के नाम पर, ठाठ के साथ बाप के पैसों पर गुलछर्रे उड़ाते हैं, खूब चाय पीते हैं, खूब सिनेमा देखते हैं, खूब लड़कियों को घूरते हैं और खूब चीट हांकते हैं। इसके ठीक विपरीत, जीवन के संघर्ष ने ही जीवन के प्रति सत्य के दृष्टिकोण को गम्भीर बना

दिया था, कुछ इस तरह का भाव कि यह ज़िन्दगी एक बहुत बड़ी अमानत है, जिसे बेहूदगी के साथ गंवाने का हक किसी को नहीं है। जब यह जिन्दगी मिली है तो उसे इस तरह जियो कि वह किसी मंजिल पर पहुंचे, कि तुम्हें भी इस बात का एहसास हो कि तुमने अपनी ज़िन्दगी को कौड़ी मोल बिकने नहीं दिया। ...किसी लेखक का यह मकूला सत्य के मर्म पर जाकर बैठ गया था कि आदमी की ज़िन्दगी के हर पल का कोई न कोई लक्ष्य होना चाहिये। सत्य से अब अगर कोई पूछे भी कि यह बात किसने कही है तो वह कोई जवाब न दे सकेगा, लेकिन वह चीज़ अब उसके खून में घुल गयी है और एक अजीब तरीके से उसे पूरे वक्त उसकी चेतना रहती है, एक अजीब तरीके से हज़ार दूसरे खयालों के बीच भी।

देश के प्रति गहरा प्यार, अंग्रेजों से जबरदस्त नफरत, सादा जीवन, और देश के लिए कोई भी कुरबानी बड़ी नहीं है—ये चन्द बातें उसके चरित्र का अंग हो गयी थीं। यही उसकी राजनीति का ककहरा भी था। सत्यवान को अब भी अपने लड़कपन के वह दिन याद हैं जब पार्कों में नमक बनाया जाता था और सड़कों पर हज़ारों आदमियों के जुलूस निकलते थे, जब लाख-लाख दो-दो लाख लोगों की मीटिंगें होती थीं जिनमें तिल रखने को जगह न होती थी, जब वालंटियर 'आजादी या मौत' का बिल्ला सीने पर लगाये जुलूस के आगे आगे चलते थे और दौड़ दौड़ कर मीटिंग का इन्तज़ाम करते थे, जब मीटिंग से ज़रा हटकर बिसाती गांधी और जवाहर, सरदार भगत सिंह और बटुकेश्वरदत्त के बैज बेचते थे जिन्हें नौजवान बड़ी आन बान से अपने सीने पर टांक लेते थे। सत्यवान तब बहुत छोटा था, मुशकिल से सात आठ साल का, लेकिन उन दिनों जो एक आम हलचल थी उसने जैसे हवा में बिजली दौड़ा दी थी और बच्चे-बूढ़े-जवान, औरत-मर्द सब उस बिजली को अपने खून में दौड़ता महसूस करते थे। उस सरकश ज़माने की धुंधली सी

याद सत्यवान के मन में बाकी है। सत्यवान कभी कभी सोचता : लड़कपन में भी कैसा जोश होता है, वैसा जोश तो जवानी में भी नहीं होता। कैसा मज़ा आता था गला फाड़ फाड़कर नारे लगाने में : अशर्फी पार्क में वह जब नमक बनाया जा रहा था तब उस नमक के कड़ाहे के लिए पुलिस वालों और वालंटियरों में कैसी छीनाझपटी हुई थी, वह दिन भी मजेदार थे !

सत्यवान को गांधी और जवाहर से भी ज्यादा मुहब्बत थी सरदार भगत सिंह से क्योंकि उसे फांसी लगी थी और वह जवान था और बहादुर था—फांसी का झूला झूल गया मर्दाना भगतसिंह। उसने अपनी मां से छः पैसे लेकर सरदार भगतसिंह का बैज खरीदा था और उसे अपनी गुलाबी पपलिन की कमीज़ में लगाकर खुश खुश घर आया था।

घर के बड़े लोग भी इन मीटिंगों में जाते थे, सत्यवान की मां भी जाती थीं, लेकिन इस ज़रा से, अंगूठे बराबर, लड़के का मीटिंग या जुलूस में जाना उनको अच्छा न लगता था। जब तक वह घर लौट न आता, प्राण उनके नहों में समाये रहते, लड़का कहीं खो न जाय, कहीं दब न जाय, बीसों तरह की शंकाएं मन में जागती थीं। लाठी भी जुलूसों पर अकसर बरसती ही थी, घोड़े भी भीड़ पर दौड़ाये जाते ही थे। इन सभी का उनको डर लगता था। और फिर भीरु मन का तो स्वभाव ही होता है कि वह बुरी से बुरी बातें अपने और अपने प्रियजनों के लिए झट सोच डालता है, जैसे लाठी अगर चलेगी तो कोई कांस्टेबुल ताक कर एक लाठी इस ज़रा से छोकरे के सिर पर ही तो मार देगा! उन दिनों की याद करके अब भी सत्य को बड़ा सुख मिलता है। संयोग से उन दिनों लखनऊ में सत्य का घर एक ऐसे मुहल्ले में था, अमीनुद्दौला पार्क में, जहां से ही सारे जुलूस उठते थे और खत्म होते थे। मीटिंगें भी तमाम वहीं होती थीं। सारे प्रदर्शनों का

केन्द्र वही था, इस लिए जुलूस हमेशा ही सत्य के घर के सामने से निकलते थे और वह हमेशा मां की नजर बचाकर उनमें शामिल हो जाता था। तभी से अंग्रेज़ों के प्रति एक ज़बरदस्त घृणा उसके मन में भर गयी थी, जैसी कि बच्चे के दिल में ही भर सकती है। कुछ इस तरह का भाव: ये अंग्रेज़ बड़े ज़ालिम होते हैं, सात समुंदर पार से आकर हम लोगों पर राज कर रहे हैं और हम जब कहते हैं कि हमें तुम्हारा राज नहीं चाहिए, हमें हमारा मुल्क वापस दे दो तो सब हमारे आदमियों को पकड़ कर जेल ले जाते हैं और वहां खूब पीटते हैं, उन्हें बूटों से कुचलते हैं। जेल बहुत बुरी जगह है, वहां खाने को भी ठीक से नहीं मिलता।....सरदार भगतसिंह बड़ा बहादुर था, उसने वाइसराय पर, बड़े लाट पर, बम फेंका था। पर उसे फांसी हो गयी ...सरदार भगतसिंह के बारे में उसने शायद घर में ही लोगों को जो बातें करते सुना था, उनमें से एक बात उसके मन पर अमिट छाप छोड़ गयी थी: बड़ा बहादुर आदमी था भगतसिंह। जब जल्लाद भगतसिंह के मुंह पर काली टोपी पहनाने के लिए आगे बढ़ा तो जानते हो भगतसिंह ने क्या कहा? भगतसिंह ने कहा—रहने दो, उसकी ज़रूरत नहीं है। मैं मौत से नहीं डरता। अरे बेवकूफ, तुझे क्या नहीं मालूम कि यह हिन्दुस्तान है जहां के बहादुर मौत को मुसकराकर गले से लगाते हैं। यह कहकर भगतसिंह ने आगे बढ़ कर खुद अपने हाथों से फांसी का फन्दा अपने गले में डाल लिया और चिल्लाकर कहा—इंकलाब जिन्दाबाद। फिर जल्लाद से कहा—"अब किस बात की देरी है"? ऐसा बहादुर था वह भगतसिंह!

पता नहीं, शायद ऐसी कोई बात भगतसिंह ने नहीं कही थी। घर पर जो बातचीत सत्य ने सुनी थी शायद उसमें भी इतने तफसील

के साथ यह बात नहीं कही गयी थी, लेकिन अपनी ही गढ़ी हुई यह कहानी अकेली सच्चाई की तरह सत्य के मन में जमकर बैठ गयी थी और अब अगर उसे कोई बतलाता कि भगतसिंह ने यह बात नहीं यह बात कही थी तो वह हरगिज न मानता और दूसरा आदमी अगर अपनी बात पर अड़ जाता तो सत्य रो देता। अपने वीर की पूजा वह जिन फूलों से कर रहा था, उनके अलावा उसे और कोई फूल नहीं चाहिए था।

भगतसिंह से ज़रा घटकर जिस दूसरे आदमी की जगह उसके दिल में थी, वह था अशफाकउल्ला—काकोरी केसवाला अशफाकउल्ला।

रामप्रसाद बिस्मिल का कहा हुआ यह शेर तभी से सत्य को याद है :

दरो दीवार पर हसरत से नज़र करते हैं।
खुश रहो अहले वतन हम तो सफर करते हैं।

अशफाक़उल्ला को फैज़ाबाद जेल में फांसी लगी थी। उसके बारे में यह बात मशहूर थी कि फांसी की कोठरी में उसका वज़न चालीस पौंड बढ़ गया था—दुनिया के इतिहास में यह एक अनोखी घटना थी। जो बात वीरों के संबन्ध में सिर्फ एक कविकल्पना थी उसे अशफाकउल्ला की ज़िन्दगी और मौत ने सच कर दिखाया था। सत्यवान को अब भी याद है अशफाकउल्ला की इस कहानी से उसकी छाती कैसी फूल उठी थी, उसके भीतर जोश का जैसे उबाल सा आया था और उसके मन ने चिल्लाकर कहा था ताकि सारी दुनिया सुन सके—यह हिन्दुस्तान है !

बाग़ी ज़माने की यही हलचलें उसकी घुट्टी में पड़ी थीं। मगर उनके साथ ही साथ सत्य के मन की बनावट में उसके एक मामा का भी बड़ा हाथ था।

सत्य के मामा बनारस के एक गांव में रहते थे। अच्छे धनी किसान थे। घर में कभी घी-दूध की कमी नहीं पड़ी। खूब खाते थे और एक हजार डण्ड और तीन हजार बैठक रोज़ निकालते थे। बड़े मस्तमौला जीव थे। शामको भांग उनके लिए रोटी से भी ज्यादा जरूरी पड़ती थी। उर्दू शायरी के बड़े शौकीन थे। उपन्यासों में सिवाय प्रेमचन्द के और कुछ भी पढ़ना गुनाह बेलज्जत समझते थे। बड़े मुंहफट इन्सान थे, बेधड़क कहते थे: इन वाहियात लिक्खाड़ों से मुझे सख्त चिढ़ है। धोती बांधने की तमीज़ नहीं, चले हैं नाविल लिखने! सब के सब एक सिरे से, झख मारते हैं, झख। वही मसल है, पैसा न कौड़ी, नाक छिदाने दौड़ी। जनाब नाविल लिखना कोई खाला जी का घर नहीं है। जिन्दगी देखते नहीं, आदमी की खाक-धूल पहचान नहीं लेकिन साहब, हम तो नाविल लिखेंगे! हम तो साहब, झख मारेंगे, कोई हमारा क्या कर लेगा!!

घर में, गांव में, अज़ीज़-रिश्तेदारों में वह किसी क़दर खब्ती मशहूर थे। और क्यों न होते, वह सदा एक्सट्रीम्स पर रहते थे। मध्यम मार्ग तो उन्होंने सीखा ही नहीं था। और जिस चीज़ को हम आज के रोज़ दुनिया या समाज कहते हैं यह मध्यम मार्ग पर चलने ही को अक्लमंदी समझता है। और फिर उनको लल्लो चप्पो भी नहीं आती थी, जो कि आज दिन जीवनयात्रा का एक ज़रूरी पाथेय है। और इतना ही नहीं उनके संग एक तीसरा गज़ब यह भी तो था कि काम धन्धे के खयाल से वह खासे मटियाफूस आदमी थे, खेती बाड़ी का काम घर के दूसरे लोग करते थे और आप डंड पेलते थे और भांग का गोला चढ़ाते थे और एक सांस में तीन सेर दूध पीते थे। ...ऐसा आदमी खब्ती नहीं तो और क्या होगा!

मगर सत्य पर अपने इस खब्ती मामा का बहुत असर था। मामा

उसे प्यार भी बहुत करते थे, जब भी आते ढेर सी मिठाइयां लाते। मगर सत्य के मन में उनको जो जगह मिली हुई थी उसका खास कारण था कि वह दो बार जेल गये थे, सन् २१ में भी और सन् ३० में भी, जब कि सत्य के घर वालों या निकट संबन्धियों में दूसरा कोई दो क्या एक बार भी जेल नहीं गया था। सत्य के मामा को राजनीति की किताबें पढ़ने का भी शौक था, लेकिन दांव-पेंच वह ज्यादा कुछ नहीं समझते थे, लट्ठमार आदमी थे लट्ठमार राजनीति समझते थे—इन हरामज़ादे गोरों को यहां किसने बुलाया ? हम पर हुकूमत करने का इन्हें क्या हक़ ?

आज़ादी की लड़ाई का रूप भी उन्होंने अपने ढंग से समझ रखा था। कहते थे—यह पुलिस के डंडे खाना भी कोई लड़ाई है ? यह मेरे बस का रोग नहीं। लाठी का जवाब लाठी—यह बात तो ठीक है मगर यह बकरी की तरह सिर झुकाकर डंडे खाना ! छिः, इस तरह भी क्या कभी कोई मुल्क आजाद हुआ है? सब बुद्धूपन की बातें हैं, गांधी के किये-धरे कुछ होगा नहीं......हां हां गांधी ने लोगों को जगाया, वह सब ठीक है मगर इससे ज्यादा उम्मीद बुड्ढे से न करो। आज़ादी की लड़ाई का मतलब है हथियारों की लड़ाई ....

उनकी युवावस्था के कई दोस्त आतंकवादी आन्दोलन में चले गये थे, पिस्तौल और बम ही उनके साथी थे। अपने घर-बार, बाल-बच्चों की मजबूरियों और स्वभाव में किसी ध्येय के प्रति आत्यन्तिक निष्ठा की कमी के कारण वह उस मार्ग पर नहीं जा पाये और अपने मस्त-मौला ढंग से डंड पेलते और दूध पीते रहे लेकिन उनके स्वभाव में जो उग्रता थी और जवानी के जो संस्कार थे उनके कारण उनका स्वाभाविक झुकाव हथियारबन्द राजनीति की ओर होता था। इसी लिए बावजूद इसके कि वह दो बार गांधी जी के आन्दोलन में जेल गये,

सजा काटी, कभी उन्हें वह 'डंडे खाने वाली राजनीति' समझ में नहीं आयी। वह अक्सर अहिंसा का मखौल उड़ाते : हुं :, अहिंसा बरतो! उन लोगों के साथ जिन्होंने दिल की जगह पर मुर्दा खाल की मशक बांध रखी है? यह भी अच्छा खटखटा बांधा है, गांधी जी ने हम लोगों की दुम में!

यह मामा जब भी घर आते तो सदा इसी लहजे में बात करते और सत्य को उनकी बातें सदा बहुत अच्छी लगतीं—और इस तरह अलक्ष्य रूप में उसके मन का एक खास तरह का ढांचा तैयार होता जा रहा था। मगर यह चीज़ हो रही थी उसके भीतर ही भीतर चलने वाले एक गहरे संघर्ष के जरिये। यों कहें तो कह सकते हैं कि बरसों तक उसके दिल और दिमाग में ज़बरदस्त रस्साकशी रही। बचपन के संस्कारों और साहस के कारनामों के प्रति तरुणाई के सहज आकर्षण से उसका दिल उसे भगतसिंह की तरफ खींचता था (और इसमें रत्ती भर शक नहीं कि बरसों तक वही उसके हृदयासन का एकछत्र स्वामी रहा, गांधी और जवाहर किसी के लिये वह जगह उसके दिल में न थी) ......लेकिन उसका दिमाग उसे गांधी की तरफ खींचता था क्योंकि जैसे जैसे सत्य में चीज़ों को समझने का माद्दा पैदा हो रहा था वैसे वैसे उसके मन में यह शंका स्पष्ट से स्पष्टतर रूप लेती जा रही थी कि भगतसिंह और बटुकेश्वरदत्त और चन्द्रशेखर आज़ाद का रास्ता सही रास्ता नहीं है, आज़ादी का रास्ता नहीं है। उसके मन में सवाल-जवाब चलते : उनकी बहादुरी दुनिया में बेजोड़ है। देश को आज़ाद करने के लिए वह लोग जिस तरह सिर हथेली पर लेकर लड़े उसके आगे दुनिया के बड़े से बड़े वीरों का सिर झुक जायगा मगर तुम मुझको यह बतलाओ उस सबका नतीजा क्या निकला। आपने किसी गोरे अफसर या गवर्नर पर बम फेंका या गोली चलायी।? अगर आपका वार कामयाब हुआ (जैसा कि अकसर नहीं होता था) तो

एक गोरा मारा गया और उसकी जगह ठीक उसी की कारबन कापी एक दूसरा गोरा आ गया ...और इसकी कीमत आपको क्या चुकानी पड़ी ? अगर सैकड़ों नहीं तो बीसियों हिन्दुस्तानियों की जानें, लम्बा-चौड़ा षड्यन्त्र का केस, दस पांच को फांसी, दस पन्द्रह को काला-पानी और उतनों ही को दस दस पांच पांच साल की बामशक्कत सजाएं। और बस फिर काफी दिन के लिए उस इलाके में जोश ठंडा...नहीं नहीं, तुम यह मत समझो कि मैं फांसी और काला-पानी की बात कहकर, जान जाने की बात कहकर तुम्हें डरवाने की कोशिश कर रहा हूं। जानें तो जायेंगी ही, उसमें क्या बात है। आजादी की लड़ाई में जानें तो जाती ही हैं, एक-दो दस-बीस की क्या बात है, हजारों लाखों लोगों की जानें जाती हैं, लोग फांसी चढ़ते हैं गोली से उड़ाये जाते हैं, कालापानी भेजे जाते हैं। वह सब तो आजादी की लड़ाई का दस्तूर है। मैं उससे कब इनकार करता हूं। लेकिन यहां पर सवाल जान जाने या न जाने का नहीं है, सवाल आजादी का है। आजादी तुम किसके लिए चाहते हो ? देश वालों के लिये। तो फिर आतंकवादियों ने क्या कभी देश वालों को पुकारा ? क्यों नहीं पुकारा ? इसलिये कि उन्होंने जनता को मिट्टी का लोंदा समझा, हां, मिट्टी का लोंदा, गोबर का ढेर ! और मैं कहता हूं इसीलिए उन्हें कामयाबी नहीं मिली। और इसीलिये गांधी को कामयाबी मिली। यह ठीक है कि गांधी ने देश को डंडा-गोली खाने की ही शिक्षा दी, डंडा-गोली चलाने की नहीं, जिसके बिना कभी कोई देश आजाद नहीं हुआ करता, मगर इस बात से क्या कोई इनकार कर सकता है कि गांधी ने देश की जनता को पुकारा और जनता उसकी पुकार पर दौड़ी? गांधी की यह 'साधन की पवित्रता' वाली बात खुद मुझे बकवास मालूम होती है। मैं यह तक मानने को तैयार हूँ कि अहिंसा ने देश को किसी कदर निर्वीर्य भी बनाया है। बनाया है, और जरूर बनाया है,

लोगों में लड़ने मरने के माद्दे को कमजोर किया है यहां तक कि खून देखकर उन्हें गश या गश नहीं तो मितली तो जरूर आने लगती है। मैं यह सब मानने के लिये तैयार हूं, लेकिन इसके बाद भी मैं यह कहूंगा कि गांधी जनता का नेता है जो जनता की नब्ज़ पहचानता है, जिसने कभी इस बात को नजर की ओट नहीं होने दिया कि देश की करोड़ों जनता को पीछे छोड़कर कोई आजादी की लड़ाई नहीं लड़ी जा सकती.....

मगर सन् ४० में गांधी जी ने वह व्यक्तिगत सत्याग्रह क्यों चलाया था? वह भी कैसा अजीब आन्दोलन था! इंगलैन्ड ने बिना हिन्दुस्तानियों की मर्जी के हिन्दुस्तान को अपने साथ लड़ाई में घसीट लिया.... कितनी सख्त बेहूदा, जाबिराना हरकत थी! इससे बड़ा तमाचा हमारे मुंह पर और क्या हो सकता था और इससे बड़ा सबूत हमारी गुलामी का। सारी दुनिया ने देखा कि अंग्रेज की दुम की तरह हिन्दुस्तानी भी लड़ाई में खिंच आये.... मगर इस ज़िल्लत का जवाब गांधी जी ने काहे से दिया? व्यक्तिगत सत्याग्रह से। समझ में नहीं आता उस वक्त वह अपना व्यक्तिगत सत्याग्रह का चर्खा लेकर क्यों बैठ गये? सबसे बड़े सत्याग्रही विनोबा भावे हैं! यह चीज उसे सदा अखरती थी, लेकिन इसका कोई जवाब उसके पास नहीं था। फिर भी जब भी उसे व्यक्तिगत सत्याग्रह का ध्यान आता तो उसके साथ साथ उसे उन कांग्रेसी नेताओं का भी ध्यान आये बिना न रहता जो मजिस्ट्रेट को टेलीफोन करके कि मैं घर पर ही हूं आप आकर मुझे गिरफ्तार कर लीजिए और मजे में गले में जयमाल पहनकर, पान चबाते हुए, मन ही मन अपने आप को बड़ा क्रान्तिकारी समझते हुए, इत्मीनान के साथ पुलिस की वैन वर्ना अकसर मजिस्ट्रेट की निजी कार में बैठकर कृष्णमन्दिर का रास्ता लेते थे।

३

प्रफुल्ल बाबू—श्री प्रफुल्लकांति बैनर्जी—गवर्मेंट इन्टरमीडिएट कालेज में गणित के अध्यापक हैं। मझोला क़द, गन्दुमी रंग, छरहरा जिस्म जिसकी हड्डियां खासी चौड़ी और मजबूत हैं। मिल की धोती और कुर्ता ही उनकी पोशाक है। खादी वह नहीं पहनते। सन् इक्कीस से लेकर सन् बयालीस तक उन्होंने बराबर खादी पहनी, खादी छोड़ एक सूत उनके शरीर पर न होता था। मगर फिर उनके विचारों में थोड़ा परिवर्तन आने लगा। कहते, खादी बहुत मंहगी पड़ती है, हर आदमी खादी नहीं पहन सकता। या कहते, यह चीज़ नेता लोगों के ही बदन पर शोभा देती है, हर नत्थू-बुद्धू के लिये नहीं है खादी! कभी ज्यादा गम्भीर होते तो खादी के अर्थशास्त्र की बखिया उधेड़ना शुरू करते। मगर तब तक खादी उन्होंने छोड़ी न थी। काफी दिन तक यह सिलसिला चला। फिर लड़ाई छिड़ी और फिर वह पूरब में फैली, पर्ल हारबर की घटना हुई, जापान उसके अन्दर शरीक हुआ, और फिर हिन्दुस्तान भी खिंचकर मैदाने जंग में आ गया। यह सही है कि हिन्दुस्तान की जमीन पर लड़ाई नहीं हुई, सिवाय बाद के कुछ दिनों के। मगर लड़ाई शुरू होने के पहले दिन से हिन्दुस्तान को उस महामारी का सामना करना पड़ा जिसे ब्लैकमार्केट कहते हैं और जो आजकल की लड़ाई का एक जरूरी नतीजा होता है, वैसा ही जरूरी नतीजा जैसा लड़ाई के मैदान में लाशों का गिरना। फर्क बस इतना होता है कि लड़ाई के मैदान में लाशें गिरती हैं राइफल से और मशीनगन से और भीतर देश में लाशें गिरती हैं भूख से और ठिठुरन से। इसीलिये कुछ लोग कहते हैं कि लड़ाई और ब्लैकमार्केट

का चोली-दामन का साथ है। असल बात शायद यह है कि लड़ाई खुद पैसा बनाने का एक विराट् ब्लैकमार्केट है। इसलिये वह भी ब्लैकमार्केट और यह भी ब्लैकमार्केट, सारा मामला गँठ जाता है, यहां से वहां तक, चांदी ही चांदी है।

हां तो अभी बात हम लोग प्रफुल्ल बाबू की कर रहे थे, उनके खादी पहनने की। ...तो जबसे ब्लैकमार्केट वालों ने खादी पर इनायत करनी शुरू की तबसे प्रफुल्ल बाबू की निगाह में खादी गिरने लगी और वह अपनी इक्कीस साल की आदत धीरे-धीरे छोड़ चले। यहां तक कि होते होते उनको खादी से दिली नफरत हो गयी और वह उसे अहिंसक भेड़ियों की पोशाक कहने लगे, उन लोगों की जो शायद आदमी की खाल का पंपशू भी पहन सकते हैं बशर्ते वह अपनी मौत से मरा हो (चाहे फिर उन्हीं की पैदा की हुई भूख से, सड़क किनारे उसका दम टूटा हो!) कहते, अब तो भाई, खादी एक जरूरी साइन-बोर्ड हो गया है ब्लैकमार्केट का। बस, स्वच्छ श्वेत खादी का परिधान पहन लो, फिर जो मन में आवे करो, कोई तुमसे जवाब तलब नहीं कर सकता। देशभक्ति का इससे बड़ा प्रमाण दूसरा क्या हो सकता है!....कहने का मतलब यह कि जैसे जैसे इस अभागे देश में ब्लैक-मार्केट करने वालों का चक्रवर्ती साम्राज्य बढ़ने लगा और जैसे जैसे आदमखोरों ने, जिनके मुंह में आदमी का खून लगा हुआ था, खादी को भेड़ की खाल की तरह ओढ़ना शुरू किया, वैसे वैसे प्रफुल्ल बाबू जो सन् इक्कीस से खादी का सेवन करते आ रहे थे, उससे किनाराकश होने लगे, यहां तक कि अब वह खादी का सूत भी अपने शरीर पर धारण करना महापातक समझते हैं, महापातक। आप चाहें तो उन्हें सिड़ी समझ सकते हैं, बहुत से लोग उनकी बहुत सी बातों के लिये उनको सिड़ी समझते हैं, आप भी अगर उनको सिड़ी समझ लेंगे तो कोई नयी

बात न हो जायगी मगर यह बात बिलकुल सही है कि अब उनको खादी हराम है।

प्रफुल्ल बाबू की उम्र पचास के आस-पास होगी, मगर उनके शरीर में गजब की फुर्ती है, आजकल के तो अच्छे अच्छे नौजवानों में उतनी फुर्ती मुशकिल से मिलेगी। आलस्य या प्रमाद की उनके यहां गुजर ही नहीं है। शिथिलता किस बीमारी को कहते हैं यह प्रफुल्लबाबू ने जाना ही नहीं, सदा किसी न किसी काम से लगे रहने ही का वह जिन्दगी समझते हैं और जब ऐसा न हो तब वही उनके खयाल से मौत है।

प्रफुल्लबाबू की समय की पाबन्दी तो शहर की चर्चा का विषय हो गयी है (अजीब देश है यह भी जिसमें समय की पाबन्दी चर्चा का विषय बनती है!) आप भी जब चाहें आजमाकर देख सकते हैं, घड़ी का कांटा नौ बजकर पचपन मिनट पर पहुंचा नहीं कि प्रफुल्ल बाबू अपना छाता लिये कालेज गेट में दाखिल होते दिखाई दिये—यह एक ऐसा सिलसिला है जिसमें आज तक, इतने बरसों में एक भी रोज व्यतिक्रम नहीं हुआ है सिवाय उन कुछ दिनों के जब प्रफुल्लबाबू बीमार पड़ गये हों। बहुत से लड़कों ने चुपके चुपके प्रफुल्लबाबू को आजमाया है और यह काफी कुछ उनके कौतुक का विषय है कि कोई आदमी समय का इतना पाबन्द हो। वक्त की ऐसी भी क्या पाबन्दी! आदमी न हुआ घड़ी हो गया! सिड़ी है यार सिड़ी! कुछ लड़के उन्हें भले सिड़ी समझ लें मगर बहुत से ऐसे भी हैं जो प्रफुल्लबाबू को देखकर अपनी घड़ी ठीक करते हैं। मसलन् अगर कोई रात को घड़ी में चाभी देना भूल गया और सबेरे रुक गयी और उसने कालेज आने के लिये पास पड़ोस के किसी बनिये या वकील साहब की दीवाल घड़ी से मिलाकर अपनी घड़ी चला ली और उसे इसका भरोसा न

हुआ कि उसका वक्त ठीक है तो फिर उसकी घड़ी में दस बीस मिनट का चाहे जो हेर-फेर हो वह जरूर प्रफुल्लबाबू को कालेज गेट में दाखिल होते देखकर अपनी घड़ी के कांटों को नौ बजकर पचपन मिनट पर पहुँचा देता। अजीब बात थी कि सभी लड़के शायद इसी से भीतर ही भीतर उनसे डरते थे—सचमुच यह एक अजीब देश है जहां समय की पाबंदी करने वालों का या तो मज़ाक बनाया जाता है या फिर लोग उनसे ऐसा डरते हैं जैसे वे आदमी नहीं कटखने कुत्ते हों! लड़के उनसे डरते जरूर हैं क्योंकि बावजूद इसके कि वह डांट-डपट ज़रा भी नहीं करते, एक से एक बीहड़ लड़के जो दूसरे मास्टरों की नाक में दम किये रहते हैं, प्रफुल्लबाबू के यहां आ कर एकदम भीगी बिल्ली बन जाते हैं। उन्हें खुद पता नहीं चलता कि उन पर यह क्या जादू चल जाता है। कभी कभी वे अपने ऊपर लानतें भी भेजते हैं, अपने आपको बहुत कोसते हैं और बड़ी कोशिश करते हैं कि दूसरे क्लासों ही का सिलसिला यहां भी चालू करें, मगर कर नहीं पाते, पता नहीं वह क्या चीज़ है जो उनकी ज़बान को, उनके हाथ पांव को जकड़ देती है, जैसे अपने शिकंजे में ले लेती है। वह शायद प्रफुल्ल बाबू की कर्मठ जिन्दगी का, समय की पाबन्दी भी जिसका ही एक पहलू है, अदृश्य प्रभाव है। वही चीज़ है जो सभी लड़कों को और खास करके उनको जो अपनी जिन्दगी मट्टी के मोल उड़ाते हैं, नैतिक रूप से अपना बन्दी बना लेती है और वे कुछ चीं चपड़ नहीं कर पाते क्योंकि खुद उनका जो विवेक है (सोया हुआ ही सही), जो सद्प्रेरणा है (मूर्छित ही सही) वह पहले ही इस सिड़ी आदमी की वश्यता, उसका आनुगत्य स्वीकार कर लेती है।

प्रफुल्लबाबू में जो चीज़ लड़कों को सबसे ज्यादा कौतुक की मालूम होती है, वह है उनका छाता। उस छाते के बिना उनकी तसवीर

ही लड़के अपने दिमाग में नहीं खड़ी कर पाते। सुबह हो, दोपहर हो, शाम हो, जाड़ा हो, गर्मी हो, बरसात हो, धूप हो चाहे न हो, पानी गिर रहा हो चाहे न गिर रहा हो मगर प्रफुल्लबाबू के हाथ में उनका छाता जरूर होगा। लड़के अकसर आपस में इसका मजाक बनाते।

एक कहता—लगता है प्रोफुल्लो बाबू यह छाता लेकर मां के पेट से निकले थे .....

दूसरा कहता—मुमकिन है एक रोज तुम देखो कि मास्टरमोशाइ अपनी एक टांग को आराम करने के लिये घर छोड़ आये हैं लेकिन इस गरीब छाते को उस दिन भी छुट्टी नसीब न होगी—

तीसरा कहता—बंगाली बाबू कहीं रात को भी छाता लगाकर तो नहीं सोते? ....

चौथा, जो अखबारी दुनिया की ज्यादा खबर रखता, कहता—प्रफुल्लबाबू हमारे कालेज के चेम्बरलेन हैं—

पांचवाँ उसमें हलका सा संशोधन पेश करता—नहीं यार, चेम्बर-लेन नहीं, खुड़ो ज्यादा ठीक रहेगा।

गरज उनके छाते को लेकर जितने मुंह उतनी बातें थीं। मगर यह सारी भनभन और जुमलेबाजियां और अटकलें तभी तक थीं जब तक प्रफुल्लबाबू क्लास में नहीं आये हैं। उधर वह क्लास में दाखिल हुए और इधर सबको सांप सूंघ गया। सब यों सीधे होकर बैठ जाते थे जैसी सबकी रीढ़ को सीधा करने के लिये बांस की चौड़ी खपाच्चियां बांध दी गयी हों और सबके कान यों खड़े हो जाते थे जैसे शिकारी का आभास मिलने पर खरहे के कान खड़े हो जाते हैं। उनकी जात से खामखा सबकी रूह कब्ज रहती है। वह न किसी

को डांटें-फटकारें, न कोई बदज़बानी करें, न बात बात पर गुस्सा दिखलायें। हां इतनी बात ज़रूर है कि उन्हें बात से ज्यादा काम पसन्द है, खुद भी बात कम और काम ज्यादा करते हैं और दूसरों से भी यही चाहते हैं। अनुशासन उनको पसन्द है, कहते हैं अनुशासन ही वह चीज़ है जो आदमी को जानवर से अलग करती है। और तीसरी बात यह कि इम्तहान में कापी कड़ाई से जांचते हैं। क्लास में उनका मुंहलगा लड़का एक भी नहीं है।

प्रफुल्लबाबू सींगवाले फ्रेम का, काले रंग का चश्मा लगाते हैं, बाल कुछ कुछ पक चले हैं खासकर कनपटी के, पेशानी पर झुर्रियां भी काफी हैं जो कि एक ऐसी जिन्दगी की गवाही देती हैं जिसके दिन आसान नहीं गुज़रे हैं, जिसने बहुत तकलीफें और परीशानियां सही हैं। वेश-भूषा चाल-ढाल सबसे प्रफुल्लबाबू रूपये में सवा सोलह आने बंगाली हैं, मगर बोल चाल में उनको पकड़ सकना आपके लिये मुश्किल होगा। बरसों से यू० पी० में रहते रहते वह बहुत साफ हिन्दी बोलने लगे हैं, अगर उनकी बोली में बंगला टान रहता भी है तो इतना हलका कि सिर्फ मंजे हुए कान ही उसको पकड़ सकते हैं।

नये बैरहने में उनका घर है और वहां से वह पैदल ही कालेज आते हैं और ठीक साढ़े नौ बजे घर से निकल कर नौ बजकर पचपन मिनट पर कालेज के गेट में दाखिल होते हैं। पिछले पन्द्रह साल से, यानी जबसे वह इस कालेज में आये, यही उनका नित्य का क्रम है। उसके पहले की बात बहुत पुरानी हो गयी है और यहां पर किसी को नहीं मालूम।

४

नौ अगस्त सन् बयालिस को जो आंधी देश में आयी उसने सत्यवान को भी सीखचों के पीछे ला खड़ा किया। उस समय वह एम० ए० फाइनल का छात्र था।

वह भी एक ऐतिहासिक दिन था। सबेरे लड़के रेस्तरां में चाय पी रहे थे जब रेडियो पर खबर आयी कि गांधी जी, जवाहरलाल, मौलाना आजाद और दूसरे सभी लोग वर्किंग कमेटी की मीटिंग के ठीक बाद पकड़ लिये गये। फिजा में पहले से ही काफी सनसनी थी, नेताओं की गिरफ्तारी की प्रतिपल आशंका थी। स्वयं गांधी जी ने अपने 'हरिजन' में काफी रहस्यपूर्ण संकेतों की भाषा में उस परिस्थिति की ओर इशारा कर दिया था जब जनता को अपना रास्ता आप तय करना होगा, जब उसको राह दिखाने वाले उसके बीच न होंगे, जब हर आदमी खुद अपना लीडर होगा, वगैरह वगैरह। पढ़े-लिखे लोग, मुख्यत: उत्साही छात्र, जिनमें सत्यवान भी था, हर हफ्ते 'हरिजन' के गांधी जी के लेखों और सम्पादकीयों का बेचैनी के साथ इंतजार किया करते थे और फिर सभी अपने अपने ढंग से उनको मतलब लगाते थे। लड़ाई की हालत यह थी कि मलय के बाद अब बर्मा में अंग्रेज फौजों को शिकस्तें पर शिकस्तें देकर जापानी फौजों ने हिन्दुस्तान की तरफ रुख करना शुरू कर दिया था, और उसी की तैयारी के रूप में जर्मन और जापानी रेडियो के प्रचार ने जनता के मन में सेंध लगाना शुरू कर दिया था। योरप की लड़ाई का हाल यह था कि हिटलर की फौजें स्तालिनग्राद को सर करने के लिये,

समुद्र की बिफरी हुई लहरों की तरह उसकी दीवारो से आ आकर टकराती थीं। हिटलर नें पागल आदमी की तरह चिल्लाकर तमाम दुनिया के सामने कह दिया था कि वह स्तालिनग्राद को सर करेगा। और ज़रूर करेगा, इसके लिये उसे फिर चाहे जो कीमत चुकानी पड़े। लिहाज़ा वह रोज रोज नयी नयी ताज़ादम फौजों को उस आग में झोंक रहा था और वह आग थी कि सबको खाक करती चली जा रही थी। हिटलरी फौजों का एक हिस्सा काफी तेज़ रफ़्तार से काकेशस में बढ़ा चला जा रहा था, बाकू का तेल और कूबान का गेहूं उसकी आंखों के आगे लहरा रहा था और उसकी आंखो के आगे लहरा रही थी हिन्दुस्तान की हरी भरी जमीन, समरकंद और बुखारा होते हुए। सब कुछ तोड़ते-तोड़ते हिटलर पागल सांड़ की तरह हिन्दुस्तान में घुस जाना चाहता था जहां हिटलर और तोजो के खूनी पंजे मिलने वाले थे। हिटलरी दस्ते एक दैत्याकार मेढ़े की तरह जिसके सर पर खून सवार हो गया है स्तालिनग्राद की चट्टानी दीवारों से टकरा रहे थे। स्तालिन ने भी आदेश जारी कर दिया था कि अब एक सूत भर भी पीछे नहीं हटना है, खून की आखिरी बूंद तक लड़ो और पीछे मत हटो, वोलगा के उस पार तुम्हारे लिये धरती नहीं है, ऐसा ही जान लो। और लोगों ने ऐसा ही जान लिया था, इसीलिए स्तालिनग्राद की गली-गली में, घर-घर में, मकान की सीढ़ियों पर, मकान के बाजों पर, सड़कों पर, पार्कों में सब जगह सोवियत नागरिक चाहे वह फौजी वर्दी में हों चाहे साधारण कपड़ों में, सर से कफन बांधकर अपनी जिन्दगी की यह आखिरी लड़ाई ऐसे लड़ रहे थे जैसे उन्हें एक नहीं सौ जानें हों, सौ नहीं हजार जानें हों। लिहाज़ा हमलावर मेढ़े के सींग टूट रहे थे, स्तालिनग्राद की दीवारें टूट रही थीं मगर स्तालिनग्राद की रक्षा में जान लड़ा देने वालों के इस्पाती संकल्प की दीवारें नहीं टूट रही थीं।

पच्छिम और पूरब दोनों ही जगह यही लड़ाई का नक्शा था। इधर क्रिप्स मिशन हिन्दुस्तान से वापस जा चुका था और अंग्रेजों का रवैया फिर वैसा ही उद्धत और प्रतिहिंसा जगाने वाला हो गया था। इन सभी कारणों से हवा में बड़ी सनसनी थी, कुछ पता नहीं चलता था कि ऊंट किस करवट बैठेगा।

नेताओं की गिरफ्तारी की खबर बिजली की करेंट की तरह लोगों को लगी। प्रायः दो घंटे बाद, ठीक दस बजे जब युनिवर्सिटी का वक्त हुआ लड़के यूनियन के दफ्तर में इकट्ठा हुए। यूनियन की जबरदस्त मीटिंग हुई, हाल खचाखच भरा हुआ था। सभी बड़े तैश में थे। बड़ी तेज तर्रार स्पीचें हुईं, इतने जोशों के साथ नारे लगे कि लगता था हाल की दीवारें गिर पड़ेंगी। सत्यवान तो यों बहुत ही शान्त स्वभाव का आदमी था और स्पीच वगैरह देने से दूर ही रहता था, पब्लिक के सामने आने के खयाल से ही उसकी नानी मरती थी। मगर वह भी उस दिन इतने आवेश में था कि उसने भी एक तगड़ी गरमागरम तकरीर कर ही डाली। पहले तो उसकी जबान थोड़ा लटपटायी, चार छः बार वह शब्दों के लिए अटका, दो-एक बार दिमाग से वह खास प्वाइंट भी उड़ गये जिन पर वह जोर देना चाहता था, जिस चीज से उसे सख्त घबराहट मालूम हुई, लेकिन उसके सच्चे आवेश ने उसे जल्दी ही संभाल लिया और जब उसका भाषण खत्म हुआ तब हाल तालियों की गड़गड़ाहट से गूंज रहा था और सत्य के दिमाग के भीतर जैसे इंजन चल रहा था। लड़कों ने काफी कुछ हैरत से, मंच पर से उतरते हुए सत्य को देखा, जैसे उन्हें यकीन न आ रहा हो कि यह झेंपू लड़का जो सामने से किसी लड़की को आते देखकर रास्ते से तीन गज दूर हट जाया करता हो, जो किसी से बोलता-चालता भी कम ही

हो और जो न तो रेस्तरां में चाय और कहवे का जाम उंडेलता हो और न यूनियन के एलेक्शन में कभी सामने आता हो और जिसके कपड़े भी इतने हद से ज्यादा मामूली हों, कैसे इतनी पुरअसर तकरीर कर सका।

बहरसूरत आन्दोलन को चलाने के लिये दो लड़कियों समेत नौ व्यक्तियों की जो जंगी कमेटी बनी उसमें सत्य को भी रक्खा गया। और सत्य पूरे दिलोजान से अपने काम में जुट गया। कालेजों में, बाजारों में, सब जगह अपने आप ही हड़तालें हो रही थीं। बात सारी प्रदर्शनों के संगठन की थी।

सत्य पूरे जोश से काम कर रहा था। व्यक्तिगत सत्याग्रह के प्रति उसके मन में जो आक्रोश था उसे अब निकास मिल रहा था। उसने फ्रांस की राज्यक्रान्ति के बारे में इधर-उधर जो कुछ भी पढ़ा था और रूस के इंकलाब के बारे में 'सात दिन जिन्होंने दुनिया को हिला दिया' नाम की जो किताब पढ़ी थी, उनके सहारे उसने समझ लिया कि हिन्दुस्तान में भी इंकलाब की असली घड़ी आ पहुंची, अब बस इसी में मैदान मारने भर की देर है।

......और आखिरकार बीस तारीख को यानी ग्यारहवें रोज वह पकड़ गया।

रेल की पटरी के पास सन्देहजनक हालत में घूमते हुए पाये जाने के अभियोग में उसे नौ महीने की सजा हुई।

जेल में उसे अपने संग वीरेन्द्र नाम के एक कम्युनिस्ट को पाकर बड़ा अचंभा हुआ। उसकी समझ ही में नहीं आया कि आखिर किसी कम्युनिस्ट को यहां क्यों बन्द किया गया है, कम्युनिस्ट तो आन्दोलन

के खिलाफ हैं? वे तो वॉर-एफर्ट को मदद पहुंचाने का नारा उठाते हैं तब भला उनसे सरकार को क्या डर? युद्ध का विरोध करना तो दूर की बात वे तो खुल्लमखुला उसका साथ देते हैं। तब फिर उन्हें यहां बन्द करने में सरकार की क्या मसलहत है? उसके मन में एक हलकी-सी शंका यह भी जगी: कहीं यह तो नहीं है कि आन्दोलनकारियों का भेद लेने के लिये सरकार ने इस आदमी को ठीक हम लोगों के बीच बिठाल दिया हो!

सत्य बड़े अप्रिय ढंग से वीरेन्द्र से मिला, जैसे जान बूझकर उसे अपमानित करने के लिए, निगाहों में कुछ यह भाव लिये हुए: हां हां मैं तुम्हें खूब जानता हूं। मुझसे मत उड़ो, हम लोग उड़ती चिड़िया पहचानते हैं, तुम किस खेत की मूली हो। तुम्हारी असलियत मुझसे नहीं छिपी है। मैं तुम्हें जन्म-जन्मान्तर से पहचानता हूं, तुम वही हौवा को बरगलानेवाले सांप हो!...मिल्टन का पैरेडाइज लॉस्ट अभी सत्य को भूला नहीं था।

लेकिन सत्य का यह भाव ज्यादा दिन चल नहीं सका क्योंकि वीरेन्द्र ने इसके लिए रत्ती भर भी ईंधन नहीं जुगाया। उसका शान्त मीठा बर्ताव सत्य की सन्देहाग्नि पर ठंडे पानी का काम करता। वह कभी किसी बात पर नाक-भौं न चढ़ाता, अगर कोई लगने वाली बात भी कही जाती, तब भी वह हंसकर ही उसका जवाब देता, कुछ इतने निष्कलुष ढंग से कि उसपर सन्देह करने वाला शर्मा जाय, जैसे उसकी दृढ़ निर्निमेष दृष्टि कह रही हो: यह क्या छोटी छोटी बातें उठा लाये, यह कहां का कबाड़खानी बटोर लाये! इस तरह उसके मर्म का लक्ष्य साधकर छोड़े गये तीर भी जैसे उसके मर्म को आहत न करके पौराणिक कथाओं के समान उसे नमस्कार करके

वहीं उसके पैरों पर गिर जाते हों, पूजा के फूल की तरह। एक मुस्कराहट थी जो कभी उसके चेहरे से अलग न होती थी...

....और उसकी इस मुसकराहट, इस मीठे बर्ताव ने ही धीरे धीरे सत्य को उसके प्रति आश्वस्त कर दिया। उसी ने सत्य के मन में धीरे धीरे वीरेन्द्र के प्रति मैत्री का एक हलका सा भाव जगाना शुरू किया। अभी यह विचारों की मैत्री नहीं थी, संग संग रहने की, सहज मानवीय संबन्ध की मैत्री थी। लेकिन फिर भी वह आकर्षण की एक डोर थी जो सत्य को वीरेन्द्र की ओर खींच रही थी और सत्य वीरेन्द्र की उस अपराजेय, ढीठ मुसकराहट के आगे लगातार हारता और झुकता चला जा रहा था। सत्य को जैसे साफ सुनाई पड़ता कि वीरेन्द्र की वह मुसकराहट उसे चुनौती दे रही है: तुम मुझसे नफरत करते हो, करो, मगर कब तक? तुम मेरे पास आओगे आओगे आओगे.....

वीरेन्द्र के प्रति जो आकर्षण वह महसूस करता था उससे लड़ने की भी उसने कई बार कोशिश की, उसके संबन्ध में कई झूठी-सच्ची कल्पनायें करके सत्य ने उसे अपने मन में गिराना चाहा, एक विरोधी विचारधारा के साथ किसी तरह का समझौता करने के लिए उसने खुद अपनी काफी लानत-मलामत की, लेकिन उस सबका कुछ खास नतीजा नहीं निकला। वह अपने मन को बहुत समझाने की कोशिश करता कि वीरेन्द्र की मुसकराहट तो एक छलावा है, वह तो केवल बहिरंग है, बाहरी आवरण जिसमें यह सोने-चांदी की गोट लगी हुई है, पर उसकी असलियत, उसकी काली भयानक असलियत तो कुछ और ही है, उसकी ओर से मेरा बेखबर होना ठीक है क्या? लेकिन अपनी इन सारी उधेड़बुनों और जी तोड़ कोशिशों के बाद जब फिर उसकी बातचीत वीरेन्द्र से होती और वीरेन्द्र वैसी

ही सहज मिठास और निष्कपट मुसकराहट के साथ उससे बात करता तो सत्य के मन की सभी मेड़ें जो इतने जतन से उठायी जाती थीं, एक एक करके ढहने लगतीं क्योंकि सत्य का मन सचमुच इस बात को स्वीकार न कर पाता कि वीरेन्द्र की मुसकराहट दगाबाज मुसकराहट है। उसका मन इसकी हुँकारी न भरता और कोई जैसे उसके भीतर बैठा हुआ उससे कहता रहता : पागल हुए हो, दगाबाज आदमी के चेहरे पर, (वह लाख मँजा हुआ खिलाड़ी सही) क्या कभी ऐसी पानी की तरह साफ बिल्लौर मुसकराहट आ सकती है ? तुम्हें क्या इतनी भी तमीज़ नहीं है ? यह निष्पाप हँसी तो उसके दिल का दर्पन है, क्या इतना भी तुम्हें पता नहीं चलता...और फिर सत्य बिलकुल निरस्त्र हो जाता।

और बात सिर्फ मुसकराहट या मीठे बर्ताव की नहीं थी, वीरेन्द्र का सारा रहन-सहन सत्य को बहुत बाइज्जत ढंग का, गम्भीर और स्वाभिमानपूर्ण मालूम पड़ता, जैसा कि राजनीतिक कार्यकर्ताओं का होना चाहिये। सत्य को वीरेन्द्र के अन्दर जो चीज सबसे अच्छी लगती और उस पर असर करती वह थी जेल अधिकारियों के प्रति उसका कड़ा, अक्खड़ रुख और बिलकुल बेमुरौवत बर्ताव। वही वीरेन्द्र जो एकदम मिठास का पुतला था, जो अपने साथ के सियासी कैदियों, गैर-सियासी कैदियों, मशक्कतियों, नंबरदारों सबसे सदा मुस-कराकर बोलता था, सुपरिन्टेन्डेन्ट और जेलर के सामने बिलकुल दूसरा ही आदमी हो जाता, बर्फ की तरह सर्द, एकदम पत्थर, सजीव चुनौती। उस वक्त उसके चेहरे पर मुसकराहट की एक रेखा न होती। उसका हर अन्दाज उनसे यह कहता जान पड़ता : हम और तुम दो हैं, हमारे बीच कुछ भी समान नहीं है। तुम उसी हुकूमत के एक नमकहलाल कुत्ते हो जिसकी ईंट से ईंट बजा देने के लिये हम निकले हैं। हम कैदी हैं और तुम हमको कैद करने वाले, तुम हमारे दुश्मन हो

और हम तुम्हारे दुश्मन। हमारे बीच जंग का एलान है, हम तुम्हारे साथ दोस्ती का अभिनय नहीं करना चाहते। हम तुम्हारी इस दगाबाज, झूठी मुसकराहट का जवाब मुसकराहट से नहीं देंगे, हरगिज़ नहीं देंगे......

यह नहीं था कि सत्य के दूसरे सब साथी जेल अधिकारियों के सामने भीगी बिल्ली बन जाते हों। उनका भी रवैया, दो-चार लोगों को छोड़कर, काफी ठीक रहता था, लेकिन उनमें किसी में वह निर्भीकता और वह स्वाभिमान और आचरण का वह तीखा राजनीतिक मानदंड नहीं मिलता था जो वीरेन्द्र के बर्ताव में। यह सही है कि दूसरे लोग भी भीगी बिल्ली नहीं बन जाते थे, लेकिन वे अपने और जेल अधिकारियों में वैसा तीखा अलगाव भी नहीं करते थे, जो कि सत्य को लगा कि किया जाना चाहिए। सत्य सोचता कि शायद इसीलिए उनके बर्ताव में एक तरह की कमज़ोरी आ जाती थी जिसे किसी कदर खीस निपोरना भी कहा जा सकता है। कुछ इस तरह का भाव: यह कोई खाला जी का घर नहीं है। यह जेल है। यहां बाहर की तरह कुलाचें भरने की कोशिश मत करो। यहां तो ऐसे रहो कि सब खुशी खुशी बीत जाये, निबह जाये, पानी में रहकर मगर से बैर नहीं किया जाता!

यह चीज़ उनके बर्ताव में एक तरह का ओछापन ला देती थी जिसे कोई नाम देना कठिन है मगर जो सत्य को मन ही मन बहुत खलती थी और इसीलिए और भी खलती थी कि वह अपने अनजान में ही उसका मिलान कम्युनिस्ट वीरेन्द्र के आचरण से करता था। सत्य को अपने आन्दोलनकारी साथियों के दूसरे व्यवहारों में भी बहुत कुछ ऐसा ही ओछापन मिलता था और यह चीज़ उसे सोचने पर मजबूर करती थी। जब वह अपने साथियों को प्याज़ और आलू और मक्खन और डबलरोटी और लाइमजूस के लिये झगड़ते देखता और

जब वह उसका मिलान वीरेन्द्र से करता तो उसकी छाती पर एक घूंसा सा लगता। उसका मन कभी यह मानने को तैयार न होता कि एक कम्युनिस्ट, जो देश की आजादी की लड़ाई की पीठ में छुरा भोंकता है, उसका आचरण आजादी के इन मतवालों से श्रेष्ठ हो सकता है। लेकिन जब वह प्रायः हर रोज ही ऐसी बातों को देखता तो यह लाजमी बात थी कि सत्य वीरेन्द्र के प्रति अपने सारे द्वेष के बावजूद इन चीजों का जायजा ले और जब वह लेता तो उसका मन असंदिग्ध भाव से इस बात की गवाही देता कि वीरेन्द्र के आचरण में एक गाम्भीर्य है जिसकी हम लोगों में कमी है। अगर वह चीज हममें भी होती तो हम क्यों इन टुच्ची बातों के लिये सरफुटौअल करते? जेल क्या हम यही करने के लिये आये हैं? यह वीरेन्द्र क्यों कभी इन बातों का खयाल भी दिल में नहीं लाता? वह क्यों अपने हिस्से की चीज दूसरे को देने के लिए सदा इतना तत्पर रहता है?

फिर सत्य यह भी देखता कि जहां उसके दूसरे साथी बिलकुल अनुशासनहीन जिन्दगी बिताते—न उनके सोने का ठीक न उठने का ठीक, और न उन्हें पढ़ने-लिखने से कोई बहस—वहां वीरेन्द्र की जिन्दगी एक सरल से मगर कठोर अनुशासन में बंधी हुई थी। काफी सोचने विचारने और प्रयोग करने के बाद उसने अपने दिन का एक कार्य-क्रम निश्चित कर लिया था और अब उसी पर अमल करता था। जहां बारक के दूसरे लोग जिन्दगी से उकताये हुए से दिन भर इधर-उधर लुढ़कते फिरते, अपने बिस्तरों में पड़े हुए ऊंघते रहते या फिजूल की बकवास करके खुद भी थकते और दूसरों को भी थकाते, वहां वीरेन्द्र सही माने में एक सैनिक की सी जिन्दगी बसर करता। वीरेन्द्र को कभी किसी तरह की उकताहट महसूस न होती और उसका मन हर समय प्रसन्न रहता और उसका सांवला चेहरा आन्तरिक

प्रसन्नता के कारण सवेरे के वक्त के फूल की सी ताजगी लिये रहता। और न उसकी वह जादूभरी मुसकराहट कभी उसके चेहरे से अलग होती। पढ़ाई के लिये उसे समय भी खूब मिलता और वह प्रायः दिन भर और रात के बारह-एक और कभी कभी दो-तीन बजे तक भी अपनी मेज पर बैठकर मार्क्सवाद-लेनिनवाद की, इतिहास और विज्ञान की, साहित्य और मजदूर-आन्दोलन की मोटी मोटी पुस्तकें और पुस्तिकाएँ पढ़ता और उनके नोट लेता रहता। भारी किताबों के पढ़ने से जब उसे थकन महसूस होती तो वह बिस्तर पर लेटकर कोई कहानी या उपन्यास पढ़ने लग जाता। मगर जो कहानियां और उपन्यास वह पढ़ता था, वह भी वैसे नहीं होते थे जैसे कि सत्य के कुछ साथी पढ़ा करते—जासूसी उपन्यास या कालेज के लड़के-लड़कियों के रोमांस के हलके-फुलके उपन्यास। उपन्यास का मतलब वे लोग यही समझते थे। इसके बर-अक्स जो कहानियां और उपन्यास वीरेन्द्र पढ़ता था उनका संबन्ध समाज के जीते-जागते लोगों से, उनकी जिन्दगी के गहरे मसलों से होता था। नये सोवियत उपन्यासकारों में उसे शोलोखोव और इलिया एरेनबुर्ग की चीजें सबसे ज्यादा पसन्द थीं और उनमें भी एरेनबुर्ग की कलम पर तो वह जान देता था। उसके बारे में वह कहता था कि विश्व साहित्य के इतिहास में ऐसा दूसरा लेखक मुश्किल से मिलेगा जिसकी कलम में ऐसा लोहा हो, यह आग हो, जिसने अपने मुल्क की आजादी के लुटेरों के खिलाफ इतनी नफरत जगायी हो, जिसने अपनी कलम का इस्तेमाल इतनी कामयाबी के साथ एक तलवार की तरह किया हो, एक बंदूक की तरह, एक मशीनगन की तरह। उन्हीं दिनों एरेनबुर्ग का उपन्यास 'पेरिस का पतन' और लड़ाई के स्केचों रिपोर्ताजों का एक संग्रह, जिसमें हिटलर, गोरिंग वगैरह के स्केच भी थे, ताजा ताजा आया था। वीरेन्द्र उसे खुद तो बहुत चाव से पढ़ता ही था, दूसरों को उसे

पढ़कर सुनाने में भी बड़ा आनन्द आता था। सत्य को उसने कई स्केच पढ़कर सुनाये थे, और सत्य वीरेन्द्र के साथ हँसा था, वीरेन्द्र की ही तरह उसकी रगों में भी हिटलर की तरफ जबरदस्त नफरत जहर की तरह दौड़ी थी। उसने एरेनबुर्ग की चीजों को प्रोपागन्डा कहकर टालने की कोशिश की थी क्योंकि हिटलर के प्रति उसके मन में मैत्री का भाव था, लेकिन एरेनबुर्ग की कलम का जादू था कि उसके भी सर पर चढ़कर बोल रहा था। पढ़ते वक्त तो वह उसके रौ में बह जाता ही था, बाद में भी वह गंभीरता से उस पर गौर करने के लिये मजबूर होता था, यह पता लगाने के लिये कि अगर कहीं किसी दिल में लपलपाती अग्निशिखा की तरह स्वच्छ और निर्धूम घृणा है तो वह आयी कहां से ?....और जब वह इस सवाल में गहराई से डूबने की कोशिश करता तब उसे सचमुच अपने दिल की कुछ रगें टूटती महसूस होतीं, आंखों पर पड़े हुए पर्दों की एकाध परत गिरती महसूस होती।

पुराने कथाकारों में वीरेन्द्र को गोर्की और चेखोव की कृतियां सबसे ज्यादा अच्छी लगती थीं। उसका पक्का विश्वास था कि गोर्की की 'मां' से अच्छा उपन्यास आज तक नहीं लिखा गया। रोमें रोलां का 'मैं दम न लूंगा' (आइ विल नॉट रेस्ट) उसने छः बार पढ़ा था। टाल्स-टाय उसे बहुत पसन्द नहीं था। प्रेमकथाओं के लेखक के रूप में वह तुर्गनेव को बहुत पसन्द करता था। रोलां की 'क्रिस्तोफ' उसकी बड़ी प्रिय किताब थी। भारतीय कथाकारों में एक अकेले प्रेमचन्द को पढ़कर उसे सन्तोष मिलता था। किसी जमाने में उसे शरत् से बहुत इश्क था, लेकिन एक अर्सा हुआ जबसे उसने शरत् को पढ़ना एक तरह से छोड़-सा दिया। अगर कभी कोई उससे इसके बारे में पूछता तो वह कुछ खिसियाकर कहता : बहुत सेंटिमेंटल है,

उसके संग मेरा निबहना मुश्किल है ! रवीन्द्रनाथ के उपन्यास उसने दो-तीन पढ़े थे, काफी अच्छे भी लगे लेकिन उनमें चिन्तन ज्यादा और ऐक्शन कम था। वीरेन्द्र के पास मार्क्स-एंगेल्स-लेनिन-स्तालिन की बहुत सी किताबें थीं जिन्हें वह रोज़ बड़े ध्यान से पढ़ता। वही तो उसका मुख्य आहार था।

सत्य को स्वयं पढ़ने का बड़ा व्यसन था, वीरेन्द्र में भी यही व्यसन पाकर वह अनायास ही उसकी ओर खिंचा। उसका अनुशासित जीवन और नियमित अध्ययन आदि ऐसी चीजें थीं जिन्होंने बरबस सत्य के मन में वीरेन्द्र के प्रति आदर का भाव जगाया। सत्य स्वयं गरीबी में रहकर पढ़ा था, इसलिये पढ़ाई की कीमत को भी समझता था और उसे हासिल करने के लिए जिन्दगी को जिस अनुशासन की डोर में बांधना पड़ता है, उसे भी समझता था।

इन्हीं सब कारणों से सत्य, बावजूद इसके कि शुरू में कम्युनिस्टों के खिलाफ उसके दिल में बड़ा बुग्ज़ था, वीरेन्द्र की तरफ खिंचा, उसी तरह खिंचा, बिलकुल उसी तरह, जिस तरह रस्साकशी में कमजोर आदमी मजबूत आदमी की तरफ खिंचता चला जाता है, बार बार ज़मीन में पैर गड़ाकर अड़ने की कोशिश के बावजूद खिंचता चला जाता है।

मगर सत्य का वीरेन्द्र की तरफ खिंचना सिर्फ एक कमजोर आदमी का दूसरे मजबूत आदमी की तरफ खिंचना नहीं था, बल्कि एक कमजोर विचारधारा का मजबूत विचारधारा की तरफ खिंचना भी था। लेकिन जो अहमियत खेत में बीज डालने के पहले तमाम झाड़-झंखाड़ साफ करने की होती है और ज़मीन को ठीक करने की, उसे गोड़ने की, उसमें हल चलाने की होती है, वही अहमियत सत्य के लिये वीरेन्द्र के दैनिक आचरण की थी। उसने धीरे धीरे सत्य के

मन के उन तमाम झाड़-झंखाड़ों और कंकड़-पत्थरों को साफ कर डाला जिन्हें लेकर वह जेल के अन्दर दाखिल हुआ था, और उसके मन की धरती को इसके लिये तैयार किया कि उसमें नया बीज पड़े।

शुरू शुरू के दिनों की बात है। एक रोज सत्य ने वीरेन्द्र को छेड़ने की गरज से कहा—मेरी समझ में नहीं आता सरकार ने आपको यहां पर क्यों बन्द कर रक्खा है?

वीरेन्द्र ने कहा—यह तो सरकार से पूछिये।

सत्य—सरकार से क्यों, आप ही बतलाइये न। मुमकिन है आपके पास इस राज़ की कुंजी हो।.....

वीरेन्द्र ने मुसकराकर जवाब दिया—छिपाते क्यों हैं, लगता है खुद आपके पास अगर इस राज़ की नहीं तो दूसरे किसी राज़ की कोई कुंजी ज़रूर है। वही पेश कीजिए न, मुमकिन है उसी से यह राज़ भी खुल जाय...

सत्य ने भांप लिया कि सामने यह कोई हलका चारा नहीं है। उसने अपने स्वर में कुछ आवेश भरकर कहा—आप तो आन्दोलन के खिलाफ हैं?

वीरेन्द्र ने बड़ी सादगी से कहा—हां।

सत्य ने समझा उसने बड़ा पाला मार लिया, मुजरिम अपना जुर्म इकबाल कर रहा है। उसने और भी आवेश में कहा—आप इस बात से भी इनकार नहीं कर सकते कि आपकी पार्टी अंग्रेजों से मिल गयी है?

वीरेन्द्र ने अपने स्वर को जरा भी न चढ़ाते हुए, वैसे ही मद्धिम ढंग से कहा—नहीं मैं इस बात से इनकार करता हूं।

सत्य इस जवाब से बड़ा अप्रतिभ हुआ, पर अपने आपको संभालता हुआ बोला—आप इस बात से इनकार करते हैं?

वीरेन्द्र ने वैसे ही शान्त और दृढ़ स्वर में कहा—हां।

सत्य—तब फिर आपने आन्दोलन का साथ क्यों नहीं दिया ?

वीरेन्द्र—इसलिये कि यह आन्दोलन सामूहिक आत्महत्या की योजना से ज्यादा कुछ नहीं।

वीरेन्द्र का जवाब हथौड़े की चोट की तरह सत्य पर पड़ा। काफी अप्रत्याशित जवाब था। सत्य थोड़ी देर को सकते में आ गया, ऐसे जवाब की उसने कल्पना भी नहीं की थी। यकायक उससे कोई जवाब नहीं बन पड़ा।

सत्य को खामोश देखकर वीरेन्द्र ने मुसकराते हुए कहा—मगर वह अलग एक बहस है सत्यबाबू, जिसमें मतभेद की गुंजाइश है। कोई जरूरी नहीं कि दो व्यक्ति या दो राजनीतिक दल परिस्थिति का मूल्यांकन एक ढंग से करें। आप पूरी ईमानदारी के साथ कह सकते हैं कि परिस्थिति का आपने जो मूल्यांकन किया वही सही था और हमने जो मूल्यांकन किया वह एक सिरे से गलत था।

वीरेन्द्र की इस बात से सत्य को थोड़ा करार आया। तभी वीरेन्द्र ने अपनी बात को जारी रखते हुए कहा—मगर वह अलग एक बहस है सत्य बाबू, लेकिन इस बात को तो आप भी मानेंगे कि किसी पार्टी को यह कहना कि वह मुल्क के दुश्मनों से मिल गयी है, बहुत बड़ी जिम्मेदारी का काम है ? इसलिए मैं आपसे पूछता हूं और आप सीने पर हाथ रखकर बिला झिझक मुझे बतलाइये कि आपके कितने साथियों को कम्युनिस्टों ने पुलिस के हवाले किया है ?

वीरेन्द्र ने यह एक पेचीदा सवाल किया था, सत्य से कोई जवाब बन नहीं पड़ा। झूठ वह बोलना नहीं चाहता था और सच बात यह थी कि वैसी कोई चीज सत्य की जानकारी में नहीं

हुई थी। इसके बरखिलाफ आन्दोलनकारी लड़कों को छिपाने में कम्युनिस्ट लड़कों ने यहां-वहां मदद ही की थी। सत्य ने अपने मन में कहा—कम्युनिस्टों ने बेशक आन्दोलन का विरोध करके बहुत गन्दा काम किया मगर मैं यह कैसे कह दूं..वैसे वह चाहते तो लोगों को पकड़वा सकते ही थे क्योंकि उन्हें गुप्त आन्दोलन की कई भीतरी बातें मालूम थीं....अरे मालूम हो ही जाती हैं, लड़कों के बीच वह आन्दोलन ऐसा बहुत गुप्त था भी कहां। लेकिन भाई, मैं तो नहीं जानता कि उन्होंने पुलिस को कुछ भी बतलाया हो।

वीरेन्द्र ने सीधे हमला करके उसकी नफरत की पहली दीवार तोड़ दी थी। आत्मरक्षा के लिये उसने मन ही मन दूसरी दीवार खड़ी की : लेकिन क्या किसी को पकड़वाना ही सब कुछ है। हो सकता है यहां पर उन्होंने यह काम न किया हो, लेकिन इसका यह मतलब थोड़े ही है कि उन्होंने कहीं भी ऐसा काम नहीं किया। बलिया में.. बिहार में...सुनते हैं।....और अगर थोड़ी देर को यह मान भी लें कि उन्होंने किसी को पकड़वाया नहीं तो क्या इतने ही से उनके सारे पाप धुल गये ?

उसने कहा—मेरी जानकारी में तो ऐसी कोई बात नहीं हुई है। दूसरी जगहों का हाल मुझे मालूम नहीं....मगर सवाल उस चीज का नहीं है....

वीरेन्द्र ने सत्य की बात काटते हुए बड़ी गम्भीरता से कहा—माफ कीजिएगा सत्यबाबू, असल सवाल उसी चीज का है। दूसरी तमाम बातें बहस से तय हो जायेंगी लेकिन यह एक चीज कभी बहस से नहीं तय हो सकेगी कि मैंने अपने आप को अंग्रेजों के हाथ बेंचा है या नहीं। वैसे ही जैसे मैं अगर यह सवाल आपसे पूछूं कि इस महीने जापानियों ने के हजार रुपए आपको भेजे तो...तो फिर हमारे

बीच बातचीत की कोई ज़मीन ही नहीं रह जायगी। इसीलिए मैं यह समझता हूं कि यह एक-दूसरे को गाली फेंककर मारना हमें सच्चाई के पास पहुंचने में ज़रा भी मदद नहीं पहुंचा सकेगा, उल्टे रुकावटें पैदा करेगा। मेरी बात का बुरा मत मानिएगा सत्यबाबू, किसी को गाली देने से आसान काम दुनिया में दूसरा नहीं है। आपके यह कहने से कि मैं अंग्रेज़ों का दलाल हूं, मैं अंग्रेज़ों का दलाल नहीं हो जाऊंगा। मगर आपकी जिन्दगी की राह जरूर इस गलीज झूठ के अंधेरे जंगल में खो जायेगी :::..

यह कहते कहते वीरेन्द्र के स्वर में थोड़ा आवेश आ गया था। लेकिन लगभग दूसरे ही क्षण उसने अपनी उस प्यारी मुसकराहट से फिज़ा के तनाव को तोड़ते हुए कहा—लीजिए, सिगरेट पीजिए, सारी बात आज ही खत्म हो जायेगी तो दिन कैसे कटेंगे... सरकार ने जब आप लोगों का भेद लेने के लिए मुझे यहां डाल ही दिया है, तो फिर दिन तो काटने ही पड़ेंगे, चाहे रो कर काटूं चाहे हंसकर !

वीरेन्द्र की इस बात से सत्य बहुत कटा। यह व्यंग किस पर है, यह समझने में उसे देर नहीं लगी, लेकिन तत्काल कोई माकूल जवाब नहीं सूझा। उसने सिगरेट सुलगा ली और कुछ सोचता हुआ उसे पीने लगा। वीरेन्द्र ने जिस तरह बिना झिझके या बगलें झांके, साफ और जोरदार शब्दों में अपनी बातें कही थीं, उससे सत्य हिल उठा।

उस दिन के बाद फिर सत्य और वीरेन्द्र में जो बातें हुईं उनमें सचमुच विचारों का लेनदेन हुआ क्योंकि अब उनके दम्यान वह सन्देहों का भूत नहीं था। उन से एक बार छुटकारा हो जाने पर जब सत्य ने वीरेन्द्र की बातों पर गौर किया तो उसे उनमें कुछ सार मालूम हुआ। जैसे, वीरेन्द्र से बात होने के पहले उसके ध्यान में ही यह बात नहीं आयी थी कि एक दुश्मन का मुकाबला करते समय देश की आज़ादी

चाहने वालों की एक तरह की रणनीति होगी, एक तरह का दाँव-पेंच होगा और जब एक ही वक्त एक के बदले दो दुश्मनों का मुकाबला करना हो तब दूसरे तरह की रणनीति और दूसरे तरह का दांव-पेंच होगा। दोनों में अन्तर तो होगा ही। अब यह एक अलग सवाल है कि वह अन्तर क्या हो। लेकिन इतनी बात तो पक्की है कि एक ही समय दो दुश्मनों का मुकाबला करने की रणनीति वह नहीं हो सकती जो एक दुश्मन का मुकाबला करने की होती है। मगर इस चीज पर सत्य का ध्यान इसके पहले नहीं गया था। यों यह मृगछलना सत्य के मन में कभी नहीं थी कि जापानी हिन्दुस्तान को आजाद करने आ रहे हैं। इसके संबन्ध में बाल बराबर भी सन्देह सत्य के मन में नहीं था कि जापानी भी साम्राज्यवादी हैं और हमें गुलाम बनाना चाहते हैं, यों बातें चाहे वह कितनी ही मीठी मीठी क्यों न करें। तो इस तरह की कोई मृगछलना उसके मन में नहीं थी। हां, यह मृगछलना उसके मन में जरूर थी कि अंग्रेजों और जापानियों की आपसी टक्कर का फायदा इसी वक्त आन्दोलन छेड़कर उठाया जा सकता है। सत्य की इतनी बात से तो वीरेन्द्र भी सहमत था कि अंग्रेजों और जापानियों की आपसी टक्कर का फायदा उठाया जा सकता है और उठाया जाना चाहिए, मगर कैसे? यह सवाल उठते ही सत्य और वीरेन्द्र के दो रास्ते हो जाते थे। वीरेन्द्र का कहना था कि अंग्रेजों और जापानियों की आपसी टक्कर का फायदा उठाते हुए दोनों से लड़ने का सबसे अच्छा तरीका होता देश रक्षा के लिये देशवासियों का आवाहन करना और देश रक्षा के ही लिए, देश रक्षा के ही नाम पर जनता के विशाल संगठन तैयार करना। चूंकि यह सारा काम देश रक्षा के उद्देश्य को सामने रख कर होता इसलिए गोरे शासक कुछ चीं चपड़ भी न कर सकते और जनता के ऐसे शक्तिशाली संगठन तैयार हो जाते जो जापानियों का मुकाबला तो करते ही साथ ही

वक्त आने पर इनसे भी समझते। दूसरे जब ये संगठन अधिक से अधिक शक्ति अपने हाथ में लेने के लिए निरन्तर लड़ते तो इस खास परिस्थिति में कौन इन जन संगठनों में शक्ति केन्द्रित होने से रोक सकता? लिहाजा हम समझते हैं कि क्रिप्स प्रस्ताव को मान लेना चाहिए था, आखिरी मंजिल की शकल में नहीं रास्ते के एक पड़ाव की शकल में, अंग्रेजों के खिलाफ अपनी लड़ाई की एक जरूरी चौकी की शकल में।

सत्य को यह चीज़ सिर के पीछे से हाथ ले जाकर नाक पकड़ने जैसी मालूम होती थी। उसका खयाल था कि अपने लक्ष्य की सिद्धि का सही-सच्चा रास्ता आन्दोलन ही है जो कि छिड़ा हुआ है। इसके बारे में बात करते हुए वीरेन्द्र ने अन्तरराष्ट्रीय पैमाने पर जनता की ताकतों और साम्राज्यवादी ताकतों की मोर्चेबन्दी की एक साफ तसवीर सत्य के सामने लाकर यह दिखलाने की कोशिश की कि उस खास परिस्थिति में ऐसा कोई आन्दोलन छेड़ना जो देश की सुरक्षा को खतरे में डालता हो न सिर्फ जापानियों के खिलाफ हमें निरस्त्र कर देता है बल्कि इन गोरे शासकों के खिलाफ भी निरस्त्र कर देता है, इस मतलब में कि इस तरह का आन्दोलन छेड़कर हम अपने आपको जनता के अन्तरराष्ट्रीय फासिस्त-विरोधी मोर्चे से काटकर अलग कर देते हैं और गोरे शासकों को इस बात का मौका देते हैं कि वे देश की हिफाजत के नाम पर हमारे ऊपर हमला कर सकें, हमारी राष्ट्रीय शक्तियों को छिन्न भिन्न कर सकें। तो फिर, आप ही बतलाइये, ऐसा आन्दोलन सामूहिक आत्मघात नहीं तो और क्या है? अंग्रेजों का काम तो आप खुद ही हलका किये दे रहे हैं क्योंकि वह तो पहले ही से यह चाहते हैं कि अपने साम्राज्यवादी ढंग से, यानी देश को गुलामी की जंजीर में जकड़ा रखकर जापानियों का मुकाबला किया जाय,

इसका नतीजा फिर जो हो, चाहे फिर हिन्दुस्तान में भी मलय और बर्मा के पतन की कहानी दुहरानी ही क्यों न पड़े !

वीरेन्द्र की यह बात सत्य की समझ में कुछ कुछ जरूर आती थी क्योंकि मलय और बर्मा में जापानियों की जीत प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में मौजूद थी। वीरेन्द्र की बात की रोशनी में जब वह हिन्दुस्तान को देखता था तो उसे मलय और बर्मा ही की तरह हिन्दुस्तान की हालत उस आदमी की सी मालूम होती थी जिसके लिए दो रीछ आपस में लड़ रहे हों और जिनके दोनों के दांत उस आदमी को फाड़े डाल रहे हों। जब वीरेन्द्र ने सत्य से पूछा कि क्या वह मुल्क जो खुद दांव पर लगा हुआ है कह सकता है कि उसे इस बात से बहस नहीं कि कौन से दो लोग उसकी किस्मत का फैसला करने के लिये आपस में लड़ रहे हैं ? क्या यह इन्तहाई दर्जे की गुलाम मनोवृत्ति नहीं होगी ? क्या कोई भी स्वाभिमानी देश इस स्थिति को कबूल कर सकता है ? क्या ऐसी स्थिति में हमें यही जेब देता है कि हम ईंट-पत्थर या खटमल-पिस्सू की तरह जड़ पड़े रहें और अपनी किस्मत की बागडोर अपने हाथ में लेने के लिये कुछ न करें ?

तब इसके जवाब में सत्य ने कहा था—इसीलिये तो हमने आगे बढ़कर दुश्मन की चौकी पर धावा किया और अपने मुल्क का साथ नहीं दिया ...

वीरेन्द्र ने मुसकराकर कहा—मगर भाई, यही तो हमें देखना है कि इस चीज़ का कोई नतीजा निकलना मुमकिन भी था या नहीं।

सत्य ने कहा—यह कोशिश किये बगैर कैसे जाना जा सकता है ?

वीरेन्द्र ने कहा—तब तो यह अंधेरे में तीर चलाने जैसी बात हो गयी, लग गया तो तीर नहीं तो तुक्का ! मैं तो समझता हूं कि सभी चीजों की तरह आज़ादी की लड़ाई का भी एक विज्ञान होता है, उसका काम कोरी भावना या आवेश से नहीं चला करता। मेरी समझ

में तो हमारी लड़ाई सफल ही नहीं हो सकती जब तक हमारे सामने उसकी पूरी तसवीर या कम से कम एक मोटा सा खाका न हो।

फिर कुछ क्षणों की शान्ति के बाद वीरेन्द्र ने मुसकराकर कहा—लड़ाई बड़ी ज़ालिम चीज़ है सत्यबाबू, बहुत बार उसमें अपने मन को मारना पड़ता है। दिल कहता है: छोड़ो अपनी यह सब बकवास, कूद भी पड़ो। जनता के अन्दर जोश लहरें मार रहा है। ...मगर फिर दूसरे ही क्षण दिमाग इस तरह हवा के साथ बह जाने से रोकता है और कहता है—हवा का रुख मोड़ो, क्योंकि हवा का यह जो रुख है उससे अपना ही घोंसला उजड़ जायगा।

इस पर सत्य ने व्यंग के हलके से आभास के साथ कहा था—हवा का रुख मोड़ना आसान काम नहीं है वीरेन्द्र बाबू...

वीरेन्द्र ने कहा था—मुझे मालूम है....फिर कुछ देर की खामोशी के बाद गम्भीर चिन्ता की मुद्रा को झकझोर कर अपने से अलग करते हुए वीरेन्द्र ने कहा—मगर यह क्या, हम लोगों का खेल का वक्त निकला जा रहा है और हम लोग यह सिद्धान्त-चर्चा लेकर बैठे हैं! जल्दी चलिये, दो गेम खेल लिया जाय, पेट का पानी भी तो हिले, चलिये उधर वाला नेट एकदम खाली है, सारी भीड़ इधर वाले नेट पर है..ओ...इधर मैच ठना हुआ है कपूर और दीक्षित में इसलिये तमाशाइयों की यह भीड़ है.....

वीरेन्द्र के साथ सत्य की जो बहसें होती थीं, उनमें दोनों के बीच अब सन्देहों की छाया नहीं थी, इसलिये बात करने में भी आसानी होती थी और बात समझने में भी। वीरेन्द्र की बातें सत्य को कम्युनिस्ट नहीं बना पाईं, क्योंकि किसी के विचार इतनी आसानी से नहीं बदला करते। वे तो तभी बदलते हैं जब आदमी खुद अपने अनुभव और ज्ञान के सहारे किसी पेचीदा गुत्थी को सुलझाने की

सरतोड़ कोशिश कर रहा हो मगर सुलझा न पाता हो और ऐसे ही समय में उसे नई रोशनी मिल जाय। वीरेन्द्र की बातों ने सत्य के साथ इतना जरूर किया कि उसके मन से उन सन्देहों को दूर कर दिया जो उसके मन में कम्युनिस्टों के खिलाफ पल रहे थे और जिस तरह ऊपर की काई छूट जाने पर भीतर से चमकता हुआ कुन्दन निकल आता है उसी तरह अब उसके अन्दर यह आकांक्षा जगी कि कम्युनिस्टों का साहित्य पढ़े। सत्य प्रकृति से अध्ययनशील था ही। हो। इसीलिए जब उसके दूसरे साथी बैठ कर गप्प मारते या ताश या कैरम खेलते या यों ही पड़े सोया करते या कालेज की किन्हीं मालती खन्ना या उर्वशी सप्रू या मेनका त्रिवेदी का जिक्र निकालते, तब सत्य कुछ लिये बैठा पढ़ता होता।

वीरेन्द्र की जिस किताब ने सबसे पहले और सबसे ज्यादा सत्य के दिमाग को झंझोड़ सा दिया, वह थी रजनी पामदत्त की लिखी हुई एक छोटी सी पुस्तिका, अंग्रेजी में, नाम था 'राष्ट्रीय आन्दोलन का संक्षिप्त इतिहास'। इस जरा सी पुस्तिका ने उसे बिलकुल हिलाकर रख दिया। असल बात यह थी कि सत्य परम गांधी-भक्त था—यहां तक कि सादगी और आत्मनिर्भरता के खयाल से एक समय युनिवर्सिटी में भी वह चमरौधा जूता पहनता था, खुद अपना कपड़ा धोता था, चर्खा चलाता था—और उस पुस्तिका ने लिखित प्रमाणों के आधार पर यह साबित किया था कि गांधी जी ने जिस समय सन् २१ में चौरी चौरा के नाम पर और सन् ३२ में शोलापुर काण्ड के नाम पर आन्दोलन को एकदम से रोक दिया था, उस समय आन्दोलन एक नये शिखर पर चढ़ रहा था और किसान जनता अपने तमाम हथियारों समेत, पूरे जोश और हिम्मत के साथ लाखों की तादाद में किसान क्रान्ति के लिये आगे आ रही थी। उस समय के वाइसराय लार्ड रेडिंग के

खतों के उद्धरण देकर, जो कि उसने घर अपने मित्रों और परिवार को लिखे थे, लेखक ने यह दिखाया था कि उस समय आन्दोलन के वेग और प्रसार को देखकर बृटिश शासक वर्ग की नाड़ी छूटने लगी थी और चतुर राजनीतिज्ञों के समान उन्हें यह चीज़ साफ दिखाई देने लगी थी कि बोरिया-बकचा उठाकर घर चलने का का वक्त आ गया।

शोलापुर काण्ड के समय तो गोरे शासकों की दृष्टि से स्थिति और भी भयावह हो गयी थी क्योंकि जनता ने क्रान्तिकारी ढंग से शहरों पर कब्जा करना शुरू कर दिया था। यह राष्ट्रीय आन्दोलन का नया क्रान्तिकारी शिखर था।

ऐसे समय पर दोनों बार गांधी जी ने यह कहकर आन्दोलन को वापस ले लिया कि हिंसा हो गयी। और हिंसा अराजकता का द्वार खोल देती है! लेकिन, पामदत्त ने दिखलाया था कि खुद शोलापुर 'काण्ड' इस 'सिद्धान्त' को झूठ साबित करता है क्योंकि तीन दिन तक वह शहर क्रान्तिकारी जनता के कब्जे में रहा मगर सरकारी इमारतों तक की एक कुर्सी या खिड़की का एक शीशा भी नहीं टूटा और शहर का सारा काम बहुत सुचारु रूप से चलता रहा। इसका मतलब यह हुआ कि क्रान्तिकारी हिंसा अराजकता का नहीं, उन्नततर व्यवस्था का द्वार खोलती है।

इस ज्ञान ने सत्य के मन पर नश्तर के घाव का काम किया। और जैसे नश्तर के घाव में पहली अनुभूति पीड़ा की होती है, नश्तर का गुण तो बाद को ही पता चलता है, वैसे ही इस प्रामाणिक सत्य की जानकारी से पहली अनुभूति जो सत्यवान को हुई वह गहरी पीड़ा की थी। उसकी बरसों की पोसी हुई श्रद्धा पर पामदत्त ने बड़ी बेदर्दी से चाकू चला दिया था। उसके मन ने गांधीजी को आज़ादी की लड़ाई के एक अनोखे सेनापति के रूप में स्वीकार किया था। अब उसे मजबूर

होकर मानना पड़ रहा था कि उसके इस सेनापति का सबसे बड़ा अनोखापन शायद यही था कि वह देश की इस जिन्दगी और मौत की लड़ाई को इंकलाबी शकल नहीं अख्तियार करने देना चाहता था और (मानो चाहे न मानो !) जिह क्षण वह चीज़ यह शक्ल अख्तियार करने लगती उसी क्षण यह सेनापति स्वयं अपने सैनिकों की वीरता और क्रान्तिपरता से डरकर लड़ाई को रोक देता और लड़ने वालों की संगठित शक्ति को बिखेर कर दुश्मन से संधि की बातें करने लगता ! लड़ाई का सचमुच यह एक अनोखा कायदा था—जीतते हुए सेनापति का हारते हुए दुश्मन के आगे आत्मसमर्पण ! पहले तो यह चीज सत्य की समझ ही में नहीं आयी, अजीब अटपटी सी बात थी। एक बार उसके श्रद्धालु मन ने इसे गांधी जी के दुश्मनों का द्वेषपूर्ण प्रचार कहकर भी टालने की कोशिश की, पर बात कुछ बनी नहीं—लार्ड रेडिंग के उन खतों को वह कैसे छू मन्तर कर देता जो चिल्ला चिल्ला कर एक दूसरी ही कहानी कह रहे थे, आन्दोलन के बढ़ते हुए वेग की कहानी और उस बढ़ते हुए वेग को देखकर गोरे शासक वर्ग के डर की कहानी। इतिहास की उंगली का इशारा बहुत साफ था : वह जनता के साथ, आजादी के जन आन्दोलन के साथ विश्वासघात था, हां विश्वासघात, चौंकते क्या हो, इसके लिये कोई दूसरा शब्द कोष में हो तो बताओ।... लेकिन वह उसके देवता पर एक इतना बड़ा अभियोग था कि उसका मन उसे सहसा स्वीकार नहीं कर पाता था और यहां-वहां, कोने-अँतरों में, अपने लिये आश्रय खोजता था। मगर कहीं आश्रय नहीं था—लार्ड रेडिंग के उन मनहूस खतों ने बचत के सभी रास्ते बन्द कर दिये थे !

वह अपने मन में तर्क करता : अगर उस समय आन्दोलन का वेग और प्रसार बराबर बढ़ रहा था, जैसा कि इन खतों से बिलकुल साफ है, तो ऐसे समय आन्दोलन को आगे न बढ़ने देना, उसे पीछे को

खींचना, उसपर रोक लगाना या उसे वापस ले लेना विश्वासघात के अलावा और कुछ नहीं कहा जा सकता...

जिस रात उसने यह चीज़ पढ़ी उसे रात भर नींद नहीं आयी; सब अपनी लालटेनें बुझाकर सो रहे थे अपने अपने ठूले पर, एक अकेला वह रोशनी को मद्धिम करके चित लेटा शून्य में ताक रहा था। उस रात के बाद भी तीन चार रोज़ तक वह किसी गहरे सोच में डूबा, मुंह लटकाये घूमता रहा : उसकी पुरानी श्रद्धा और इस नये कठोर ज्ञान में महाभारत चल रहा था। आखिरकार श्रद्धा की हार हुई। उसे यह हार अपनी हार मालूम हुई और दुःख भी उतना ही हुआ। मगर हार हार थी और उससे बचने का कोई रास्ता नहीं था।

अपने इस नये ज्ञान की सूली पर चढ़ने के पहले, बहुत पहले, भी सत्य की समझ में यह नहीं आती था कि एक जगह किसी छोटे से गांव में किसानों के हाथ से एक मरदूद पुलिस कांस्टेबुल के मारे जाने की वजह से सारे देश का आन्दोलन क्यों वापस ले लिया जाय। अहिंसा की रक्षा? फिजूल की बकवास। अहिंसा हमारा साधन है या साध्य? अगर साधन हो तब तो ठीक है, हमें उसके प्रयोक्ता में दिलचस्पी हो सकती है, अगर गांधी जी की बदौलत दुनिया को यह एक नयी चीज़ मिलनी है तो जरूर मिले। लेकिन अहिंसा ही अगर हमारा साध्य हो तो फिर उसमें प्रयोक्ता के अलावा और किसी को भला क्या दिलचस्पी हो सकती है? अच्छा हो अगर गांधी जी जंगल में जाकर शेरों और भालुओं पर उसका प्रयोग करें। देश की जनता को तो अहिंसा में तभी तक दिलचस्पी हो सकती है जब तक कि वह आजादी हासिल करने का एक हथियार है। ऐसी सूरत में अगर किसानों ने किसी जगह पर गुस्से में आकर पुलिस के किसी कांस्टेबुल को मार भी डाला तो क्या इतनी सी बात पर देश का आगे बढ़ा हुआ कदम पीछे हटा लेना ठीक है? आखिर वह कांस्टे-

बुल था क्या? वह कांस्टेबुल था उस गोरे राज का प्रतीक जिसने लोगों का जीना हराम कर दिया है और जिसके खिलाफ ही जंग छिड़ी हुई है। वह कांस्टेबुल था किसानों से बेगार लेने वाला, उन्हें हवालात में बन्द करके मुर्गा बनाने वाला, डंडों और जूतों से उनकी चमड़ी उधेड़ने वाला, उनके खिलाफ चोरी डकैती कत्ल और लड़की भगाने के झूठे मुकदमे चला कर उन्हें साल दो साल से ले कर डामुल तक की कैद कराने वाला, उन्हें अपने पंजे में लेकर उनसे मन-माना रूपया ऐंठने वाला। ऐसे कांस्टेबुल को अगर हमेशा के दबे-पिसे किसानों ने गुस्से में और अपनी लड़ाई के जोश में मार भी डाला तो क्या इतनी सी बात पर उस लड़ाई को ठप किया जा सकता है जिसकी कामयाबी पर करोड़ों आदमियों की जिन्दगी की खुशी और बेहतरी निर्भर है? नहीं, एक बार नहीं, हजार बार नहीं। कोई कितना ही बड़ा क्यों न हो, किसी को यह हक़ नहीं पहुंचता, आजादी की जंग कोई बच्चों का खिलवाड़ नहीं है। तुम शायद यह कहोगे कि साध्य अगर पवित्र है, सच्चा है, अच्छा है, हासिल करने के काबिल है तो उसका साधन भी पवित्र होना चाहिए। मगर साधन की पवित्रता का तुम्हारा मानदंड क्या है? मेरे नजदीक आजादी हासिल करने का हर साधन पवित्र है। मेरे नजदीक कोई भी साधन अपवित्र नहीं है जो हमें अपने लक्ष्यविन्दु तक पहुंचने में मदद करता है। मेरे नजदीक वह अहिंसा ही अपवित्र है जो करोड़ों मर्दों और औरतों, स्त्रियों और बच्चों और बूढ़ों की बेहतर जिन्दगी के लिये ठाने गये इस संग्राम के साथ दगा करती है, मेरे नजदीक उसका कौड़ी बराबर मोल नहीं है, ऐसी अहिंसा आप अपने घर रखिये और शहद लगाकर चाटिये, मुल्क को उसकी कतई जरूरत नहीं है। मानता हूं हिंसा अच्छी चीज नहीं है लेकिन जब तक दुनिया में डाकुओं और जल्लादों का राज कायम है, उन लोगों का राज कायम है जो दूसरों के मुंह

का निवाला छीनकर अपना घर भरते हैं, तब तक हिंसा से बचा नहीं जा सकता, तब तक हिंसा उन सभी लोगों के लिये एक आपद्धर्म रहेगी जो अपना घर, अपना खेत-खलिहान, अपना देश, अपनी बहू-बेटियों की इज़्ज़त और अपने बच्चों की मुसकराहट लुटते और क़त्ल होते नहीं देखना चाहते......

गांधी जी के नेतृत्व की इस चीज़ के खिलाफ सत्य के जोशीले मन में गहरा असन्तोष था, लेकिन इसका कोई उचित कारण उसकी समझ में नहीं आता था। इसका कोई ठीक कार्य - कारण संबन्ध वह नहीं बिठाल पाता था। इस पुस्तिका ने पहली बार उसके दिमाग को एक नये रास्ते पर लाकर खड़ा कर दिया। समाज में हर समय चलते हुए वर्ग-संघर्ष को उसने देखा था, लेकिन बस देखा था जैसे कोई रेलगाड़ी को देखे या पेड़ को देखे, समझा नहीं था। वह खुद निम्न मध्यवर्गीय घराने की गरीबी में पला था, इसलिये यह बात भी उससे छिपी नहीं थी कि समाज में मुट्ठी भर लोग अमीर होते हैं जिनके लिये सभी सुख-सुविधाओं के दरवाज़े खुले होते हैं, जो ज़र्क-बर्क कपड़े पहनते हैं, अच्छे बंगलों में रहते हैं, अच्छा खाना खाते हैं और बस अपने ही जैसे अच्छे लोगों से मिलते हैं और करोड़ों लोग गरीब होते हैं जो भूखे रहते हैं या आधा पेट खाते हैं, जिन्हें एक एक दाना गेहूं या चावल जुटाने के लिये हाय हाय करनी पड़ती है, जो मैले-कुचैले कपड़े पहनते हैं और अंधेरे घरों में रहते हैं, छोटी छोटी कोठरियों में जिनमें धूप का तो जिक्र ही क्या हवा और रोशनी की भी गुजर नहीं है, बीसियों लोग घुस पिल कर रहते हैं और अकसर टाट के एक फटे से पर्दे की आड़ करके वहीं आहार निद्रा मैथुन, जीवन के सभी कार्य सम्पादित करते हैं। ये जानवरों की जिन्दगी बसर करते हैं मगर जानवर नहीं हैं।

यह सब सत्य ने अच्छी तरह देखा-भाला था लेकिन इसे उसने जिन्दगी

का एक चिरन्तन अपरिवर्तनीय नियम समझ कर कबूल कर लिया था और कभी उसे इसकी ज़रूरत नहीं पड़ी थी कि वह सवाल करता, ऐसा क्यों है ? सब लोगों की बराबरी एक अच्छा आदर्श है लेकिन उसे हासिल करने का कोई ठीक रास्ता भी है , है तो कौन सा है, यह सब अभी उसके लिये बन्द अध्याय थे। लिहाजा यह चेतना भी अभी उसे नहीं थी कि समाज में यह जो अमीर-गरीब का भेद है, उसी में उस संघर्ष का बीज भी छिपा हुआ है जिससे समाज आगे बढ़ता है—अमीर का संघर्ष अपने मालिकाने को बनाये रखने के लिये, अपनी तर्जे जिन्दगी पर आंच न आने देने के लिये और गरीब का संघर्ष अपनी गरीबी के घेरे से बाहर आने के लिये। यही वह कोयला-पानी है जिससे समाज के इंजन में हरकत आती है। इसकी चेतना तो उसे तब हुई जब उसने मार्क्स और एंगेल्स का 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' पढ़ा। उसको पढ़कर तो सत्य को ऐसा लगा कि उसका नया जन्म हुआ है। सारे सवालात जो पामदत्त की किताब पढ़ने के बाद उसे तंग कर रहे थे उन सब का जवाब उसे 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' में मिल गया। इतिहास कैसी कैसी समाज-रचनाओं का हवाला देता है, आज समाज का क्या रूप है, समाज को चलाने वाली शक्ति कौन सी है, नयी समाज रचना का रूप क्या होगा, कैसे वह समाज आयेगा, मजदूर-श्रेणी ही क्यों नया समाज बनाने की इस लड़ाई की अगुआई करती है—सारी तसवीर अब उसके आगे साफ हो गयी। उसकी अपनी जिन्दगी के तीखे परिचय ने उसे यह नया ज्ञान अपने भीतर समोने में बड़ी मदद पहुंचायी। अब उसे इस बात का पता चल गया था कि वर्ग-संघर्ष मार्क्सवाद की प्रयोगशाला का तैयार किया हुआ कोई रसायन नहीं बल्कि समाज की एक नंगी हकीकत है जिस पर मार्क्सवाद ने सिर्फ अपनी रोशनी फेंकी है। जब यह रोशनी नहीं थी तब भी वर्ग-संघर्ष था और वह तब तक समाज से

नहीं जा सकता जब तक कि वर्गों का खात्मा करके एक नये तरह के, वर्गहीन समाज की रचना नहीं की जाती जिसमें कोई किसी का मालिक नहीं है, जिसमें सब मजदूर हैं या किसान हैं, बुद्धिजीवी हैं, मेहनतकश हैं, सब साथी हैं, जिसमें चीजों की पैदावार मुट्ठी भर लोगों के यहां दौलत का अंबार लगाने के लिये नहीं जनता की जरूरत के लिये की जाती है। अब वह यह भी जान गया था कि सब की बराबरी सिर्फ एक अच्छा आदर्श या सपना नहीं है बल्कि वह साध्य भी है और उसका साधन ही है मार्क्सवाद। उसका सपना देखने वाले तो मार्क्स के पहले भी बहुत हुए थे, लेकिन मार्क्स ने ही उस सपने को सच कर दिखाने की राह बतायी। 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' पढ़कर सत्य को सचमुच ऐसा लगा जैसा किसी ने उसे अंधेरे कुएं में से निकाल कर सूरज की रोशनी में ला खड़ा किया हो, जैसे उसे दो नयी आंखें मिल गयी हों। कम्युनिस्ट घोषणापत्र पढ़ने के बाद पामदत्त की किताब की बातें उसके सामने और भी साफ हुईं और उसकी समझ में आया कि क्यों गांधी जी ने आगे बढ़ते हुए किसान इंकलाब की पीठ में छुरा भोंका। जिस आजाद हिन्दुस्तान की तसवीर उनके सामने थी उसमें राजा भी था रंक भी थे, जमींदार भी था किसान भी थे, मिल का मालिक भी था और उसके मजदूर भी थे यानी समाज में जो वर्ग थे वह सभी ज्यों के त्यों बने रहने वाले थे, समाज के ढांचे में किसी बुनियादी तबदीली की जरूरत नहीं थी। सिर्फ इतने ही से काम बन जाने वाला था कि समाज के जो चौधरी लोग अपना 'कर्त्तव्य' भूल गये हैं उन्हें उनके कर्तव्य की याद दिला दी जाय और बस जादू-मन्तर की तरह उनका हृदय परिवर्तन हो जायगा और राजा अपनी रैयत को, जमींदार अपने किसानों को और मिल का मालिक अपने मजदूरों को अपना बेटा समझने लग जायगा। बस इतनी ही सी तो बात है, इसके लिये क्रान्ति की क्या जरूरत है?

मगर जब किसान अपनी जिन्दगीके कड़वे अनुभव को और अपनी मांगों को और उन्हें हासिल करने के लिये अपनी हंसिया और कुदाली और अपनी लाठियों को लेकर लड़ाई में आगे आने लगे तो गांधी जी का सेया-पोसा सपना खतरे में पड़ गया और चूंकि उन्हें उस इंकलाब से डर लगता था जो कि उनके सपने को या समाज की उनकी तसवीर को गंड़ासे से चीर कर समाज के समूचे ढांचे को उलट-पुलट कर रख देता, चुनांचे उन्होंने उसकी कली को ही मसल डालने में अपनी खैरियत देखी। यही वह राज़ था जो अब तक उसकी समझ में नहीं आता था और जो अब अच्छी तरह समझ में आ गया। उसने जान लिया कि समाज में पूरे वक्त जो वर्ग-संघर्ष चल रहा है उसमें कोई भी आदमी तटस्थ नहीं रह सकता, उसमें कोई यह नहीं कह सकता कि मैं न तो इसके साथ हूं न उसके, मैं तो सबसे अलग हूं जो आदमी ऐसा कहता है वह अपने साथ और दुनिया के साथ छल करता है। उसने जान लिया कि जो भी आदमी निन्नानबे प्रतिशत शोषित जनता का साथ नहीं देता, उनसे हमदर्दी नहीं रखता, उनकी लड़ाई में भरसक योग नहीं देता, वह दरअसल शोषकों का साथ देता है, वह चाहे या न चाहे। यह कोई जरूरी बात नहीं है कि हर हालत में पूंजीपति लोग उसे थैली थमाते ही हों गो कि यह बात भी सही है कि ऐसे ही लोगों को पूंजीपतियों की थैलियाँ कई कई शक्लों में मिलती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि सत्य के गांधीवादी मन को इससे बहुत गहरी ठेस लगी, कुछ कुछ वैसी ही पीड़ा जैसी बिच्छू के डंक मारने से होती है, लेकिन कई रोज़ की उधेड़बुन के बाद उसने अपने मन को समझा लिया कि गांधी जी को बिड़ला की थैली नहीं मिलती तो न मिले, उससे क्या, लेकिन इसमें तुमको क्या कलाम है कि बिड़ला अगर गांधी जी को मदद पहुंचाता है तो इसी-

लिये कि वह जानता है कि गांधी जी के हाथों में उसके हित सुरक्षित हैं। अपनी इस नयी समझ की रोशनी में जब सत्य ने इस बात पर गौर किया कि सन् बत्तीस में किसानों के बारबार यह कहने पर भी कि लगानबंदी का आन्दोलन शुरू किया जाय, गांधी जी ने यह आंदोलन नहीं शुरू किया, तो इसका असल कारण क्या था। और तब उसकी समझ में वह बात भी आ गयी जो उसे बहुत बार तंग किया करती थी, कि गांधी जी ने सन् चालीस में जो युद्ध-विरोधी आन्दोलन छेड़ा था उसको क्यों व्यक्तिगत सत्याग्रह की शकल दी गयी और क्यों वह आन्दोलन एक निहायत फिजूल-सा, निस्तेज और नपुंसक सा प्रतीकात्मक विरोध छोड़ और कुछ नहीं बनने दिया गया। सब का कारण एक था, बस एक : गांधी जी जनता की क्रान्तिकारी भावना से डरते थे और उसे उभरने नहीं देना चाहते थे और इसलिये वह जब कभी उभरने लगती तो उसका गला घोंट देते। और बाद में तो उन्होंने उस रास्ते चलना ही छोड़ दिया जहां उसके उभरने का अंदेशा होता।

जेल से छूटते समय जब सत्य वीरेन्द्र से गले मिला तो उसकी आंख में आंसू थे : उसका एक बड़ा गहरा दोस्त और हमदर्द साथी पीछे छूट रहा था, एक ऐसा साथी जिसकी बदौलत उसे नयी आंखें मिली थीं, जिसने उसे अपनी जिन्दगी की राह पहचानने में मदद दी थी, जो तकलीफ में और आराम में, हर समय उसका साथी था, जिसने इक्कीस रातें जाग-जागकर उसे दवा और पानी दिया था और सर सहलाया था। इन नौ महीनों में वह वीरेन्द्र से कई बार झगड़ा था, कई बार उसने उसे सख्त लगने वाली बातें कही थीं, लेकिन वीरेन्द्र एक बार भी उस पर गुस्सा नहीं हुआ था, एक बार भी उसके चेहरे

की वह जादूभरी मुस्कराहट उसके चेहरे से अलग नहीं हुई थी।

गले मिलकर चलते समय सत्य ने वीरेन्द्र को मुट्ठी तान कर लाल सलाम किया। वीरेन्द्र ने अपनी चिरसंगिनी मुस्कराहट से उसका जवाब दिया।

सत्य ने कहा—अब तो बाहर ही मुलाकात होगी ......

वीरेन्द्र ने कहा—देखो कब तक होती है ....

सत्य—ऐसा क्यों कहते हो ?

वीरेन्द्र—मेरे निकलने का कुछ ठीक नहीं है न।

सत्य—मगर यह डिफेंस आफ इन्डिया ऐक्ट के मातहत नजरबन्दी भी निरवधि तो होगी नहीं ?

वीरेन्द्र—नहीं निरवधि तो नहीं है, निरवधि तो दुनिया में कुछ भी नहीं होता सत्य, थोड़ा अनिश्चित है और क्या.....अच्छा अब तुम चलो, देखो तुम्हें ले जाने वाला वार्डर बेचैन हो रहा है ....

वार्डर ने अपनी ओर से आश्वस्त करने के लिये कहा—नहीं नहीं बाबू जी, आप लोग जी खोलकर बातें कर लीजिये मुझको कोई जल्दी नहीं है .....

फिर जरा रुककर कहा—हम लोग भी आदमी ही होते हैं सरकार, हमारे भी दिल होता है।

उलाहना स्पष्ट था। वीरेन्द्र ने जोर से हंसते हुए कहा—मेरी बात बहुत बुरी लग गयी रामनाथ..सरकार का हर काम अपने वक्त से होता है न इसीलिये मैंने वैसा कहा था। तुम्हारा दिल दुखा हो तो मुझे माफ कर दो। अब देखो न, सत्यबाबू की रिहाई करने के

लिये वहां दफ्तर में जेलर से लेकर एकाउन्टेन्ट तक सब बेचैन हो रहे होंगे, कितनी जल्दी हिसाब-किताब साफ हो और कैदी को फाटक से बाहर किया जाय—

वार्डर से जितनी देर ये बातें हुईं उतनी ही देर में वीरेन्द्र ने अपनी उस क्षणिक कमजोरी को जीत लिया था। काफी एक चौड़ी सी मुस्कराहट उसके चेहरे पर फैली हुई थी जब उसने कहा—घबराओ नहीं सत्य, जल्दी ही बाहर आकर तुमसे मिलूंगा। ...फिर एक बार उससे गले मिला, जोर से हाथ मिलाया, सत्य के और भी चार साथियों को नमस्ते किया और घूम पड़ा। इतनी तेजी से यह सब काम हुआ कि सत्य नहीं देख पाया कि वीरेन्द्र के चेहरे पर मुस्कराहट ही थी या और भी कुछ, मसलन् साथी के छूट जाने की, फिर अकेले रह जाने की उदासी।

सत्य मई में जेल से छूटा। युनिवर्सिटी बन्द हो चुकी थी। आन्दोलन भी कब का ठंडा पड़ चुका था।

जुलाई के महीने में सत्य ने फिर अपनी फाइनल की पढ़ाई शुरू की। जेल जाने से उसका पूरा साल बर्बाद हो गया था, लेकिन इसका उसे कतई गम न था। एक तो इसलिये कि उसे अपने राजनीतिक विश्वास के लिये जेल हुई थी, दूसरे इसलिये भी कि जेल में ही उसे अपनी जिन्दगी की राह मिली। उसका मन वीरेन्द्र के प्रति एक आंतरिक कृतज्ञता और आदरपूर्ण स्नेह से भरा था। कहना ही होगा कि उसी ने उसके जीवन का वह शुक्र की तरह चमकता हुआ ध्रुवतारा निश्चित कर दिया था और अब उसी की ओर पैर बढ़ाये हुए चले जाने के संकल्प से लैस होकर उसने अपनी नयी जिन्दगी शुरू की।

अपनी रिहाई के तीसरे रोज़ सत्य प्रफुल्लबाबू के यहां गया। प्रफुल्ल बाबू के लड़के अमूल्य ही उन दिनों पार्टी के मंत्री थे और पार्टी में शरीक होने के लिये सबसे पहले उनसे मिलना ज़रूरी था।

सबेरे का वक्त था। अभी मुशकिल से आठ बजा था मगर गर्मी का हाल यह था कि कुछ मत पूछिए, आंख उठाकर धूप की तरफ ताकने की हिम्मत न पड़ती थी। मोटे लोगों के शरीर से पसीने का पनाला चल रहा था और दुबले-पतले लोगों को मारे गर्मी के जैसे सैकड़ों चीटियां काट रही थीं। हवा अभी से गर्म हो चली थी और घंटे दो घंटे बाद तो वह हवा नहीं लपट हो जायगी। प्रफूल्लबाबू दरवाज़ा बन्द किए भीतर बैठे कुछ पढ़ रहे थे जब सत्य ने जाकर उनके दरवाजे पर दस्तक दी। प्रफुल्लबाबू ने दरवाज़ा खोला तो एक अपरिचित आकृति सामने खड़ी थी। कौन हो सकता है यह सांवला सा लड़का? मेरा विद्यार्थी तो है नहीं। इसे मुझसे क्या काम है?

कुछ रूखी सी, भारी आवाज़ में बोले—कहिये किसे चाहते हैं?

सत्य ने कहा—मैं अमूल्य बैनर्जी से मिलना चाहता हूं, मुझे उन्हीं से काम है।

प्रफुल्लबाबू ने जैसे तसदीक कराने के लिये पूछा—'अमूल्य से?' और वहीं से खड़े खड़े आवाज़ दी 'खोखा, खोखा, बाहर एक सज्जन तुमसे मिलने आये हैं...' और मुसकराहट की जैसे एक झलक दिखाकर (क्या समझते हो, मैं मुसकरा भी सकता हूं!) उन्होंने सत्य को बगल के एक कमरे में कुर्सी पर बैठने का इशारा करते हुए कहा—आप बैठिए, अमूल्य अभी आता है, और वापस अपने कमरे में चले गये।

सत्य यह सोचता हुआ कुर्सी पर बैठा कि मां-बाप भी अपने बच्चों का कैसा नाम रख देते हैं। अब देखो न, इन महाशय को, ये किस तरफ से प्रफुल्लकांति हैं, नाम की आखिर कुछ तो तुक होनी चाहिये! क्या बस यही नाम बचा था रखने को, दूसरा कोई नाम ही नहीं था, अरे कुछ भी रख देते, कठोरकांति, शुष्ककांति, विरागकांति, बीसों नाम हो सकते थे!

५

अमूल्य बैनर्जी के यहां से उठकर सत्य सीधे जार्जटाउन गया, राजेश्वरी से मिलने। कोई तीन महीने से उसने उसे नहीं देखा था। उसके पहले तो एक बार राज जेल में उससे मिलने गयी थी।

सत्य पहुंचा तो राज नहाकर निकली ही थी। सर-वर अच्छी तरह धोया था, कंघा कर रही थी, कंघा बाल में फंसा कर राज बाहर, विकेट गेट तक आयी। सत्य ने मिलाने के लिये हाथ बढ़ाया। राज ने भी अपना दाहिना हाथ उसके दाहिने हाथ में डाल दिया और उसे अपनी तरफ खींचते हुए कमरे की ओर चली। खूब तरोताज़ा हो रही थी, एकदम सफेद साड़ी पहने थी और ओडिकोलोन की खुशबू से वह और उसका कमरा लदा हुआ था। सत्य को भी ओडिकोलोन की खुशबू बहुत अच्छी लगती है, लेकिन उसने सदा उसको अपनी औक़ात से बाहर की चीज़ समझा, गो वह ऐसी कुछ खास मंहगी नहीं है। पहले तो बहुत दिनों तक वह ओडिकोलोन को दवाई समझता था क्योंकि उसका वही इस्तेमाल उसने देखा था, किसी को बहुत तेज़ बुखार चढ़ता तो पानी में ओडिकोलोन मिलाकर उसी की पट्टी माथे पर रखते। उलाहने के स्वर में एक मीठी सी फटकार सुनाते हुए राज ने कहा—तुम इतने नालायक़ कब से हो गये जी ?

सत्य ने मुसकराते हुए कहा—क्यों, क्या बात है ?

शर्म नहीं आती, पूछते हो क्यों क्या बात है ? कब छूटे जेल से ? आज आने की फ़ुरसत मिली है ?

खफ़ा मत हो राज, अभी परसों दोपहर को तो छूटा हूं, सिर्फ़ कल का ही दिन तो बीच में है, सच पूछो तो जेल के फाटक से निकले अभी अड़तालिस घंटे भी नहीं हुए।

राज ने सत्य को कुर्सी पर बिठालकर टेबुलफैन चलाया और स्वयं पास ही तखत पर बैठते हुए कहा—तुम दुबले हो गये हो सत्य।

गर्मी नहीं देखतीं कैसी भयानक पड़ रही है, और तुम अपना चेहरा भी तो देखो ज़रा आइने में, आंख के नीचे हलक़े पड़े जा रहे हैं—

कुछ पड़ें भी तो! मुझे यही तो रोना है कि मेरे शरीर को क्यों कभी कुछ नहीं होता, सबसे ज्यादा नीरोग रहने लायक पुण्य मैंने कौन-सा किया है? मुझे तो कभी कभी लगता है कि मैं सूखी लकड़ी के समान होती जा रही हूं जिसपर मौसम का कोई असर नहीं होता–सीज़न्ड वुड–मुझको देखकर तुम्हें भी ऐसा लगता है न सत्य?

नहीं, मुझको तो वैसा नहीं लगता। उलटे मैं देख रहा हूं कि इस बार मौसम का असर तुम्हारे ऊपर पहले से कहीं ज्यादा है, तुम खासी दुबली हो गयी हो, इन चन्द महीनों में ही।

ऐसा! देखो मुझे डरवाओ मत नहीं तो मेरी जान ही निकल जायेगी, कहकर उसने अजब एक शोखी से सत्य को देखा, ओठों को जोड़कर बाहर की तरफ फेंका और हलके से मुसकरायी। यह सब कुछ उसने इस तरह किया जैसे वह तेरह-चौदह साल की छोकरी हो। सत्य को अच्छी लगी यह चीज लेकिन थोड़ी अजीब ज़रूर लगी। उसने कोई जवाब नहीं दिया।

सत्य की समझ में नहीं आया कि किस तसवीर को ठीक समझे। तभी राज ने मुसकराते हुए पूछा—कहो अब क्या इरादा है?

सत्य ने जवाब दिया—अभी तो मुझे एम० ए० ही करना बाकी है, अभी इरादे का क्या सवाल उठता है।

राज ने कहा—मेरा पूछने का मतलब यही है कि अब पढ़ोगे न या फिर वही पॉलिटिक्स करोगे ?

सत्य ने कहा—फिलहाल तो कोई जेल-वेल जाने का सिलसिला है नहीं, इसलिये पढ़ भी सकता हूं और थोड़ी बहुत पोलिटिक्स भी कर सकता हूं।

तो फिर आ रहे हो अब की यूनियन एलेक्शन में ?

न बाबा, यूनियन एलेक्शन मुझसे न होगा। मैं एलेक्शन पॉलिटिक्स थोड़े ही करूँगा, उसके लिये तो यों ही खंचियों लोग हैं। मैं तो जरा मजदूरों के बीच काम करना चाहता हूं। असल में तो मैं किसानों के बीच जाना चाहता हूं मगर अभी उसका सुयोग जुटेगा नहीं ...

राज ने कीक सी मारते हुए कहा—अच्छा तो अब आप पर कम्युनिज्म का भूत सवार हुआ मालूम होता है, हूं sss! कह कर वह फिर जरा मानीखेज ढंग से मुसकरायी। और फिर सत्य को उसकी उस कीक और उस मुसकराहट से लगा जैसे राज की उमर कई बरस कम हो गयी है। सत्य को यह चीज धूप-छाँह के खेल जैसी लगी, जरा देर में बदली घिर आयी, फिर जरा देर में धूप खिल गयी और फिर जरा ही देर में धूप गायब और बदली छायी हुई।

बातों का सिलसिला बहुत देर तक चलता रहा जिस बीच एक छोड़ दो दो बार ताजे नीबू का शर्बत पिया गया। राज सत्य को जैसे छोड़ना ही न चाहती थी। जब जब वह चलने को होता, या तो सीधे डपट देती : अभी बैठो, अभी कहीं नहीं जाना। या कुछ रूठने का सा भाव दिखलाती : हां भाई, यहां क्यों अच्छा लगेगा, यहां क्या रक्खा है ? मिलने चले आये, यही क्या कम हुआ! .....

गरज इसी सब में बारह बजने आये। बारह, जेठ की चिलचिलाती हुई धूप, आंख नहीं दी जाती थी। आखिरकार सत्य जब चलने के लिये उठ ही खड़ा हुआ तो भी राज ने कहा—अब कहां जाते हो इस चिलचिलाती हुई धूप में। यहीं खाना खाओ और आराम करो। शाम को चलेंगे घूमने, कोई अच्छी सिनेमा हो तो उसमें चलेंगे। फिर रात को घर जाना।

सत्य ने मन में कहा—यह तो अच्छा दिन भर का प्रोग्राम बतलाया राज ने! ..उसने छेड़ने के लिये उसकी बात में बात जोड़ी, रात को भी जाने की क्या जरूरत है, यहीं सो जाऊंगा!

राज ने छेड़ का पूरा रस लेते हुए मुसकराकर कहा—बुरा भी क्या है! पर सत्य माना नहीं। बोला—मां भी तो खाना बनाकर बैठी राह देख रही होगी। नहीं, यह नहीं हो सकता। कल-परसों में फिर आऊंगा। तब दिन भर रहूंगा—और कहोगी तो रात भर भी। कहकर सत्य मुसकराया। राज ने सत्य की मुसकराहट का कोई जवाब नहीं दिया, वह अपने किसी खयाल में डूबी रही। यकायक उसने जरा चढ़े हुए स्वर में और सत्य को ठेलते हुए कहा—अच्छा तो जाओ।

सत्य राज के पास से चला तो यह चीज उसे किसी कदर तंग कर रही थी। राज की आज की यह आन-बान, यह उमंग, यह शोखी, किशोरियों जैसी यह चपलता एक नयी चीज थी। राज की अब तक जो शकल उसकी आंखों में थी वह थी हिन्दू समाज के प्रति एक मूर्त अभियोग की, एक पाषाण प्रतिमा की, जिसे समाज के शाप ने ही पाषाण बना दिया है, जिसके पास अपनी अभिव्यक्ति भी नहीं, जो मूक, निःशब्द, दुःख सहन करना ही जानती है।

मगर राज पाषाण-प्रतिमा तो नहीं। वह तो जीवित व्यक्ति है। सत्य ने यदि उसको पाषाण-प्रतिमा समझ लिया हो तो इसमें राज की क्या गलती।

यों गलती ज्यादा सत्य ने भी नहीं की क्योंकि उसने तो कभी राजेश्वरी को रात की तारीकी में नहीं देखा जब घर में सिर्फ वह होती थी और उसकी बुड्ढी नौकरानी और उसका वह सर्द पलंग, जिस पर वह बेचैन करवटें बदलती थी। राजेश्वरी तरस जाती थी कि कोई उसे अपनी गोद में भर ले और उसे इतने जोर से चूमे कि उसके होठों की जलन मिट जाये। वह किसी का परस अपने चिबुक पर चाहती थी। उसकी भी उमंग थी कि वह किसी की आंखों में आंखें डाले क्योंकि वह मन को अच्छा लगता है। अपने मन की उस उमंग को वह क्या करे, कोई तो उसे नहीं बतलाता। पर वह उमंग तो उठती ही है, उसका गला वह कैसे घोंट दे। सत्यवान ने अगर कभी राज की उन बड़ी बड़ी आंखों में उतरने की कोशिश की होती तो ये सारी उमंगें और ये सारे सवालात उसे दिख जाते। लेकिन सत्य ऐसा करता भी कैसे, अभी तो वह खुद लड़का है, दिनभर की दौड़ धूप के बाद मुर्दे की नींद सोता है। उसे क्या मालूम कि आंखों से नींद उड़ भी जाया करती है। हां उसे इतना मालूम है कि शरीर की भी भूख होती है, लेकिन जानना महसूस करना तो नहीं होता। वह भूख कितनी भयानक होती है इसे तो कोई किसी को नहीं बतला सकता।

जैसे आज ही जब वह चला गया तब फिर वह यह देखने तो नहीं आया कि राज ने फिर क्या किया।

सत्य की पीठ फिरते ही राज की सारी खुशी न जानें कहां हवा हो गयी। उसके ऊपर फिर वही निबिड़ उदासी छा गयी। इतने महीनों बार सत्य को देखकर और उससे भी ज्यादा महीनों बाद सत्य को आजाद

देखकर उसके मन में जो उमंग आयी थी, वह सब उसके संग ही जैसे चली गयी और वह फिर अपनी घुटन और धुलन पर लौट आयी, जो सब उसकी आंखों के नीचे नीले हलकों में दिखाई दे रहे थे।

आवेग की बाढ़ उतर जाने पर एक अजीब थकन मन-प्राण को जकड़ लेती है। वह भागकर अपने सोने के कमरे में चली गयी और बड़ी देर तक तकिये में मुंह गाड़कर पेट के बल लेटी रही। थोड़ी देर तक कुछ फफकने की भी आवाज आयी, फिर बन्द हो गयी और खामोशी छा गयी। चुपचाप पड़ी पड़ी वह तकिये को भिगोती रही। खाने के लिये यों ही काफी देर हो चुकी थी। नौकरानी पूछने के लिये आयी। पर राज ने मना कर दिया। इसी तरह पड़े पड़े उसकी न जाने कब आंख लग गयी। आंख खुली तो पांच का समय हो रहा था। धूप और गर्मी का अब भी वही हाल था। दिन भर के सन्नाटे के बाद सड़कों का चलना अब शुरू हो रहा था। राज को खयाल आया कि उसने भी सत्य से बाहर निकलने की, घूमने जाने की बात कही थी। मगर अब तो सत्य नहीं था और अकेले कहीं घूमने जाने के खयाल से उसे डर लगता था।

लिहाजा मजबूर होकर उसने महादेवी की 'दीपशिखा' मेज पर से उठायी और लेटे लेटे उसी को बड़ी देर तक पढ़ती रही। राज को महादेवी की कविताएं, खासकर 'दीपशिखा' बहुत अच्छी लगती है। उसके बहुत से गीतों को वह अकेले में बैठी गुन-गुनाती रहती है। मन को कोई सहारा तो नहीं मिलता, हां अन्दर की पीड़ा और घुटन को कभी आंसुओं कभी उच्छ्वासों और कभी अपने भाग्य की वक्रगति पर एक हलकी सी मगर नीम की तरह कड़वी विद्रूप की मुसकराहट के रूप में बाहर फेंकने का मौका जरूर मिलता है। उससे ही दिल का बोझ कुछ हलका होता है। उतनी ही सान्त्वना बहुत है।

सत्य दूसरे रोज ठीक दोपहरी में आया।

जेठ की दोपहरी के सन्नाटे में कमरे में अकेले होने पर बातचीत का रंग कुछ बदला। सत्य ने छेड़ निकाली—कल तो तुम बड़ी बश्शाश नजर आती थीं, आज फिर तुम्हारे चेहरे की रंगत उड़ी हुई है—

राज ने कोई जवाब नहीं दिया, कुछ पढ़ती रही।

सत्य ने हँसकर उसके हाथ से किताब छीनते हुए कहा—यह सब नहीं चलेगा, बीबी जी। मैं अपनी खोपड़ी का मक्खन पिघलाकर मुट्ठीगंज से यहां चला आ रहा हूं तो इसलिये नहीं कि आप बैठकर—कौन सी किताब है यह, ओह 'सान्ध्यगीत' है...महादेवी से तुम्हें बहुत इश्क हो गया है। ....

दरवाजों और खिड़कियों पर हरे हरे कागज लगे हुए थे जिनसे छनकर हरी हरी रोशनी कमरे में आ रही थी। कमरे की सजावट भी अच्छी थी। दो-तीन खूब अच्छी माउंट की हुई तसवीरें दीवारों पर टँगी थीं। बिहार टेक्सटाइल के खूबसूरत पर्दे और मेजपोश कमरे के वातावरण में कुछ एक अजब भाव भर रहे थे। सत्य ने उसको नाम देने की कोशिश करते हुए कहा—बड़े पोएटिक ढंग से कमरा सजाया गया है! और इसमें बैठकर महादेवी के गीत गुनगुनाये जाते हैं..अब फिर तुम्हें और चाहिए ही क्या...

राज ने सत्य को तरेरा। सत्य ने टिटकारी मारते हुए कहा—ऐसे मुझे मत देखो राज वर्ना मैं जलकर खाक हो जाऊंगा। और मुस-कराया।

इस बार राज भी मुसकरा दी।

तुम इतनी घरघुसनी क्यों हो राज? न कहीं जाओ न आओ, न तुम्हारा कोई संगी न संगाती...

मुझे कहीं जाना-आना अच्छा नहीं लगता। पता नहीं मुझे क्यों ऐसा लगता है कि इलाहाबाद में सब मेरा राई-रत्ती हाल जानते हैं! सब जानते हैं कि मेरी जिन्दगी कितनी खोखली है, एकदम भूसा और सब जैसे ओंठ दबाकर मेरे ऊपर हँसते हैं....

नहीं राज, यह तुम्हारा वहम है। दुनिया में सब लोग ऐसे नहीं हैं...

मुझे तो ज्यादातर ऐसे ही लोग नजर आते हैं और फिर कोई बात भी किसी से क्या करे...

दुनिया-जहान की बातें हैं। बातों की कोई कमी है दुनिया में। कौन जाय किसी से बात करने, फायदा भी क्या। मेरा तो यह कमरा ही भला।

सत्य ने कुछ कुछ झिड़की के स्वर में कहा—कैसी बातें करती हो राज....

फिर कुछ रुककर, धीरे से मुसकराकर कहा—अगर मर्दों से डर लगता है (गो मर्द भी सब बुरे नहीं होते) तो कुछ लड़कियों से ही दोस्ती पालो...

लड़कियां तो कई आती हैं मेरे पास..

कई आती हैं। जैसे मुझे पता नहीं! एक तो वह आती हैं मिसेज वार्ष्णेय और दूसरी वह हैं, क्या नाम है उनका, मिसेज सक्सेना। ...अजब खूसटों से पाला पड़ा है...जरा कुछ नौजवान जानदार लोगों से मेल-जोल बढ़ाओ। तुम तो अभी से बैरागी हुई जा रही हो।

राज ने इस तरह से कहा जैसे ऊंघते ऊँघते में उसने ये तमाम बातें सुनी हों। वह अपने किसी दूसरे ही विचार में डूब गयी थी। बोली—मैं मैं? सब ठीक ही है, सत्य...

प्रायः एक या डेढ़ मिनट की खामोशी के बाद राज ने ही फिर कहा—तुम भर मुझे मत छोड़ना...

कहते कहते उसके कानों की लवें जलने लगीं जैसे उनके ठीक नीचे किसी ने दो बहुत छोटे छोटे दिये रख दिये हों। यह एक वाक्य कहने में उसे पता नहीं कितना संघर्ष करना पड़ा था—थोड़ी देर को जैसे किसी ने आकर उसके चेहरे पर गुलाल मल दिया। वह ताक दूसरी ओर को रही थी, दिल अलग धड़क रहा था, कान की लवें जल रही थीं और आंखें भर आयीं थीं।

सत्य की समझ में नहीं आया। यह सब क्या और क्यों हो रहा है ? यह उन्माद किसलिए ? मैंने तो ऐसी कोई बात कही नहीं। मैंने तो सिर्फ यही कहा कि मेल-जोल बढ़ाओ, लोगों में आओ-जाओ, जिन्दगी का रंग ढंग बदलो, बैरागी बनने से काम नहीं चलेगा, जिन्दगी पहाड़ हो जायगी....तो कुछ गलत तो कहा नहीं मैंने, तो फिर यह रो क्यों पड़ी। बड़ी दुखी है बेचारी। उसका भी दिल अनायास भर आया।

बोला—कैसी बात करती हो राज !

राज आंचल के छोर से आंखें पोंछकर प्रकृतिस्थ हो चुकी थी।

राज ने मेज पर आंखें गड़ाये गड़ाये कहा—मैं बहुत अभागी हूं सत्य। यह मेरे दिल की सच्ची आवाज है। मुझे डर लगता रहता है कि सब मुझे छोड़ देंगे...मगर तुम मुझे मत छोड़ना सत्य। कभी मत छोड़ना, नहीं छोड़ोगे न, तुम मेरे बड़े अच्छे दोस्त हो....

कहते-कहते एक बार फिर राज की आंखें छलछला आयीं। यह खयाल क्यों इसे इतना सता रहा है ? वह उठकर गज भर की दूरी पर राज की कुर्सी के पास गया, जेब से रुमाल निकालकर राज की

आंखों को लगाया, उसके बालों में और गालों पर बहुत प्यार और हमदर्दी से धीरे धीरे हाथ फेरा। उसको बहुत जोर से जी हुआ कि राज की आंखें चूम ले और उसका सिर बांहों में भरकर सीने से चिपका ले और बड़ी देर तक चिपकाये रहे और आंखें बन्द कर ले। राज की आंखें बन्द थीं।

सत्य ने कहा—अच्छा राज, अब मैं चलूंगा।

राज का जैसे सपना टूटा, बोली—जाओगे अब? अच्छा—

सत्य चला गया और राज आकर पलंग पर लेट गयी और सोचने लगी: सत्य ने भी क्या सोचा होगा दिल में, मुझे जरा काबू नहीं अपने आप पर....मगर सत्य बहुत अच्छा आदमी है, वह कुछ बुरा नहीं सोच सकता...फिर भी, इस तरह रो पड़ना तो कोई अच्छी बात नहीं, इससे आदमी का छिछलापन जाहिर होता है...पर मैं जान बूझ कर तो रोई नहीं....फिर भी फिर भी ...सत्य के दिल में दूसरों का बड़ा दर्द है....सत्य ने आज मेरे बालों पर हाथ फेरा था, उसने मेरे गालों को छुआ, सत्य बहुत नेक आदमी है, सत्य बहुत नेक आदमी है, मेरे बालों पर जब वह हाथ फेरने लगा तो मेरी आंखें क्यों झँप गयीं? आदमी को जब बहुत सुख पहुंचता है तब क्या आंखें झप जाती हैं, पता नहीं.....पर सत्य बहुत अच्छा है, वह मेरी तकलीफ को समझता है, और आज उसने मेरे गाल छुए और मेरे बालों पर हाथ फेरा और धीरे से कहा—छि:। मैंने सुन लिया, मुझको सुनाने ही को तो कहा था उसने, मेरा रोना उसको अच्छा नहीं लगता, उसका बालों में हाथ फेरना मुझको अच्छा लगता है.... और अपने उस निर्जन कक्ष में भी जहां पर कोई नहीं था, वह संकोच के मारे सिमट सी गयी। उसके मन में हलका सा पुलक भी था प्रश्न भी, विस्मय भी और आकांक्षा भी और न जाने किस पर आक्रोश और खुद अपने आप पर ग्लानि...मुझसे एकाध साल

छोटा ही होगा सत्य और वैसा ही तो मैं उसे मानती भी आयी हूं..

जो सवाल राज को तंग कर रहा था वही सत्य को भी तंग कर रहा था : राज के सिर को बांहों में भरकर सीने से लगा लेने का, उसकी आंखों को चूमने का खयाल मेरे दिल में क्यों आया ? मैं उससे उस तरह की मुहब्बत करता हूं ? नहीं तो। फिर ? यह लफंगापन है। मगर भाई, कोई बुरा खयाल तो मेरे दिल में आया नहीं।

किसी ने जैसे उसे चिढ़ाने के लिये कहा : इससे भी बुरा और कौन सा खयाल चाहते हो ?

सत्य ने आवेश के साथ मन ही मन उसका जवाब दिया : फिजूल की बात मत करो। राज के बारे में कोई बुरा खयाल मेरे मन में नहीं था, मैं अच्छी तरह जानता हूं। न उस वक्त था न इस वक्त है। जिस आदमी को सत्य ने इतने कसकर डांटा था उसने ढिठाई से कहा—'अगर इतनी ही पक्की तरह तुम अपने दिल की हर बात जानते हो तो फिर यह सवाल ही क्यों उठा, इतने बेचैन क्यों हो तुम !' 'बेचैन हूं मैं ? नहीं तो, मैं तो बैचेन नहीं हूं। बेचैनी किस बात की ? मुझे बेचैनी क्यों होगी, मैंने कोई बुरा काम तो किया नहीं' ... 'दिल में तो पाप लाये।' 'किसी दोस्त को दर्द में देखकर अगर मुझे उसकी उन्हीं आंखों को चूमने का खयाल आ जाये—और देखो, मैंने उसको चूमा नहीं ! —तो यह तो ऐसा कुछ पाप नहीं' 'तुम भी मानते हो, नहीं तुम्हारी बात से ही जाहिर है कि कुछ दाल में काला है', 'दाल में काला ? ...पता नहीं...पता नहीं...नहीं नहीं....।'

उसको सचमुच नहीं पता था। मगर चोर उसके दिल में था और उस चोर की तह में था उसके रक्त में और उसके भी बाप

दादों के रक्त में घुला हुआ, सदियों से चला आता यह संस्कार कि युवती स्त्री का स्पर्श पाप है। इसके अलावा और कुछ नहीं था। पुरुष और स्त्री दो इन्सानों की तरह आपस में मिल ही नहीं सकते ! और अगर मिलें तो जरूर कुछ दाल में काला है ! सत्य को अगर कोई बतला देता तो कितना अच्छा होता—मगर कोई बतलाये भी कैसे, किसी के सामने सत्य अपने दिल को तो नंगा करने से रहा !—कि स्त्री और पुरुष होने के पहले भी दोनों आदमी हैं, इन्सान हैं, और दो इन्सानों के बीच अगर ऐसा प्यार का भाव आ जाय तो न तो वह अनुचित ही है और न उसपर दांतों तले उंगली देने की ही जरूरत है। बेशक मनुष्य के हृदय में अलग अलग लोगों के लिये अलग अलग तरह के प्यार का भाव होता है, मगर मनुष्य का हृदय कोई मुनीम नहीं है जिसके यहां हर हिसाब के लिये अलग अलग बहियां हैं और हर बही में अलग अलग मदें बनी हुई हैं जिनमें रकमों को टांका जाता है !

जब राज और सत्य को अपने अन्दर उस भाव का पता चला तो दोनों को अपने ऊपर बहुत शर्म आयी, जैसे उन्होंने कोई भारी पाप कर डाला हो।

६

सत्य अमूल्य के पास, उसके घर ही पर बैठा हुआ था। संयोग की बात उस दिन प्रफुल्लबाबू भी उन लोगों के साथ ही बैठे रहे। बात यों हुई कि सबेरे के वक्त जब सत्य अमूल्य से मिलने के लिये पहुंचा, तब बाप-बेटे में जोरदार बहस छिड़ी हुई थी। बंगाल से अकाल की खबरें आने लगी थीं। गांवों से भुखमरों के काफिले कलकत्ते की तरफ चल पड़े थे। अभी यह आम भगदड़ नहीं थी। बाहरी दुनिया के लिये यह चीज अभी शुरू ही हो रही थी। मरने वालों की संख्या भी अभी शायद सैकड़ों ही में थी। पिछले कुछ दिनों से दो-दो चार-चार आदमियों के भूख से मरने की खबरें मैमनसिंह से, जेसोर से, मालदा से, रंगपूर से, राजशाही से, मेदिनीपूर से आने लगी थीं। इन खबरों का लोगों पर कुछ खास असर नहीं था। अखबार वाले अकाल के कारणों के बारे में ज्यादातर चुप ही रहते: सन् बयालिस में उनकी जो कुटम्मस हुई थी, अभी तक उसका असर उन पर बाकी था, सोचते थे, बोलने में खैर नहीं। इक्का-दुक्का जरा हिम्मती अखबारवाला लिखता कि सरकार सारा खाना मोर्चे पर भेजे दे रही है। सरकार की पलटन खा रही है और बंगाल भूखों मर रहा है.... मगर ज्यादातर अखबारों में तो इतना लिखने की भी हिम्मत नहीं थी कि अकाल का कारण यह है कि पलटनें सब गल्ला चट किये जा रही हैं। सारा गल्ला मिस्र और ईराक़ और रंगून और

सिंगापुर चला जा रहा है, दनादन माल की रफ्तनी हो रही है, इधर लोग भूख से दम तोड़ें तो तोड़ें, किसे इसका गम है ! बैलों की जिन्दगी जीने वाले कुत्तों की मौत मरते हैं तो मरें, उनकी जरूरत ही किसे है, हमें तो जरूरत सिर्फ उनकी है, जो पलटन में भरती हो सकें और ये लोग भला पलटन के किस काम के ! अच्छा है दस-बीस लाख आदमी मर जायें, धरती का भार कम हो।

कुछ हलकों में ये कनफुसकियां चलती थीं कि अंग्रेजों ने जान बूझ कर, एक शैतानी साजिश के मातहत अकाल की हालत पैदा की है जिसमें एक तरफ तो लोग झख मार कर पलटन में नाम लिखायें और दूसरी तरफ वह इतने लागर और कमजोर हो जायें कि जिस वक्त नेता जी सुभाषबोस के सेनापतित्व में आजाद हिन्द फौज हिन्दुस्तान में दाखिल हो, लोग उनकी मदद के लिये कुछ कर ही न सकें, किसी काम ही के न रहें !

बाजारों में हाटों में सड़कों पर लोगों के घरों में सब जगह इसी तरह की बातों के बगूले उड़ते रहते।

प्रफुल्लबाबू और अमूल्य में भी काफी देर से इसी चीज को लेकर तलवारें चल रही थीं। जिस वक्त सत्य पहुंचा, प्रफुल्लबाबू तैश के साथ कह रहे थे : ब्लैकमार्केट ब्लैकमार्केट ब्लैकमार्केट ! तुम लोगों ने यह एक अच्छा स्टंट शुरू किया है !

अमूल्य अपने पिता की इस बात से काफी तिलमिला उठा, पर उसने जब्त करके कहा : बाबा, आप क्या सचमुच यह सोचते हैं कि ब्लैकमार्केट हम लोगों का स्टंट है ?

प्रफुल्लबाबू ने उसी बिफरे स्वर में कहा : स्टंट नहीं तो क्या है ! मैं अच्छी तरह जानता हूं कि अकाल का कारण ब्लैकमार्केट नहीं है। देश

का सारा गल्ला खींचकर मोर्चे पर पहुंचाया जा रहा है। इसीलिये हमारा देश पीला पड़ता चला जा रहा है, मरता चला जा रहा है, सूखता चला जा रहा है। यह भूलने से काम नहीं चलेगा कि हमारे देश में विदेशी राज है जिसे बस अपनी लड़ाई जीतने की धुन है और अपनी इस धुन के पीछे किसी के मरने-जीने का कोई खयाल नहीं है, हो भी नहीं सकता।

अमूल्य ने कहा: इससे कौन इनकार करता है? लेकिन अगर इसका प्रमाण हो कि जनता को भूखों मारने में हिन्दुस्तानी करोड़पतियों का भी हाथ है तो क्या इसी नाते हम उन्हें बख्श देंगे कि वे हिन्दुस्तानी हैं? कलकत्ते का बच्चा बच्चा जानता है कि सूरजमल नागरमल ने, इस्फहानी ने लाखों मन चावल अपने गोदामों में भर रक्खा है, बस सरकारी रेट से रूपया दो रूपया ज्यादा लगाया और सारी फसल हथिया ली और अब उसे ब्लैकमार्केट में मनमाने दाम पर बेंच रहे हैं, कोई उनको रोकने वाला नहीं है और अब खुद उन्हीं किसानों के पास कानी कौड़ी नहीं है कि चावल खरीद सकें—कौन खरीद सकता है पचास रूपए और साठ रूपए और सत्तर रूपए मन!

प्रफुल्लबाबू ने कहा: गल्ला जब होगा ही नहीं बाजार में तो जिस भी व्यापारी के पास थोड़ा-बहुत होगा वह स्केयर्सिटी प्राइस लेगा ही.. यह तो सप्लाई और डिमांड वाली बात है—

अमूल्य ने बात काटते हुए कहा: बाबा, हमारा यही कहना है कि यह झूठी स्कैर्यसिटी है जो पैदा की गयी है, जो खुले बाजार से चावल खींचकर अंधेरी खत्तियों में भर लेने के कारण पैदा हुई है—

प्रफुल्लबाबू ने कहा—तुम्हारी बात अगर सच हो तो सरकार ऐसे लोगों को ठीक क्यों नहीं करती?

अमूल्य ने कहा : वह क्यों करे ? उसके बाप का क्या जाता है ? मरते तो हम आप हैं ? उसे इसका गम क्यों होने लगा ? और फिर वही बड़े बड़े व्यापारी सरकार को भी तो सप्लाई करते हैं, यही लोग तो उसके एजेन्ट हैं, इन्हीं के जरिये तो वह अनाज खरीदती है। बस फिर क्या है, पांचो घी में है। कौन पूछने जाता है कि कितना गल्ला कहां से खरीदा। अगर किसी ने बहुत पूछ-ताछ की तो कोई भी अंट संट बही उठाकर दिखा दी। कौन पता लगाने जाता है कि सरकारी एजेन्ट ने पांच हजार मन चावल खरीदा या पचास हजार। किसी ने अगर ज्यादा सताया तो चाँदी की ईंट से उसका मुंह बन्द कर दिया..यहां से वहां तक सारा का सारा ढाँचा ही सड़ा हुआ है, इसका हो भी क्या सकता है ?

प्रफुल्लबाबू पर थोड़ा असर हुआ, लेकिन वह अपनी जगह से हिलना न चाहते हों, कुछ इसी अंदाज़ में उन्होंने कहा, सारा प्रश्न तो खोखा, इस बात का है कि मेन एम्फैसिस तुम किस जगह पर देते हो !

अमूल्य ने कहा—हमारा मेन एम्फैसिस ब्लैकमार्केट पर है। हां अब आप यह सवाल अलबत्ता मुझसे कर सकते हैं कि ब्लैकमार्केट को रोका क्यों नहीं जाता। ब्लैकमार्केट को रोका इस लिए नहीं जाता कि बगैर जनता के, यानी किसानों के और मजदूरों के और शहर के हम और आप जो लोग हैं उनके सहयोग के ब्लैकमार्केट को रोकना असम्भव है, और उनका सहयोग सरकार किसी काम में नहीं लेना चाहती है, क्योंकि वह साम्राज्यवादी सरकार है, क्योंकि वह अपने साम्राज्यवादी ढाँचे में सूत बराबर भी फर्क़ आने देना नहीं चाहती, क्योंकि वह हमको गुलाम बनाने वाली सरकार है और उसमें इतना दम ही नहीं है कि वह हमारी-आपकी देशभक्ति को उभार सके...बाबा, युद्ध देश का सबसे बड़ा संकट होता है, कुछ थोड़े से नौकरशाह उसका

मुकाबला नहीं कर सकते और जब करने की कोशिश करते हैं तो फिर यही सब होता है जो कुछ हो रहा है . . . सलामत रहें उनके कागज के नोट, वह तो उन्हीं से यह चढ़ी हुई नदी पार कर जाना चाहते हैं, मगर वह कागज की नाव है . . .

प्रफुल्लबाबू ने कहा—मैं और क्या कहता हूं। इन्फ्लेशन . . . . .

अमूल्य ने कहा : हां, इन्फ्लेशन . . . मगर इन्फ्लेशन और ब्लैक-मार्केट एक दूसरे की विरोधी चीजें तो नहीं ? दोनों एक दूसरे की पूरक हैं, दोनों साम्राज्यवादी व्यवस्था की सन्तानें हैं—

सत्य चुपचाप बैठा पिता-पुत्र की इस गरमागरम बातचीत को सुन रहा था। खुद उसके ऊपर अमूल्य की बातों का बहुत असर पड़ा। अकाल के संबन्ध में स्वयं उसके मन में जो कुछ शंकाएं थीं वे अमूल्य की बातों से काफी हद तक दूर हुईं और उसको भी मुंह खोलने का साहस हुआ— दादा, ब्लैकमार्केट तो कोई बहस की चीज नहीं है, वह तो प्रत्यक्ष सत्य है और प्रत्यक्ष का क्या प्रमाण ? आपके इसी शहर इलाहाबाद में जबर्दस्त ब्लैकमार्केट है। आपको एक-एक धोती और एक-एक गज कपड़ा और एक-एक सेर चावल और गेहूं और एक बोतल मिट्टी के तेल के लिए हाय हाय करनी पड़ती है, राशन की दूकान पर जाकर अपना सिर तुड़वाना पड़ता है और आप मुझे माकूल पैसे दीजिए, जो चीज जितनी आप कहें वो लाकर आपके घर में हाजिर कर देता हूं। सारा सवाल बस मुंह मांगे दाम देने का है— अगर ब्लैकमार्केट नहीं है तो ये चीजें आती कहां से हैं ? हां यह जरूर है कि हमको-आपको वह दिखायी नहीं देता—और दिखायी ही दे तो ब्लैकमार्केट काहे का ! यह भी है कि हमारी-आपकी पहुंच उस तक नहीं है, हमसे-आपसे ब्लैकमार्केट का व्यापारी डरता है क्योंकि

हमारे कपड़े उजले हैं और हम अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग हैं, पर वह है तो अपनी जगह पर, अटल, मजबूती से बैठा हुआ। मेरे एक परिचित हैं, उनकी खूब रसाई है वहां। उनकी मार्फत में आपको जो कहिए जितनी कहिए मंगाकर दिखा दूं।

प्रफुल्लबाबू चुप होकर कुछ सोचने लगे।

सत्य ने कहा—'दादा, ब्लैकमार्केट युद्ध का जारज पुत्र है!' और हँसा। प्रफुल्लबाबू भी हलके से मुसकराये पर कुछ बोले नहीं।

अमूल्य ने कहा—चलो सत्य, अपने कमरे में चलकर बैठें, तुमसे कुछ जरूरी बातें करनी हैं।

अपने कमरे में पहुंच कर कुर्सी पर बैठते हुए अमूल्य ने कहा—सत्य, बंगाल से तो अब ये अकाल की बड़ी डिस्टर्बिंग रिपोर्ट्स आने लगीं। हम लोगों को फौरन कुछ करना चाहिए।

सत्य ने कहा—हां इस काम में तो बिलकुल देरी की ही नहीं जा सकती।

अमूल्य ने कहा—मैं सोचता हूं कि तत्काल हम लोगों को अकाल पीड़ितों के सहायतार्थ एक वैरायटीशो करना चाहिए, कुछ गाने, दो एक नृत्य और अगर सम्भव हो तो एक छोटी सी नाटिका—

सत्य को अमूल्य का प्रस्ताव बहुत अच्छा लगा, बोला—अच्छा तो रहेगा। दो ढाई घंटे का प्रोग्राम होना चाहिए?

अमूल्य ने कहा—और क्या।...तो इसका जिम्मा तुम लो।

सत्य ने कहा—मैं तो कामरेड, मजदूरों में काम करना चाहता हूं, मुझे ऐसे कामों में न तो कुछ खास रुचि है और न रत्ती भर अनुभव। ......इसके लिए मेरा खयाल है सुशील बहुत अच्छा रहेगा। नाच-गाने में ही तो उसके प्राण बसते हैं।

अमूल्य ने अविश्वास के स्वर में कहा—सो तो ठीक है, मगर सुशील बड़ा बोहीमियन है, उसको कोई जिम्मेदारी देते डर लगता है। और यह काम बहुत जिम्मेदारी का है।

सत्य ने कहा—जैसा समझो।

अमूल्य ने पूछा : कब तक कर सकोगे ?

सत्य ने कहा : वह अभी कैसे कह सकता हूं। लोगों से मिलकर तय करना पड़ेगा।

अमूल्य ने कहा : वह सब झोल बात है। वैसे कभी कुछ नहीं होगा। खुद तुम्हारे दिमाग में एक डेडलाइन होनी चाहिए कि अमुक तारीख तक शो जरूर दे दूंगा, जरा भी ढील डालने का समय नहीं है।

अमूल्य की बात सत्य को थोड़ी अखरी। बोला—ढील से तो मुझे खुद सख्त नफरत है, जो काम हो चौकस हो।

अमूल्य ने कहा : इसीलिये तो मैंने पूछा, कब तक कर सकोगे, सोचकर बताओ।

सत्य का मन आश्वस्त हुआ, अमूल्य के मन में कोई बुरा भाव नहीं था, वह उसका तरीका ही है। कोई एक मिनट की खामोशी के बाद उसने कहा—पन्द्रह दिन तो लगेगा ही, कम से कम, गाने वाले ढूंढने होंगे, आर्केस्ट्रा के लिये बात करनी होगी, नाचने के लिये पता नहीं कोई मिलता भी है कि नहीं ....

अमूल्य ने थोड़ी बेसब्री से कहा—वह सब तुम अपना घूमकर पता लगाओ, मुझसे जो कुछ करने कहोगे, करूंगा। पर शो मुझे पन्द्रह जुलाई तक चाहिए ही चाहिए—आज २९ जून है ....

सत्य ने कहा—बीस तक रक्खो, युनिवर्सिटी तब तक खुल गयी रहेगी।

सत्य ने सचमुच यह सब काम कभी नहीं किया था, लेकिन पार्टी ने जब यही काम दे दिया तो फिर इसी में ही जी जान से लग गया। यहां सवाल नृत्य-गीत का तो था नहीं। यहां तो सवाल था बंगाल के अकालपीड़ितों को इमदाद भेजने का। उम्मीद थी कि अच्छे पैसे इकट्ठा हो जायंगे : युनिवर्सिटी तब ताजी ताजी खुलेगी, लड़के आ ही गये रहेंगे, उनकी गिरह में पैसे भी होंगे। सिनेमा थियेटर का, नाच-गाने का शौक यों ही सबों को बहुत होता है और फिर इसमें तो अकाल-पीड़ितों की सहायता की भी बात है। एक पंथ दो काज। ठीक रहेगा, लड़कों से काफी पैसे वसूल किये जा सकेंगे।

सत्य ने जान लगाकर काम किया। वह कितना ही कुछ करता उसके मन को जैसे सन्तोष ही न होता, कोई उसके अन्दर बैठा बैठा जैसे उसे एड़ लगाया करता—और तेज और तेज और तेज...

नन्हें नन्हें बच्चों की आँखों के नीचे हल्के हैं, उनके पेट के भीतर भट्ठियाँ धधक रही हैं, उनकी आँखों में भूख का रेगिस्तान है, भूख की वहशत, भूख की दहशत..उनकी समझ में भी ठीक से न आता होगा कि वह कैसे रहते हैं रहते हैं और फिर वहीं उसी फुटपाथ पर पेट में एक भयानक दर्द और ऐंठन लिये (कभी चीखते-कराहते और कभी यह भी नहीं!) उसी तरह ढेर हो जाते हैं, कुम्हलाकर गिर जाते हैं जैसे कोई गुलाब की एक नन्हीं कली की डंठल पर बाँस की एक खपाची से सन्न से हाथ चलाये, तलवार चलाने की तरह और कली गिर कर जमीन में लोटने लगे! सत्य को बच्चों के बारे में बिल-कुल ऐसा ही एहसास होता, बच्चे आखिर क्या समझें कि उनके पेट में यह कैसी आग जल रही है, यह दर्द कैसा है, शरीर की एक एक मांसपेशी का यह टूटना कैसा, यह किसने उन्हें शिकंजे में कस दिया, यह किसने उनमें ऐंठन भर दी, यह कौन हाथ था जिसने उनका गला

घोंट दिया। जिन्हें भूख लगने पर एक मिनट को सब्र न होता था उन्हें अब सब्र ही सब्र था, उनकी आँखों में बस एक इन्तजार जिसका कहीं अन्त न था, जो काली चिकनी सड़क की तरह चलता चला गया था, दूर दूर दूर दूर..और बस फिर जैसे आसमान की नीली घुलावट में खो गया हो...आसमान की नीली घुलावट यह आँखें ही तो नहीं... उनकी ये ठहरी हुई पथराती हुई पुतलियाँ जो दूध का या भात का या लंगरखाने की खिचड़ी का इन्तजार करते-करते पथरा गयीं... इन्तजार का ठोस नीला आसमान ये पुतलियाँ... नहीं सत्य, इतना नहीं और तेज़ और तेज़ और तेज़ ...

सत्य को ऐसा लगता जैसे किसी ने अपने नाखूनी पंजों से उसका दिल बड़ी निर्दयतापूर्वक मसल दिया हो। 'भूख की मौत...परमात्मा दुश्मन को भी यह सज़ा न दे। वह दर्द दूसरा आदमी क्या कभी समझ सकता है!

भूख से दम तोड़नेवाली जवान, साँवली लड़कियों का खयाल आते ही एक दूसरी ही तसवीर उसकी आँखों में फिर जाती। एक ओर बाँस की नर्म कोंपल की तरह उनका चेहरा नीला और हलका हरा सा ताज़ा ताज़ा चेहरा, उनका गठा हुआ, खेत की धूप और मिट्टी से तैयार, कसा हुआ शरीर, उनकी काली काली बड़ी बड़ी आँखें, उनके लम्बे लम्बे बाल -- और दूसरी ओर अर्द्धनारीश्वर के समान, सिर से पैर तक दो बराबर हिस्सों में बंटी हुई एक दैत्य आकृति...एक हिस्से का चेहरा पत्थर की सिल के मानिन्द, क्रूर और बेजान और मगरूर, हाथ अपनी बन्द मुट्ठियों में इन्सान की ज़िन्दगी को दबोचे हुए और बड़े बड़े जंगली नाखूनों वाली उंगलियों से खून टपकता हुआ, दूसरे हिस्से का चेहरा मक्खन या तेल या चर्बी की तरह चिकना, गाल फूला हुआ, एक हलकी सी लाली लिये, आँख में सुर्मा, जिस्म पर रेशमी कुर्त्ता सोने की बटन-लगा, और उंग-

लियों से पसीने की तरह कोई लिजलिजी चीज़ चूती हुई जो भीतर की वासना है जो बाहर आ गयी है और पैर उद्दाम काम का बोझ संभालने में असमर्थ, काँपते हुए—

सत्य का सिर चकराने लगता। नादान बच्चे मौत की साज़िश को न समझते हुए, निगाहों में अजब एक हैरानी और बेबसी लिये, जलती हुई सड़कों के फुटपाथों पर एक कोने में पड़े दम तोड़ते हुए; और जवान लड़कियाँ जाल में फंसी मछलियों की तरह छटपटाती हुई, वहशियों के उजले बिस्तरों पर दम तोड़ती हुई या राह चलते सफ़ेद-पोश उचक्कों की भूखी निगाहों के नेज़े अपने उभरे हुए सीनों पर झेलती हुई।

यह था बंगाल का अकाल, इन्सानियत का काल, मुनाफ़े का जाल, जीना है जंजाल, आदमी भूख से बेहाल, भेड़ियों के मुंह में राल, उनके लाल लाल गाल जैसे किसी ने मल दी गुलाल, उनकी जेबों में माल, इनके लम्बे लम्बे बाल, उंगलियाँ जैसे कमल की नाल, राक्षसों ने अपने सोने के कलशों के गिर्द मढ़ ली हजारों कुँआरियों की आबरू की खाल.....

सत्य के सामने सवाल सिर्फ़ शो की तैयारी का नहीं, टिकट बेच-कर अच्छे पैसे खड़े करने का भी था। दूसरे साथियों को भी टिकटों की बहियाँ पकड़ा दी गयी थीं कि वे अपने दोस्तों और पार्टी के हमदर्दों और आम जनता से बंगाल के अकाल के नाम पर चन्दा इकट्ठा करें। सभी साथी उसके लिये कुछ न कुछ कर रहे थे मगर असल ज़िम्मेदारी तो सत्य ही की थी। यह चन्दा इकट्ठा करने का काम उसने ज़िन्दगी में किया नहीं था, उसे बड़ी मुश्किल मालूम हो रही

थी। क्या कहे यह तो अपनी जगह पर बिलकुल ठीक है 'अकाल कोई छोटी बात नहीं है' मगर कैसे कहे और किससे कहे। अगर कोई मुंह बिचकाकर भीतर घर की ओर चल दे तो उस हालत में क्या करे—यह सारी बातें सोच सोचकर उसको हौल होता था। अपने काॅज की अच्छाई को जानकर समझकर भी........यह किसी के आगे मुंह खोलना ही तो सबसे बड़ी विपत्ति है......मुझे तो गुस्सा आ जाय अगर कोई आदमी मेरे संग बदतमीजी से पेश आये। मैं तो ऐसे आदमी को सरीहन् उसके मुंह पर गालियाँ सुनाऊं और चार झाँपड़ रसीद करके घर चला आऊं.....चूल्हे में जायें ये टिकट-फिकट, लोगों में जब इन्सानियत ही नहीं....सारी ही बातें उसने सोच डालीं, दुनिया-जहान की सारी अच्छी बुरी शंकाओं ने एक साथ उसके ऊपर छापा मारा जैसा कि वे सदा ही कमजोर आदमियों के संग करती हैं, कहीं किसी आदमी में कोई कमजोरी देखी नहीं कि बस फिर कुछ पूछिए मत। सत्य का मन इस चन्दे के सवाल पर बड़ा कमजोर था बस फिर क्या था सारी होनी-अनहोनी बातें एक साथ उसके दिमाग में कौंध गईं। अगर उसे पता होता कि यह चन्दे वाला झमेला भी उसके सिर पड़ने वाला है, तो वह ऐसा बगटुट भागता कि अमूल्य को उसकी बू-बास भी न मिलती कुछ रोज। मगर अब तो वह ढोल गले पड़ ही गयी, अब बजाये बगैर कैसे बने। सत्य ने जिम्मेदारी से मुंह चुराना भी नहीं सीखा है, शुरू से ही जिम्मेदारी उठाते उठाते जिम्मेदारी उठाने की एक अनायास निष्ठा भी उसके चरित्र का अंग बन गयी है।....लिहाजा उसने सोचना शुरू किया कि कैसे किया जाय। उसने इतना तो समझ लिया कि अकेले ठीक बनेगा नहीं, किसी को साथ लेना चाहिए और किसी को साथ लेने का खयाल आते ही राज उसके सामने आकर खड़ी हो गयी। सत्य मन ही मन मुस्कराया—अब जम गयी बात। अब जरूर कुछ हो जायगा।

दूसरे दिन छः साढ़े छः बजे ही वह राज के यहाँ जा धमका। राज

ने अभी बिस्तर भी नहीं छोड़ा था। लेटे लेटे ही बोली—आज इतने सबेरे सबेरे कैसे ?...और बड़े इत्मीनान के साथ तकिये में और ज़ोर से सिर गाड़ती हुई, पैर को हलके से समेट कर, मुस्कराते हुए बोली—तुम भी कैसे भूत हो सत्य ? सबेरे ही के पहर तो ज़रा मज़ा आता है, कुछ थोड़ी ठंड हो जाती है न, रात तो तड़पते गुज़र जाती है— –

सत्य ने कहा—मैं तो रात को नहीं तड़पता राज ! ...और जवाब में मुसकराया।

राज ने थोड़ा लजाते हुए कहा—मैं तो गर्मी की बात कह रही थी उल्लूराम ! ....और मुसकरायी।

मैं भी तो गर्मी की ही बात कर रहा था रानी जी !....और मुसकराया।

राज ने जैसे डपटते हुए पूछा—तुम्हें नींद आ जाती है रात को ?

घोड़ा बेचकर सोता हूँ, घोड़ा बेचकर ! उधर बिस्तर से पीठ लगी इधर आँख लगी, दोनों काम एक साथ होता है, और बस आँख लगी और सबेरा हो गया एक करवट में.....गर्मी नहीं गर्मी का बाप हो, तड़पना किस चिड़िया को कहते हैं मैं नहीं जानता

तुम अभी बच्चे हो न सत्य, इसीलिये ऐसा होता है ।

और तुम कबसे बुढ़िया दादी बन गयीं ?....

वह तो अब पुरानी बात हो गयी——

अच्छा....तब तो फिर अब पाँव क़ब्र में लटके होंगे ?

'उसमें भी अब कोई कसर है ?' राज ने कहा और कहने के साथ ही उसका न जाने कैसा सा चेहरा बन गया, जैसे यह कहते कहते ही वह बुड्ढी हो गयी और उसने क़ब्र में पाँव सचमुच लटका दिये हों। चेहरा कुछ अजीब विकृत-सा हो गया और न जाने कितने युगों की थकान का गहरा सा लेप उस पर चढ़ गया। सत्य तो थोड़ी देर तक उसे

भौचक होकर देखता रहा, उसकी समझ ही में न आया कि देख क्या रहा है। बस इतना उसकी समझ में अच्छी तरह आ गया कि यह एक अप्रिय प्रसंग है और इसे यहीं इसी दम बन्द कर देना चाहिए। उसने राज की बात का कोई जवाब नहीं दिया, मगर उसका दिल बराबर उससे सवाल करता रहा, आदमी का दिमाग कैसे कैसे अजीब ढंग से काम करता है। यही हाल रहा तो यह राज जल्दी ही पागल हो जायगी।

उसने कहा: तुमने तो आज, राज, आते ही आते लड़ाई छेड़ दी!

राज ने कहा: लड़ाई मैंने छेड़ी कि तुमने?

सत्य ने कहा: मैं तो तुम्हारे पास एक जरूरी काम से आया था।

राज: जरूरी काम से? मेरे पास?

सत्य: क्यों तुम अपने को किसी काम का नहीं समझतीं क्या?

मेरी जिन्दगी ने खुद मुझे उठाकर घूर पर फेंक दिया है!

'तुम अब यह अपना फिलासफी छांटना बन्द करोगी या नहीं?' सत्य ने डाँटते हुए कहा, अकेले तुम्हीं पर दुखों का पहाड़ नहीं टूट पड़ा है।....बंगाल में अकाल पड़ा हुआ है, लोग पेड़ की छाल और पत्ते और घास खाकर जी रहे हैं, पता है न तुम्हें? माँ अपने बेटे का कौर छीनकर खा रही है, बाप अपने हाथ से अपनी लड़की को रंडी के दलाल के हाथ बेच रहा है, इंसान एक-एक दाने के लिये कुत्तों की तरह आपस में लड़ रहे हैं....और तुम्हें बस अपनी पीड़ा दिखायी देती है। अपने चारों ओर देखो यह अनन्त अछोर पीड़ा, पीड़ा का अथाह पारावार।

बस बस बंद करो अपना लेक्चर...

मैं तुम्हें लेक्चर देने नहीं आया हूं। मैं आया हूं तुमसे बिनती करने

कि अपनी तकलीफ को सारी दुनिया की तकलीफ़ के साथ एक कर दो। खुद अपनी तकलीफ़ से छुटकारा पाने का भी कोई और रास्ता नहीं है राज! मैं तुमसे कहने आया हूं कि मरते बंगाल के लिये तुम भी मेरे साथ कुछ काम करो।

मुझसे कुछ नहीं होगा सत्य।

होगा कैसे नहीं। तुमसे नहीं होगा फिर किससे होगा?

तुम बड़े जिद्दी हो सत्य। तुम किसी के हाल पर रहम नहीं खाते।

मैं जानता हूं मैं किससे क्या माँग रहा हूं राज—सत्य ने बिस्तर पर उठकर बैठी हुई राज की आँख में आँख डालकर कहा।

राज ने कोई बचत न देखते हुए, अगत्या कहा—अच्छा चलना ही है तो शाम को चलेंगे—जिन दो-चार लोगों से मेरी जान पहचान है उन से ले जाकर तुम्हें मिला दूंगी। बस मेरा काम खत्म। मुझसे और कुछ करने को न कहना।

वह तो मैं सब कर लूंगा गो यह मत समझना कि मुझे झिझक नहीं मालूम होती लोगों के सामने जाकर हाथ फैलाने में, वह किसी काम के लिये क्यों न हो। लेकिन मैं कहता हूं मैं तो इधर अपना लजाधुरपन लेकर बैठूं और उधर नन्हें नन्हें बच्चे एक-एक बूंद दूध के लिए दम तोड़ें! नहीं, यह ज्यादती है। यहाँ से वहाँ तक आग का यह जो झुरमुट तैयार हुआ है न, मैंने अपनी सारी झेंप-झिझक उसी में झोंकनी शुरू कर दी है, कहते कहते सत्य अपने खयाल में खोया हुआ सा बहुत दूर की किसी चीज को देखता रहा। थोड़ी देर खामोशी रही, फिर सत्य ने जैसे होश में आते हुए हलके से, बहुत ही हलके से चौंककर कहा—हाँ तो लोगों से कहना-सुनना तो मैं सब कर लूंगा, लेकिन तुम्हें चलना जो है न वह शाम को नहीं अभी इसी वक्त होगा, शाम को मुझे दूसरा काम है।

अच्छे सूदखोर काबुली हो——मगर मैं नहीं जाती, जाओ, कोई जबरदस्ती है।...राज ने मान करते हुए कहा।

नहीं जाती — अच्छा...कहकर सत्य राज से ऐसे जा गुंथा जैसे दोनों अभी छोटे छोटे बच्चे हों।

राज ने एकदम बेकाबू होते और हंसते हुए कहा—तुम तो बड़े बुरे आदमी हो सत्य, तुम्हारी तो अगर किसी लड़की से शादी हो जाय तो तुम तो उसकी जान ही निकाल लो, बिलकुल अपनी लौंडी बनाकर छोड़ो।

और नहीं क्या शंकर जी की बटिया की तरह उठाकर घिनौची पर रख दूं और दही अच्छत से पूजूं! कहकर सत्य ने फिर राज को छेड़ना शुरू किया। राज खिलखिलाती थी और चाहती थी कि सत्य इसी तरह उसको गुदगुदाता और चुटकी काटता और छेड़ता रहे। पता नहीं अभी और कितनी देर तक दो नादानों का यह खिलवाड़ जारी रहता जबकि -

अंगनाई में दाखिल होते हुए एक गोरी सी तरुणी ने कहा, बहन जी अभी उठीं नहीं आप!

राज का चेहरा तो ऐसे फक हो गया जैसे किसी ने उसपर घड़ों पानी डाल दिया हो, इस वक्त यह कहाँ आ मरी....क्या कहेगी अपने दिल में, कहेगी बहन जी के यहाँ ये ये गुल खिलते हैं!

इस तरुणी के अचानक आगमन से थोड़ी अचकचाहट तो सत्य को भी हुई मगर ज्यादा नहीं। राज के चेहरे पर तो जैसे कोई सेंदुर मल गया या जैसे तेज रोशनी में किसी लाल कागज का अक्स उसके चेहरे पर पड़ रहा हो। उस एक सेकंड में निगाहों का जो लेन-देन हुआ उसमें सत्य ने जैसे राज को उलाहना दिया: अरे जब अपने मन में चोर नहीं तो इतना घबड़ा क्यों उठी हो तुम! यह तो एकदम निष्पाप खेल था।

राज ने निगाहों-निगाहों में ही उसे जवाब दिया : पाप और निष्पाप का निर्णय इतना आसान होता तो फिर बात ही क्या थी ... और फिर, गधे, दुनिया तर्कों से नहीं इन्हीं इक्का-दुक्का इम्प्रेशन्स के सहारे चलती है।

राज ने निगाहों ही निगाहों में जवाब तो दे दिया मगर सत्य के सरल-सहज आचरण ने उसे भी कुछ न कुछ आश्वस्त किया। राज ने कुछ कुछ अपने ऊपर काबू पाते और बिस्तर से उठते हुए कहा : अरे उषा तुम यह आज सुबह सुबह ? ....चलो चलो अंदर कमरे में बैठें..., कहते हुए राज आगे आगे चली। राज ने परिचय कराने का सिलसिला जारी रखते हुए कहा : यह है मेरा बड़ा नटखट भाई सत्यवान, मुझे बहुत सताता है और सत्य, यह है उषा मालवीय.. मेरी छात्रा रह चुकी है, इस वर्ष बी० ए० के दूसरे साल में है। क्यों न उषा ?

उषा ने हामी भरी।

सत्य ने उषा को और उषा ने सत्य को नमस्कार किया।

नमस्कार करते हुए सत्य ने पहली बार उषा को ध्यान से देखा—साफ गोरा रंग मगर बहुत गोरा नहीं, बड़ी बड़ी आँखें, बहुत खूबसूरत नाक, चौड़ा सा माथा, छोटा कद, छरहरा बदन।

उसको देखकर सत्य को ऐसा तो जरा भी नहीं लगा कि यह कोई असाधारण रूपसी, उर्वशी या मेनका सामने आ गयी हो जिसे देखकर आदमी की आँख में चकाचौंध लग जाती है, नहीं ऐसी कोई बात नहीं। मगर तब भी, सत्य सोचता रहा, इस चेहरे में यह इतना आकर्षण काहे का है। क्योंकि इस चीज से वह अपने तईं भी इनकार नहीं कर सका कि देखते ही उषा का चेहरा उसे बड़ा आकर्षक लगा था जैसे कि सारी जिन्दगी में एक ही दो चेहरे लगे होंगे। इसलिए जब राज उषा से उसका परिचय करा रही थी तो सत्य जंगली हूश

की तरह, बड़े गौर से उषा के चेहरे को देख रहा था और अन्दर ही अन्दर इस सवाल से उलझ रहा था कि यह चेहरा क्यों इतना आकर्षक है बल्कि यह कि यह लड़की इतनी आकर्षक क्यों है, क्योंकि बात अकेले चेहरे की नहीं है। देखते ही यह चेहरा उसकी आँख में खुब गया था, उसका वह चन्दन का सा शीतल सुगन्धित सौंदर्य, मन और शरीर को झुलसा देने वाली आग जैसे रूप से कितनी भिन्न !

अन्दर जाकर जब सब लोग बैठे तब भी सत्य अपने आप में ही खोया हुआ था। इसीलिए जब राज ने परिचय कराते हुए कहा :... इस वर्ष बी० ए० के दूसरे साल में है तो सत्य जैसे आसमान पर से गिरा क्योंकि बड़ी मुशकिल से जिस उलझे हुए सूत के गोले का एक छोर उसके हाथ आया था वह फिर उसके हाथ से जाता रहा। यह एक किशोरी का भोला सा चेहरा है, सत्य अपने प्रश्न की इसी मीमांसा पर पहुंचा था और 'बी० ए० के दूसरे वर्ष में पढ़ रही है' ने उसे फिर आघात लगाया, क्योंकि सत्य के नज़दीक इन दोनों बातों का कुछ अच्छा मेल नहीं बैठता था। मगर इस आघात को सहकर भी वह उसी डगर पर बढ़ता रहा और उसने अपने मन में कहा : वह जो भी हो यह एक किशोरी का चेहरा है—यही इसका गहरा आकर्षण है। किशोर सरलता और सलज्ज गांभीर्य का ही वह विचित्र सा रासायनिक संमिश्रण है जिसका एक गहरा-सा लेप किसी ने बड़े दुलार से इस पर चढ़ा दिया है। सत्य ने प्रश्न की मीमांसा तो कर ली मगर मन आश्वस्त नहीं हुआ। यह चौदह पन्द्रह साल की छोकरी बी० ए० के दूसरे वर्ष में पढ़ती है ! सत्य को उषा चौदह पंद्रह से ज्यादा किसी हालत में लगती ही न थी—शरीर की गठन भी तो कोई चीज़ है।...और तब भला वह बी० ए० के दूसरे वर्ष में कैसे पढ़ सकती है ? इसे तो हद से हद नवीं दसवीं की छात्रा होना चाहिए था ! अभी तो इसके मुंह से दूध की बू भी नहीं गयी होगी !

देखते नहीं इसके होंठ, गुलाब की पंखुरियों जैसे गुलाबी-गुलाबी गीले गीले...यानी अभी औरत भी तो नहीं हुई यह, छोकरी ! खद्दर की एक पतली -सी सफेद साड़ी और नीली जमीन पर छोटे छोटे सफेद चारखानों का ब्लाउज पहने यह लड़की बी० ए० के दूसरे वर्ष में पढ़ती है, हुं : भैया की बातें ! कहीं पढ़ती ही न हो !!

थोड़ी ही देर बैठकर उषा चली गयी। एक अपरिचित आदमी को देखकर यों भी उसके मुंह पर ताला जड़ गया था, ऊपर से सत्य एकदम अपने आप में ही लिपटा-लिपटा सा ऐसा बैठा रहा कि बात-चीत की ज्यादा गुंजाइश ही नहीं थी।

उषा चली गयी तो राज ने चुटकी ली : उषा को देखकर तुमको हो क्या गया सत्य ? ऐसा लगता था कि आँखों आँखों में ही उसे उठाकर खा जाओगे ! कहती होगी बड़ा जंगली आदमी है !

सत्य ने बिना झेंपे कहा—उंह, कहने दो तो। मैं यह पता लगाने की कोशिश कर रहा था कि यह चेहरा आखिर सादा होते हुए भी इतना आकर्षक क्यों है।

राज ने पूछा : तो तुम्हें यह चेहरा बहुत आकर्षक लगा ?

सत्य ने कहा : बहुत, ऐसा वैसा नहीं, बहुत।

राज की आँखों में एक हलकी सी शरारत की चमक आयी। सत्य ने उसको पहचाना और ज़रा लजाया। और उठकर राज को हलके से एक धौल जमाते हुए बोला—बीबी जी, यह आप आँखों ही आँखों में मुसकरा क्यों रही हैं ?

राज ने शरारत के रंग को और गाढ़ा करते हुए कहा—कहाँ ? मैं तो नहीं मुसकरा रही हूं।

सत्य ने कहा—मैं इतना गधा नहीं हूं। मैं भी कुछ समझता हूं......। वैसी कोई बात नहीं है।

राज ने कहा—हो भी कैसे सकती है भला !

सत्य ने कहा—देखो राज, ठीक न होगा। अब तुम पिटोगी मेरे हाथ से।

राज ने कहा—तो मैं नहा धो लूं तो फिर हम लोग चलें उषा के घर। ....

सत्य ने कहा—तुम बाज़ नहीं आओगी अपनी शरारत से ?

राज ने कहा—तुम तो खामखा भड़कते हो!..तुम्हारे उस काम के लिए, वैरायटी शो का टिकट....

सत्य ने कहा—नहीं, आज वहाँ जाना ठीक नहीं होगा।

राज ने बहुत भोलेपन से पूछा—क्यों ? मैं तो आज सचमुच सबसे पहले तुम्हें उषा के यहाँ ही ले जाने वाली थी।

सत्य ने कहा—अब तो कहोगी ही ऐसा।

राज ने कहा—क्यों, अब कोई ख़ास बात हो गयी है क्या ?

सत्य—नहीं...मगर आज उनके यहाँ नहीं जाऊंगा।

राज ने उसी तरह शरारत के ढंग से एक नन्हीं सी बच्ची की तरह इसरार करते हुए कहा—क्यों नहीं जाओगे उनके यहाँ ! ऐसी भी भला क्या बात हो गयी ?

बार बार उड़ाने पर भी मक्खी के आ आकर नाक पर बैठने से आदमी को जैसा लगता है, कुछ कुछ वैसा ही सत्य को भी लगा। उसने उठकर राज को नोचते हुए और उसका कंधा पकड़ कर ज़ोर ज़ोर से हिलाते हुए कहा—बात यही है कि कुछ बात नहीं है।

राज ने मुंह बनाते हुए कहा—यह नोचने बकोटने की सैया नहीं। मुंह से बात करो।

७

अमूल्य के दो भाई थे। एक भाई तो अभी बहुत छोटा था, यही तेरह–चौदह साल का, सी०ए० वी० हाई स्कूल में आठवीं में पढ़ता था। उसका नाम था ज्योतिर्मय । सब उसे ज्योति पुकारते थे। क्लास के लड़के नाम बिगाड़कर उसे "जूती" पुकारते थे। अमूल्य का दूसरा भाई सुव्रत उससे सिर्फ तीन साल छोटा था और बी०ए० में पढ़ता था। उसका बुलाने का नाम था टुटु। अपने नाम के मारे इस बेचारे की भी बड़ी छीछालेदर थी। मुहल्ले-टोले के जो ज्यादा मेली लड़के थे सब के सब उसे तूतू कहकर बुलाते थे। टुटु यों भी बड़ा लजीला लड़का था, किसी से मिलते तो उसकी जान पर बनती थी, उस पर जब लड़के तूतू कहकर बुलाते तो उसका बड़ा बुरा हाल हो जाता। यों यह पहले की बात है, अब तो बड़ा हुआ, शायद ही अब कोई उसे चिढ़ाता हो। बहरहाल, उसका सबसे प्यारा शगल था पढ़ना और जब देखो वह अपनी कोठरी बन्द किये कुछ पढ़ रहा है। बड़ा शीलवान, शान्त, आज्ञाकारी लड़का था। उसके जिम्मे घर का सिर्फ एक काम था, बाजार से साग भाजी लाना और इस काम को सबेरे ही सबेरे पूरा करके फिर सारा दिन किताबें ही उसकी संगी रहतीं। ज्योति का स्वभाव उसका बिलकुल उलटा था, कोई भी किताब देखकर उसे बुखार चढ़ आता था। अपने क्लास की किताबें तो जैसे वह छूता ही न था, दूसरी भी किसी किताब से उसे कुछ उन्स न था। उसका अकेला काम था मुहल्लों के लड़कों के साथ गोली या गुल्ली डंडा खेलना, कभी इसके

साथ, कभी उसके साथ मारपीट करना। इस मारपीट में वह बड़ा हातिम था और इसी की वजह से वह अपने मुहल्ले के लड़कों का लीडर था, उसकी मर्जी के खिलाफ उसके मुहल्ले की उस लड़कों की दुनिया में एक पत्ता भी नहीं डोलता था। और कोई अगर उसकी मर्ज़ी के खिलाफ़ गया तो समझिये उसके हाथ पाँव की खैर नहीं। जिस्म से वह ऐसा कुछ बहुत तगड़ा नहीं था, औसत लड़कों जैसा हीं उसका शरीर था। मगर मारपीट करने के लिये उन हाथों में पता नहीं कहाँ से क़ूवत आ जाती थी। अपने से ड्योढ़े लोगों से भी वह बिना झिझके बे-खटके भिड़ जाता था और अगर कभी पिट भी जाता था तो अकसर पीट भी लेता था। उसका शरीर शायद ही कभी लड़ाई के घावों से खाली होता, कभी कोई नीला दाग होता कभी कोई, कभी आँख सूजी हुई होती, कभी गाल छिला हुआ होता, कभी कोई ऊंची दीवार फांदने में पैर में मोच आ जाती, कभी और कुछ। यह उसका रोज़ का धन्धा था। उसकी माँ का जी सदा डरता रहता कि पता नहीं आज लड़का सही-सलामत लौटता है कि नहीं। और शायद ही कभी ऐसा होता हो। वह लड़का दौड़-भाग, कूद-फांद मार पीट के लिये बनाया ही गया था और उसी में उसके प्राण बसते, उसके बाहर की हर चीज़ उसके लिये फीकी थी, एकदम नीरस जैसे चूसकर फेंकी हुई गँड़ेरी की खोई। स्कूल में उसने न जाने कितने "जूती जूती" कहकर चिढ़ाने वालों को पीट पीट कर ठीक कर दिया था।

अमूल्य की माँ अपने सभी बेटों में सबसे ज्यादा चाहती भी इसी ज्योति को थीं। शायद इसीलिये कि वही सबसे छोटा था वर्ना माँ भला कब किसी को कम और किसी को ज्यादा चाहती है।

अमूल्य की माँ दोहरे बदन की स्त्री थीं। यों देखने में स्वस्थ भी मालूम होतीं, मगर वह थीं दिल की मरीज़। उनको जब दौरा पड़ता

तो ऐसा भयानक दर्द उनको अपनी छाती में मालूम होता कि वह सुध-बुध खोकर चिल्लाने लगतीं। उनको बस ऐसा लगता कि कोई उनकी छाती में बरमा लगाकर उसमें सूराख किये चला जा रहा है या मोटा सा कीला बिठालकर उसे हथौड़े से भीतर घुसा रहा है। साँस भी बहुत भारी चलने लगती और आँखें भी दम घुटने की तरह से बाहर निकली पड़तीं। और अकसर ये दौरे उन पर पड़ते रहते। और तब उन दिनों घर के सभी लोगों की आँखों से नींद उड़ जाती। प्रफुल्लबाबू को अपनी जगह पर इस बात का पूरा यक़ीन था कि एक रोज़ ऐसे ही किसी दौरे में अमूल्य की माँ का दम निकल जायगा। हर तरह की दवा करके हार गये थे, किसी से कुछ लाभ न हुआ था। अन्त में अब प्रफुल्लबाबू हार थककर उनकी बीमारी को भी एक तरह की नियति मानकर चुप होकर बैठ गये थे, करवाने को उनका इलाज करवाते अब भी थे मगर बग़ैर किसी उम्मीद के। इलाज करवाते इसीलिए थे कि उनका इस तरह से छुरे की चोट खाये जानवर की तरह ज़मीन में लोटे लोट कर छटपटाना उनसे देखा न जाता था और डाक्टर शफ़ा दे चाहे न दे शफ़ा की उम्मीद तो देता ही है और उम्मीद ही पर तो दुनिया क़ायम है। बहरहाल, प्रफुल्ल बाबू को ज़िन्दगी की दूसरी चिंताओं के साथ साथ स्त्री की बीमारी की भी एक बड़ी चिन्ता थी।

आज जब सत्य अमूल्य के यहाँ गया तो सब का हाल बुरा हो रहा था। रात माँ को दौरा पड़ा था। और एक अकेले ज्योति को छोड़कर दूसरे किसी ने आँख भी नहीं झपकायी थी। प्रफुल्लबाबू आँख मींचे आराम कुर्सी पर लेटे हुए थे, उनका चेहरा रात के जागने से एकदम खड़िये जैसा हो रहा था।

८

पिछली मुलाक़ात के दो रोज़ बाद सत्य और राज सबेरे ही सबेरे उषा के घर पहुंचे। उषा का घर वहीं जार्जटाउन में राज की बँगलिया के पास ही था, मुशकिल से डेढ़ फर्लांग। उषा का बँगला भी खास बड़ा नहीं था, छोटा ही कहना चाहिए, बस एक परिवार उसमें खूबसूरती के साथ रह सकता था बशर्ते उसे रहने का सलीक़ा आता हो जो कि इस बदनसीब देश में ज्यादातर लोगों को नहीं आता। और आवे भी कहाँ से जब हर वक्त की हाय हाय है, दाने दाने की मुहताजी है, खाने पीने की, रहने-सहने की, रत्ती भर कोई सहूलियत नहीं है, जब अच्छा खाना अच्छा कपड़ा अच्छा घर लोगों को सपने में भी देखने को न मिलता हो तो वह कैसे जानें कि अच्छे ढंग से रहना काहे को कहते हैं। किसी किसी तरह से, बहुत मरखपकर सूखी नमक-रोटी या दाल-रोटी या दाल-भात लायक पैसे जुटा पाते हैं। छोटी छोटी दो तीन कोठरियों और एक छोटे से बरामदे या वैसी ही छोटी सी अंगनाई में तीन पुश्तों के दर्जन डेढ़ दर्जन आदमी, औरत और मर्द और कॅंची-पोटे घुस पिलकर रहेंगे तो वह जगह खामखाह सुअर के बाड़े जैसी हो जायगी, इसमें रहने वालों का क्या क़सूर? और फिर जब सदियों से उनकी जिन्दगी का यही नक्शा हो, तो अगर उन्होंने उसी को जिन्दगी का अकेला नक्शा मान लिया हो, तो भी इसमें उनका क्या क़सूर?

हाँ, अगर आप उनकी बात करते हैं जिनके पास पैसा है मगर फिर भी रहने की तमीज़ नहीं है तो वह एक अलग चीज़ है। वहाँ पर अगर

पैसा है तो दिमाग में पैसे की गर्मी है और आँखों पर पैसे की चर्बी चढ़ी हुई है और सिर में सिवाय पैसा पैदा करने की भयानक बुद्धि के और सब मामला बिलकुल साफ है। जैसे कोरी पटिया। निरे जाहिल-जपट्ट होते हैं ये सूदखोर। इनका जिक्र ही बहस में लाना फ़िजूल है क्योंकि इन्हें इन्सान समझा भी जाय या नहीं, यही विवादास्पद है। उनकी जिन्दगी की अकेली बड़ी चीज पैसा है और उसी को लेकर वे मेंढकों की तरह फूले फूले उचकते फिरते हैं। तो हम भी क्यों न उनकी माकूल इज्जत करें और उस पैसे की ही बिना पर उनको करोड़ों पैसों का एक महाकाय थैला समझ लें जो अपना मुंह सीकर और हाथ पैर केकड़े की तरह भीतर को समेट कर अचल बैठा हुआ है, जिसके पेट में पैसा ही पैसा भरा हुआ है और लगातार फूलता चला जा रहा है और फूलते फूलते एक दिन शायद ऐसा आयेगा कि मशक जैसा वह पेट.......

हाँ तो हम लोग बात इंसानों के रहने सहने की कर रहे थे जहाँ पैसे के इन मशक जैसे फूले हुए थैलों का कोई जिक्र ही नहीं आता, जिन्हें न तो खाने की तमीज है, न कपड़ा पहनने की, न रहने की, पढ़ने लिखने के नाम पर जिनके लिये काला अच्छर भैंस बराबर होता है, जो खाते हैं पूड़ी मिठाई और रबड़ी मलाई, जो पहनते हैं काले घुटनों तक की घी-तेल लगी धोती (जिसकी लाँग सदा खुली रहती है) और सोने के बटन लगी मटमैली सी एक कमीज गदाई, जो रहते हैं ऐसे न रहे जैसे टीमल नाई।

उषा वहीं बगीचे में पौदों की खाद-वाद ठीक कर रही थी, झुकी झुकी खुरपी चला रही थी। सत्य को उस वक्त वह और भी मोहक लगी। आहट पाकर उसने आँखें उठायीं, इन लोगों को देखा, झट उठ खड़ी हुई, थोड़ा झेंपी, फिर नौकर को जो वहीं मैदान में पड़ी खाटें उठा रहा था, कुर्सी बाहर लाकर रखने को कहा। अपने आने

का मक़सद मुंह से निकालते सत्य की जान पर बनी, मगर खैर ज्यादा देर नहीं लगी उसे प्रकृतिस्थ होते, बात उसने कह ही डाली और कह जाने के बाद उसने महसूस किया कि जैसे उसकी ज़बान पर लगी फफूंद छूट गयी हो, कि जैसे कुछ मकड़ी के जाले टूट गये हों, कि जैसे उसका आत्मविश्वास बढ़ गया हो।

उषा ने दस रुपये लाकर दिये।

सत्य का वैरायटी शो बहुत कामयाब रहा, दोनों ही नुक्तों से। शो अच्छा भी था, दूर बैठे हुए लोगों के सामने भूख से मरते हुए बंगाल की तसवीर खड़ी करने का, उनके दिलों में बंगाल का दर्द उठाने का जो काम था, उसे उन नाचों ने, गानों ने बहुत अच्छी तरह पूरा किया; दूसरे पैसे भी अच्छे उठे थे। कुल सोलह सौ इक्यासी रुपये मिले, जो कि एक शो के लिहाज़ से कुछ बुरी रक़म नहीं थी।

उषा और राज भी सामने की सीटों पर बैठी हुई थीं। आखिरी चीज़ एक बैले (मूक अभिनय) था। मंच पर काले पर्दे की पृष्ठभूमि में चावल के एक भारी बोरे की तरह अचल बैठा हुआ था एक चिकने चेहरे का बनिया जिसके सिर पर पगड़ी थी जिसके ऊपर थी लाल लाल फुंदनेदार तुर्की टोपी जो बड़े नाज़ के साथ बैठी हुई थी और उसके भी ऊपर था एक टाप हैट - - -और इस आकृति के सामने नाच रहा था अकाल-पीड़ित बंगाल जो दम तोड़ रहा था, जिसकी रगें टूट रही थीं, जिसकी आंखों में दर्द था, जिसके पैर लड़-खड़ा रहे थे.....और लाउडस्पीकर पर सुनायी दे रही थी सत्य की आवाज़ : ....बंगाल नहीं मरेगा नहीं मरेगा बंगाल नहीं मरेगा ....जिन्होंने उसके मुंह का कौर छीना है उन्हें उसका बदला चुकाना होगा, उन्हें जवाब देना होगा, हम उनसे जवाब माँगते हैं......

पर्दा गिर गया। हवा में सत्य की आवाज़ गूंजती रही।

दो मिनट बाद सत्य वहाँ आया। जहाँ उषा और राज बैठी हुई थीं। उषा ने कुछ नहीं कहा। राज का चेहरा उदास था। मगर सत्य को देखकर प्रसन्न होने की सच्ची कोशिश करते हुए उसने कहा—तुमने तो समाँ बाँध दिया। ...फिर चिढ़ाने के लिये जोड़ा—मैं तो समझती थी तुम यों ही इधर उधर लुढ़कते फिरते हो!

सत्य ने कहा—You want to say I am a rolling stone. But I'm afraid you are not quite right. I have gathered some moss, a good bit I should say..पूरे सोलह सौ रुपए!

राज—वही तो मैं भी कहती हूं—

सत्य—तुम कुछ नहीं कहती हो, तुम बहुत शैतान हो, कहते हुए उसके हाथ राज को चुटकी काटने के लिए बढ़े लेकिन उषा भी तो वहीं खड़ी थी, हाथ रुक गया।

राज ने पूछा—यह बैले वाला नाच किसने किया है?

सत्य ने कहा—पार्टी ही की एक लड़की है, दीप्ति सेनगुप्त ......क्यों कैसा था नाच?

राज ने कहा—बहुत खूब....उषा तो रो दी। फिर कनखियों से उसकी ओर देखकर कहा—झूठ कहती हूं उषा? ....रूमाल अब भी गीली होगी—

उषा ने शरमाकर आँख नीची कर लीं, अपनी बड़ी बड़ी आँखें। उसके गाल हलके हलके रक्तिम हो चले। सत्य को उस वक्त वह अपरूप सुन्दरी लगी। उसने अच्छी तरह आँख जमाकर उसके चेहरे को देखा। उषा को भी शायद इसका हलका सा आभास हुआ। उसका चेहरा और रँग उठा।

सत्य ने कहा—अच्छा तुम लोग अब जाओ, मुझे तो अभी यहाँ दूसरी ही बकवास भुगतनी है, कई चीजें यहाँ वहाँ से आयी हैं, उन्हें अपनी अपनी जगह पर पहुँचाना है......फूल तो आप लोगों ने देखा, अब उसकी खाद तो मुझी को ठीक करनी है.....कहकर उसने उषा को देखा। उषा ने फिर भी कुछ नहीं कहा, मगर सत्य की बात का संकेत किसकी तरफ है, यह उससे छिपा नहीं रहा।

९

पार्टी का दफ्तर एक काफी चौड़ी सी, चलती हुई गली में था। उसमें तीन कमरे थे, एक छत। छत तो पार्टी की मीटिंगों के काम आती थी। दफ्तर के साथ ही कम्यून था। चार साथी वहीं रहते थे। छत से ही लगी हुई, लकड़ी के पार्टीशन के उस पार उनकी रसोई थी जिसमें वे अपना खाना पका लिया करते थे। खाने से मतलब है कभी अरहर की दाल की खिचड़ी, कभी दाल-भात, कभी दाल-रोटी। कभी शोरबेदार तरकारी खाने का बड़ा जी होता तो कच्ची-पक्की पन-धोधो शोरबेदार तरकारी बन जाती। मगर उस रोज़ अकसर दाल कट जाती। दाल और तरकारी दोनों का सुयोग कभी ही कभी होता। घी और मक्खन का तो जैसे जिक्र ही नहीं उठता, आँजन लगाने को भी घी नहीं था, छौंक-बघार के लिए कड़ुआ तेल वे लोग अलबत्ता ले आते थे। खाने को गले से नीचे उतारने में प्याज और हरी मिर्च का बड़ा सहारा था। दो-चार बार ऐसा हुआ था कि सत्य ने भी कम्यून में खाना खाया था। तब उसने खाना खाते खाते ही उस खाने का मिलान जेल के खाने से किया, और मन ही मन कहा—जेल के भी खाने से कितना गया-गुजरा है यह खाना! इसके मुकाबले तो जेल का खाना अच्छा खासा पकवान होता है!

जेल का खयाल आते ही उसे उन बातों का खयाल आ गया जो जेल के उसके साथी कम्युनिस्टों के बारे में कहा करते थे... और एक बड़ी खिन्न सी कड़वी सी मुसकराहट उसके चेहरे पर फैल गयी—सरकार से इनको पैसा मिलता है तो फिर यह ऐसा खाना क्यों खाते

हैं ? कभी तो दिखता अंडा-गोश्त घी-दूध ? क्यों नहीं चलते शराब के दौर ?......सरकार से पैसा मिलता है ! छी। यही खाना खाने के लिए ? जानवर भी जिसमें मुंह डालते एक बार झिझकेगा। मगर जिसे ये जानवर नहीं आदमी खाते हैं और बड़े चाव से खाते हैं क्योंकि वे आदमी हैं और जानते हैं कि मुल्क की आज़ादी की खातिर बहुत सी चीजें छोड़नी पड़ती हैं, अच्छे खाने और अच्छे कपड़े से लगाकर जान का मोह तक !

इस ख़याल से ही सत्य का मुंह कड़वा हो गया, उन लोगों के खिलाफ जो यह गन्दा प्रचार करते थे, और मज़े की बात यह कि छः महीने की ही अपनी पार्टी जिन्दगी में वह अपनी इस नयी दुनिया के साथ इतना एक हो गया था कि उसे एक बार भी ख़याल नहीं आया कि कभी वह भी उन्हीं लोगों में से एक था जिनका इस सरकारी पैसे वाली बात पर पक्का विश्वास था और जो इसी कारण कम्यु-निस्टों से दिलोजान से नफ़रत करते थे असल बात शायद यह थी कि सत्य की पार्टी ज़िन्दगी पार्टी में आने के पहले ही, वीरेन्द्र के संग ही शुरू हो गयी थी। वीरेन्द्र का रंग उसके ऊपर खूब गहरा चढ़ा था और वीरेन्द्र के लिए उसके मन में सच्ची आन्तरिक श्रद्धा थी। .....वीरेन्द्र भी यही खाना खाता होगा, ऐसे ही बिस्तर पर सोता होगा, ऐसे ही दिन दिन भर शहर में दौड़ता फिरता होगा, और रात रात भर बैठकर रिपोर्ट लिखता और टाइप करता होगा, मोटी मोटी जिल्दों को—और सो भी रात में—बैठकर उलटता होगा क्योंकि दिन में दूसरे बीसों काम हैं ! और फिर यह खाना ! कैसे न हो कम्युनिस्टों को टी० बी० ! काम करना पड़ता है बैल की तरह और खाना मिलता है सूखे भूसे से भी बदतर ! .....मगर इसका इलाज भी क्या है, जब तक पार्टी की ताकत न बढ़े, पार्टी की आमदनी का सवाल पार्टी की ताक़त के संग जुड़ा हुआ है न।

उस दिन उसे पहली बार वीरेन्द्र के संग अपने शुरू शुरू के बर्ताव का खयाल करके मार्मिक ग्लानि हुई - वीरेन्द्र को मैंने सरकारी दलाल समझा ! उसने तब दिल में मुझको क्या ख़याल किया होगा? कहा होगा, कालेज का छोकरा है, घमंडी, ओछा, तार काटने में पकड़-कर जेल क्या आ गया समझता है मुझसे बड़ा कोई क्रान्तिकारी नहीं ! अपने को हुकूमत के हाथ बेचना ही चाहता वीरेन्द्र, तो कौन सा सरकारी ओहदा है जो उसे नहीं मिल सकता था - वीरेन्द्र को छोड़ो इन्हीं साथियों को देखो, आखिर इन्हें क्या पड़ी है कि अपना घर बार छोड़-कर यहाँ पड़े हैं ? मजदूर जानकर महबूब को अगर छोड़ भी दें तो बाकी तीन तो अच्छे खाते-पीते घर के हैं, इससे तो कहीं ज्यादा आराम-आसाइश की ज़िन्दगी उन्हें मिल सकती थी ? तो फिर तुम्हीं बताओ उन्हें काले कुत्ते ने काटा था जो अपनी ज़िन्दगी नास कर रहे हैं, न दिन को चैन न रात को नींद, चौबीसों घंटे बैल की तरह जुते रहते हैं और उसपर से यह खाना....यह पानी जैसी दाल, यह मोटा मोटा ठुरियाया हुआ भात और यह गरीबपरवर प्याज की गाँठ और यह शरमायी हुई सी मिर्च.....

खाने को जो उसने नज़र भरकर देखा तो उसे झल्लाहट भरी हँसी आ गयी। ...मगर दूसरे ही क्षण उसका चेहरा रंजीदा हो गया और उसने मन ही मन अपने आप को जैसे बहुत धीमी आवाज़ में, गुपचुप ढंग से समझाया यह सारी कुरबानी पार्टी के लिये है, मुल्क के लिये, आज़ादी की जंग के लिये। इसीलिये किसी को इसका गिला नहीं है, किसी के मुंह पर शिकायत का एक लफ्ज़ नहीं है, किसी के चेहरे पर धुएं का एक बादल नहीं है, इसीलिये सब इतने खुश हैं। इस खाने को यों खा रहे हैं जैसे इससे बड़ी नेमत दूसरी नहीं हो सकती ....

और फिर एक मुसकराहट सत्य के चेहरे पर खेल गयी मगर यह

कड़वी मुसकराहट नहीं थी, यह शहद-जैसी मुसकराहट थी जो गहरे आत्मिक उल्लास से चेहरे पर आती है।

दफ्तर के बड़े कमरे में एक दो बेंचें पड़ी हुई थीं और जमीन पर दरी बिछी हुई थी जिस पर कुछ दैनिक अखबार और चालू हफ्ते के पार्टी के अखबार पड़े हुए थे। चार छः साथी वहीं बैठे हुए अखबार पढ़ रहे थे और आपस में गपशप कर रहे थे। उसके बगल वाले कमरे में दो सिरों पर दो मेजें लगी हुई थीं। एक मेज़ अमूल्य की थी और एक पार्टी साहित्य के इन्चार्ज की। पार्टी साहित्य के इन्चार्ज जो साथी थे वह पार्टी के अपने छोटे से पुस्तकालय के इन्चार्ज भी थे और साथियों को पढ़ने के लिए भी किताबें देते थे और बेचने के लिए भी। उनकी मेज पर दो एक रजिस्टर और कापियाँ पड़ी हुई थीं - उनके काम में हिसाब किताब का बड़ा दखल था, इसी से। एक एक माह का एक एक किताब का हिसाब उनके पास दर्ज था और इस काम पर ऐसे साथी को तैनात किया गया था जो किसी के साथ किसी तरह की मेल-मुरौवत या मुलाहिज़ा न करे। इसी कारण से कुछ लोग उनसे थोड़ा बहुत चिढ़ते भी थे। मगर चिढ़ने से क्या होता है? उनका तो काम ही ऐसा था कि जरा सा भी घोटाला पार्टी को धक्का पहुंचाता। वहाँ पर सख्त आदमी की ही जरूरत थी और ऐसे ही सख्त आदमी थे कमरेड मुनीश जो इस समय रजिस्टर खोले उसमें कुछ लिख पढ़ रहे थे।

अमूल्य भी अपनी मेज़ पर बैठा कुछ लिख रहा था जब सत्य पहुंचा। ...कल रात के शो के बारे में कुछ बातें हुईं। यह काफ़ी अच्छा काम हुआ था, और फिर जल्दी ही एक सोवियत प्रदर्शिनी करने का प्रस्ताव सत्य के सामने आया। सत्य को प्रस्ताव बहुत अच्छा लगा। लोग सोवियत के बारे में जानने के इच्छुक थे, जिस तरह से सोवियत

ने हिटलर के दाँत खट्टे कर दिये थे उससे सभी लोग सोवियत के बारे में सोचने को मजबूर हुए थे -आखिर वह बात क्या है कि हिटलर जैसे आदमी की भी एक न चली, जिसके पास इतनी सेना थी इतने कुशल जरनैल थे, जिसने योरोप के दूसरे देशों को चुटकी बजाते जीत लिया ! स्तालिनग्राद लेने के लिए वह सिर पटक कर रह गया मगर नहीं ले सका, हाँ उसकी लाखों फौज अलबत्ता कट गयी। यह कोई जादू तो था नहीं, तो आखिर था क्या ? देश के प्राय: सभी लोगों के मन में यही सवाल कुनमुनाता रहता था, वे सचमुच सोवियत की ताक़त का रहस्य समझना चाहते थे—और इनकी इस भूख को शान्त करने ही के खयाल से सोवियत प्रदर्शिनी का प्रस्ताव आया था।

सत्य ने इस सिलसिले में सिर्फ एक सुझाव यह रक्खा कि सोवियत प्रदर्शिनी के ही साथ साथ, अगल बगल के दो बड़े कमरों में, बंगाल दुर्भिक्ष की भी प्रदर्शिनी की जाय - ताकि फ़ोटो और आँकड़े देखने वाले खुद मिलान करके देख सकें कि आज़ादी और गुलामी में क्या फ़र्क होता है, कैसे आज़ादी के संग खुशहाली और गुलामी के संग अकाल अनिवार्य रूप से जुड़ा रहता है, दोनों को एक दूसरे से अलग किया ही नहीं जा सकता।

आपको मुंह से बतलाने की जरूरत नहीं पड़ेगी, तसवीरें खुद अपनी कहानी कह देंगी। सोवियत लोगों के खिले हुए, खिलखिलाते हुए, दमकते हुए चेहरे, उनकी नाचती-गाती पंचायती खेतों खलिहानों और कल कारखानों में काम करती तसवीरें अपनी ज़बान में सब कुछ समझा देंगी। उनके पास बड़ी अच्छी ज़बान है और हमारे देश के लोग उसको खूब अच्छी तरह समझते हैं, मसलन् यह कि अकाल से आदमी ऐसा तगड़ा नहीं हो सकता, उसकी गर्दन ऐसी मोटी नहीं हो सकती, उसके हाथ ऐसे मुगदर की तरह नहीं हो सकते, और न वह ऐसी

दिमागी हालत में ही हो सकता है कि उसे नाचने-गाने की सूझे—नाचना-गाना आदमी को तब सूझता है जब उसका दिल खुशी और उमंग से भरा होता है, ऐसा भरा होता है कि जब उसमें और खुशी और उमंग नहीं समा पाती तो छलक पड़ती है, बाहर आ जाती है। कामरेड, आप यक़ीन रखिए लोग अपनी ठीक ठीक नतीजा निकाल लेंगे। और फिर उन्हें यह भी पता है कि अकाल होता है तो लोगों की क्या शकल रहती है और वह क्या करते हैं, वह भी उन्हें मालूम है खूब मालूम है—और जिन्हें न मालूम हो या जिन्हें अपना सबक भूल गया हो उन्हें वे दीवारों से घूरती हुई ठठरियाँ फिर से सब कुछ याद करा देंगी, वे आँखें जिनमें गुस्से की एक चिनगारी भी नहीं है, जिनमें शिकायत भी नहीं है शायद, जिनमें सिर्फ दर्द है और याचना, याचना जिसका ओर-छोर नहीं है, जिन्दगी की भीख मौत की भीख—कुछ तो दे दे दाता! डेढ़ सौ साल की अंग्रेज़ी हुकूमत ने इस नरक की सृष्टि की है हमारे देश में और उसके बगल में, चुनौती की तरह खड़ा होगा वह स्वर्ग जिसे मेहनतकश इन्सान के हाथों ने पचीस साल के अन्दर अपने खून और पसीने से रचकर संवारकर इसी धरती में से एक लहलहाते हुए पौदे की तरह उगाया है .....तुम्हारे बोलने की भी ज़रूरत नहीं होगी, वह तसवीरें खुद बखुद लोगों के दिलों में उतर जायंगी........

अमूल्य ने छेड़ने के लिए कहा—सत्य के मुंह में ज़बान नहीं होती!

सत्य काफ़ी आवेश में बोल रहा था पर उसने चुटकी को समझते हुए कहा—बेज़बान सत्य मर गया अमूल्य। अब सत्य के मुंह में ज़बान भी है और हाथ में तलवार भी। यह नये युग का नया सत्य है, अमूल्य, कहकर सत्य मुसकराया।

१०

एक रोज़ लाइब्रेरी में सत्य की मुलाकात उषा से हो गयी। इधर कई रोज़ से वह उषा से नहीं मिला था, उसके घर जाने का कोई कारण नहीं था और कालेज में मुलाकात का कोई सिलसिला नहीं था। अलग अलग इमारतों में उनके क्लास होते थे और सत्य को यह बात नागवार थी कि वह संकल्प करके उषा से मिले। न जानें क्यों यह चीज़ उसे लुच्चपन मालूम होती थी, जैसी खामखा की छेड़। आज यों ही अचानक मुलाकात हो गयी तो सत्य को बड़ी खुशी हुई। उसने पूछा—कहिए, क्या लेने आयी हैं?

उषा ने कहा—क्या लूंगी! किताबें मिलती भी हों! लूकस की 'ट्रैजेडी' के लिए चार चक्कर लगा चुकी हूं......

सत्य ने कहा—वह तो मैं आपको दे सकता हूं।

उषा—है आपके पास?

सत्य—और नहीं तो।

उषा—तो फिर आपही से लेकर पढ़ लूंगी। यहाँ के भरोसे रही तो सात जनम बैठी रह जाऊँगी।

सत्य—क्यों रहिए यहाँ के भरोसे। मैं घर आकर दे जाऊँगा किताब। मगर अभी से आप घोखना शुरू कर देंगी तो आसमान फट पड़ेगा उषा जी। अभी तो अगस्त ही है।

उषा के चेहरे पर मुसकराहट आ गयी।

बोली—आप भी कैसी बात करते हैं सत्यबाबू, घोखने की एक ही कही! अभी से थोड़ा बहुत देखती रहूँगी तो धीरे धीरे सारा काम हो जायगा, बोझ नहीं बनेगा।

सत्य की आँख में शरारत थी जब उसने कहा—आपतो बड़ी समझदार हैं उषा जी! काशकि मैं भी आपकी तरह हो सकता। मैं तो इम्तेहान के बीस दिन महीना भर पहले किताब उठाता हूं, उसके पहले जैसे तबीयत ही उस ओर नहीं झुकती।

उषा ने कहा—आपको दूसरे काम भी तो रहते हैं न ....

सत्य—आपको भी तो घर के बीसों काम-काज रहते होंगे—

उषा—ऐसा क्या काम काज....पढ़ने लिखने में ही थोड़ा वक्त कट जाता है वर्ना दिन पहाड़ हो जाये....कहकर उषा जैसे कुछ शरमाकर अपने मन में सिमट गयी। आध मिनट की खामोशी के बाद उषा ने बरामदे से बाहर की तरफ बढ़ते हुए कहा—तो कब आयेंगे आप?

सत्य—दिन अगर साफ रहा, बूँदाबाँदी न होती रही तो मैं कल सबेरे ही आपके पास किताब पहुंचा दूँगा......

उषा ने हलके से मुसकराकर कहा—आयेंगे न? ....आपका कुछ ठीक नहीं.....आप तो बस चन्दा लेने आए थे........

उलाहना स्पष्ट था। सत्य के दिल में हलकी सी गुदगुदी हुई। उसने भी मुसकराकर जवाब दिया—नहीं, ऐसी बात नहीं, कल किताब देने आऊँगा—मगर वह पानी न बरसने वाली शर्त है। आजकल यह बारिश भी तो नाक में दम किये रहती है.......और यह लीजिए, फिर यह टिपिर टिपिर शुरू हो गयी। मुझे इस चीज से सख्त नफ़रत है। जितना बरसना हो एक बार खूब गड़गड़ा कर बरस ले और फिर

खुल जाय, मुझे वह अच्छा लगता है। यह हर वक्त की बदली हर वक्त की बदली और टिप् टिप् टिप् टिप्...... यह चीज़ मेरा दिमाग खराब कर देती है। धूप के बिना मैं नहीं जी सकता।

उषा ने इसका कोई जवाब नहीं दिया। छाता खोलते हुए बोली—तो कल सबेरे......

आसमान रात भर चलनी की तरह चूता रहा। सत्य ऊपर अपने कमरे में बिस्तर पर पड़ा पड़ा कुछ पढ़ रहा था और हाथ से पंखा करता जाता था—लानत है इस बारिश और इस उमस पर, बारिश के पहले की उमस तो समझ में आती है। आदमी ही की तरह आसमान भी घुटता घुटता रहता है और फिर बरस पड़ता है, मगर बरस पड़ने के बाद फिर यह घुटन क्यों, यह भयानक उमस ये मच्छर यह गर्मी—

ऐसे में नींद का भला क्या ज़िक्र मगर सत्य तो सोने के मामले में पूरा कुंभकर्ण है न। पता नहीं कब अखबार के पन्ने पलटता पलटता सो गया।

सपने में उसने एक बहुत बड़ा सा क्रीम श्वेत रंग का गुलाब देखा, बहुत बड़ा सा और बहुत खूबसूरत। उस पर एक भौंरा आकर बैठा।

भौंरे ने गुलाब से पूछा—तुम गुलाब हो ?

गुलाब ने कहा—हाँ।

भौंरे ने कहा—नहीं तुम गुलाब नहीं हो। तुम्हारा रंग चम्पा जैसा क्यों है ?

गुलाब ने कहा—वाह रे, वही तो मेरा रंग है।

भौंरे ने नाखुश होकर कहा—नहीं तुम गुलाब नहीं हो।

गुलाब ने बहुत भोलेपन से पूछा—तब फिर मैं कौन हूं ?

भौंरे ने कहा—जैसे मुझे पता न हो, तुम मिस्र की राजकुमारी क्लियोपाट्रा हो....

भौंरे का यह कहना था कि अरे यह क्या हुआ ! उसमें से सचमुच यह कौन लड़की निकल आयी—गुलाब जैसी ही नाज़ुक और वैसी ही ताज़ी और वैसी ही हसीन।

लड़की ने भौंरे से कहा—प्रियतम, अब मैं तुम्हारी हूं, तुम मुझको ले चलो। तुम्हीं मेरे राजकुमार हो। सौ साल से गुलाब की इन्हीं पँखुरियों में कैद मैं तुम्हारा ही रास्ता देख रही थी। देवी ने मुझको शाप देते हुए यही कहा था कि सौ साल बाद एक काली घटाओं की तरह काला भौंरा आवेगा और वह गुलाब की पंखुरियों के घूँघट के नीचे से तुझे पहचान लेगा, और उस दिन तू फिर अपना पुराना शरीर पा जायेगी।....सौ साल से मेरी पंखुरियाँ यों ही झर जाती हैं और मेरा पराग इसी तरह धूल में खो जाता है और मैं सौ साल से इसी तरह इसी जगह बार बार झरती और बार बार उगती रही हूं, इसी जगह इसी तरह सौ साल से, तुम्हारी ही प्रतीक्षा में कि एक दिन तुम आओगे और मेरा मुंह चूमोगे और कहोगे—उठो, अब तुम शापमुक्त हुईं और मेरे इन गुलाबी ओठों का स्पर्श लगते ही तुम्हारा भी रूप बदल जायेगा और तुम हो जाओगे मेरे साँवले सलोने, मेरे सदा सदा के प्रियतम...मेरे...

सत्य की नींद खुल गयी। घड़ी उठाकर देखी, दो बजा था।

सुबह हुई क्योंकि रात के बाद सुबह होती है, लेकिन उदास उदास। बारिश तो रात में ही किसी समय बन्द हो गयी थी, लेकिन भूरे-भूरे से, चमड़े के रंग के बादलों से घिरा हुआ आसमान खँजड़ी जैसा दिखायी दे रहा था और उससे खँजड़ी के फटे हुए स्वर जैसी ही ऊब और थकान रिस रही थी। सुबह का मतलब है सूरज

और सूरज का कहीं पता न था। गली चलने लगी थी और लोग दिन के जरूरी तक़ाज़े के तौर पर अपने नित्य नैमित्तिक कामों पर जा रहे थे मगर उनको देखकर लगता था कि जैसे वह सभी अपनी कोई बहुत जरूरी चीज़ कहीं गिरा आये हैं और वह चीज़ थी हँसता हुआ, गोल गोल सूरज जिसके दर्शन मात्र से हर चीज़ जैसे खिल उठती है।

सत्य ने खिड़की में से चमड़े के रंग के आसमान को देखकर, बिस्तर छोड़ते हुए, अपने मन में कहा, यह रोशनी की भूख भी आदमी की कितनी ज़बरदस्त भूख होती है.....मगर इसका पता चलता है ऐसी बदली ही के रोज़, वैसे ही जैसे सांस आदमी के लिए कितनी ज़रूरी चीज़ है इसका पता चलता है तब जब नाक बन्द हो जाती है और आदमी साँस नहीं ले पाता ...

उषा बरामदे में बेंत की एक कुर्सी डाले बैठी कुछ पढ़ रही थी जब सत्य उसके यहाँ पहुंचा। उषा नहा धोकर एकदम तरोताज़ा हो रही थी। किसी की आहट पा उसने आँख उठायी तो देखा सत्य खड़ा है। कुछ हड़बड़ाकर वह कुर्सी से उठी, बड़े शालीन ढंग से हाथ जोड़ कर नमस्कार किया और कहा—आप आ गये ! मैंने तो समझा था...आज का दिन बड़ा वैसा सा है न।

सत्य ने कहा—आपको बदली नहीं अच्छी लगती क्या ? लोग तो इसकी तारीफों के पुल बाँध देते हैं !

उषा ने हलके से मुंह बिचका कर कहा—बाँधते होंगे, मुझे तो कुछ खास अच्छी नहीं लगती बदली—

सत्य ने पूछा—यह क्या पढ़ रही हैं ?

उषा—यों ही हार्डी का एक उपन्यास है।

सत्य—टेस ?

उषा—हाँ

सत्य—टेस बड़ी ही प्यारी लड़की है, कितनी भोली कितनी खूबसूरत ! बड़ी पागल लड़की है टेस मैं तो उपन्यास के सफ़े में ही उसे पाकर उसका हो बैठा हूँ। कई बरस होने आये जब टेस पढ़ा था मैंने मगर आज भी उसकी गर्मी और एक हलकी सी गुदगुदी दिल में बाक़ी है, जैसे कोई बड़ा हसीन ख्वाब कभी देखा हो। मैं तो उसकी सरलता, उसके भोलेपन पर निछावर हूं। टेस गुलाब की कली है

उषा ने मुसकराते हुए कहा—मैं तो समझती थी आपको इन चीज़ों में दिलचस्पी न होगी मगर आप तो टेस के बड़े भारी प्रेमी निकले !

सत्य ने अनजान में ही, उलाहिने के से स्वर में कहा—ऐसा क्यों समझा आपने, मेरे पास हृदय नहीं है क्या ? और फिर उषा जी, उपन्यास की नायिका से प्रेम करना आसान भी तो होता है प्रतिदान की अपेक्षा नहीं होती न ! और मुसकराया।

उषा ने कहा—मैं अभी एक मिनट में आई, आपकी चाय के लिये कह आऊं।

सत्य ने प्रतिवाद करते हुए कहा—आप तो तकल्लुफ करती हैं। मैं घर से चाय पीकर चला था।

उषा ने सूरज की रोशनी जैसी मुसकराहट बिखेरते हुए कहा—ज़रूर पीके चले होंगे, मगर इस बदली में चाय का एक और प्याला ऐसा कुछ बुरा न होगा। और अन्दर चली गयी।

उषा के यहाँ से लौटते हुए सत्य राज के पास पहुंचा। राज कालेज जाने की तैयारी में थी। बोली—कहो, आज इस वक्त किधर से ?

सत्य ने कहा—उषा के यहाँ आया था ......

राज ने बात को बीच में ही काटते हुए कहा—ओ......

सत्य ने बात पूरी की—एक किताब देनी थी....तुम बड़ी पाजी हो राज !

राज ने अपनी उसी शैतान मुसकराहट के शीरे में बात को लपेटते हुए कहा—तुम तो खामखा मेरी हर बात पर चिटकते हो ! तुम उषा के यहाँ किताब देने आए थे, बस इतनी ही सी तो बात है, मैं कब कुछ कह रही हूं। मगर तुम मेरे पास कभी कोई किताब देने नहीं आते !

नहीं आता ! यह झूठ ! ऐसा पटकूँगा में तुमको उठाकर कि याद करोगी !

फिर वही बात ! तुम्हारा चिबिल्लापन कब छूटेगा....छूटेगा..

सत्य ने कहा—तुम आजकल बड़ी तेज़ हो गयी हो राज, ठीक न होगा तुम्हारे हक़ में, कहे देता हूं !

राज ने वैसे ही मुसकराते हुए कहा—मुझमें अब तेजी कहाँ। मगर तेज़ होना कोई बुरी बात है ?

सत्य ने कहा—बताऊंगा !

दोनों साथ साथ घर से निकले। चौराहे से दोनों के रास्ते अलग हो गये।

तीन डायरियाँ

सत्य

२८ अगस्त

मैं अपने आप को समझ नहीं पाता। उषा इतना लजाती क्यों है ? और मुझे उसका लजाना क्यों अच्छा लगता है ? उस दिन जब राज के यहाँ पहली बार उसको देखा था तब भी वह इतना शरमा रही थी। आजकल की लड़कियाँ आमतौर पर तो काफी बेधड़क होती हैं। उषा इतनी छुई मुई क्यों है, निगाहों की उंगलियों के छू जाने भर से वह मर जाती है ....उषा बहुत भोली है। मैंने उसके साथ कोई बेअदबी तो नहीं की ?

मैं उसे बहुत बुरी तरह घूर रहा था। उसने जरूर मुझको बहुत जंगली आदमी समझा होगा....मगर आज लाइब्रेरी में (हाँ आज अचानक वहाँ उससे भेंट हो गयी थी) ऐसा तो नहीं लगा कि वह मुझसे खिची हुई है, बड़ी मिठास से मिली। बेचारी लूकस की 'ट्रैजेडी' के लिए दस बार चक्कर लगा चुकी है। मैंने कह दिया कि मैं अपनी किताब दे जाऊंगा। बड़ी प्रसन्न हुई वह। मैं कल सबेरे जाकर उसे किताब दे आऊंगा।

२९ अगस्त

उषा को मैं किताब दे आया। उसने मेरी बड़ी आवभगत की। चाय पिलाई और बड़ी देर तक बातें करती रही, पूछती थी वह बैले वाली कामेंटरी किसने लिखी थी। उषा को वह अच्छी लगी शायद।

उषा बहुत भली लड़की है। मुझे उससे मिलकर सुख होता है... मगर राज बड़ी पाजी है, वह समझती है कुछ और बात है। देखा नहीं, कैसा ओंठ दबाकर हँस रही थी और उसकी आँखें नहीं देखा, शरारत भरी हुई थी उनमें! आदमी किसी लड़की से मिला नहीं कि लोग अटकलें लगाने लग जाते हैं, अजब दस्तूर है यह भी... मैं तो उसमें कोई बुराई नहीं देखता। बुराई कौन देखता है! बुराई की बात तो कोई नहीं कहता। बुराई तो किसी चीज में नहीं है।

१० सितम्बर

अभी शाम को राज के यहाँ बैठा हुआ था आज। इतने में उषा आयी। पता नहीं किस काम से आयी थी। मुझे देखकर जरा ठिठकी। फिर आकर बैठ गयी। इधर उधर की बहुत सी बातें हुईं। तुम देखते राज को! पता नहीं वह मेरे अन्दर क्या पढ़ने की कोशिश कर रही थी। मैं भी तो एक घाघ हूं, ऐसे बैठा रहा जैसे कुछ हुआ ही नहीं, उषा के आने का जैसे मुझ पर कोई असर न हो। राज कभी नजर बचाकर मुझको देखती थी कभी उषा को। मुझे बड़ा मजा आया इसमें। राज बिलकुल बुद्धू है, समझती है कि मैं उषा के प्रेम में दीवाना हो रहा हूं। और मैं भला किसी से क्यों प्रेम करने लगा? मैं उषा से प्रेम करता हूं क्या? मुझे उषा अच्छी लगती है, उससे बात करना अच्छा लगता है, शायद उसके संग संग बाग का काम करना भी अच्छा लगेगा, तो क्या यही प्रेम है? प्रेम तो दूसरी ही चीज होती होगी। शेली और कीट्स के गीत तो यही बतलाते हैं और शेक्सपियर के सॉनेट भी। हाइने ने लिखा है: देयर इज ए टूथ एक इन माइ हार्ट (मेरे दिल में दाँत के दर्द जैसा मीठा मीठा दर्द होता है) मालूम होता है कवि जी को कभी कसकर दाँत का दर्द हुआ नहीं। मुझे दो तीन बार हुआ है। मैं जानता हूं। अगर प्रेम में वैसा दर्द होता

है तो मैं बिन प्रेम का ही भला ! राज शायद इसी दर्द की कचोट या टीस की रेखाओं को मेरे चेहरे पर पढ़ने की कोशिश कर रही थी। मुझे बड़ी दया आती है बेचारी पर। वहाँ पर कुछ हो भी तब तो वह पढ़े।........

चलते चलते अपने घर के रास्ते में उषा ने एक बड़ी मजेदार बात बताई। बोली—सत्य बाबू, आप उस रोज़ चले आये न, तो मेरे पिता जी ने मुझसे पूछा—उषी, यह कौन लड़का था ? मैंने कहा—मेरे कालेज में पढ़ते हैं।

तेरे संग ?

नहीं मेरे संग नहीं। एम० ए० में पढ़ते हैं, दूसरा साल है।

आदमी अच्छा मालूम होता है।

मैंने कुछ नहीं कहा, चुप रही। आप ही बताइये मैं इसका क्या जवाब देती ?' कहकर उसने मुझे इतने भोलेपन से देखा कि कुछ न पूछो 'मेरे जी में एक बार तो आया कि कह दूं कम्युनिस्ट हैं, लेकिन मैंने कहा नहीं। पिताजी कम्युनिस्टों से बहुत चिढ़ते हैं। पता नहीं क्यों। आप कम्युनिस्ट हैं यह सुनकर उनका मुंह जरूर बन जाता' और फिर जैसे उस मुंह का खयाल करके उसे हँसी आ गयी। सच, हँसते समय उषा की खूबसूरती चौबाला हो जाती है।

मैंने कहा—बतला दिया होता तो मज़ा रहता।

आप तो थे ही नहीं उसका मज़ा कौन लेता ?

अच्छा किसी रोज़, अपने पिता जी से मुझे मिलाइयेगा तो मेरा यही परिचय दीजिएगा।

उषा ने एकदम अछूते खिलंडरेपन से कहा—किसी रोज़ क्यों कल ही आइये न।

क्यों नहीं। अब तो पानी भी उतना नहीं बरसता।

११ सितम्बर

उषा ने आज मुझे अपने पिता जी से मिलाया। बड़ी बड़ी मूछें हैं उनकी। मूछ देखकर डर लगता है। लेकिन आदमी बुरे नहीं लगे। कांग्रेस में बहुत काम किया है। कई बार जेल गये हैं। सन् ४२ के आन्दोलन में भी गये थे। उषा ने जब उन्हें बताया कि मैं कम्युनिस्ट हूं तो वह ऐसे चौंके जैसे अंगार पर पैर पड़ गया हो सचमुच बड़ा मजा आया। उषा बहुत गम्भीर मुद्रा बनाये बैठी थी, मगर उस वक्त उसने मेरी ओर निहारा। मुझे बड़ी हँसी आयी लेकिन रोक गया। उषा के पिता जी बोले—आप कम्युनिस्ट हैं? फिर वही बहुत सी बातें कम्युनिस्टों के बारे में कहीं। मैंने उन्हें बतलाया कि वह सब फ़िजूल की बकवास है, मैं खुद उन्हीं सब बातों पर यक़ीन करता था, मैं भी बयालिस में जेल गया था—लेकिन फिर मुझे सच्चाई का पता चला, वगैरह वगैरह। पता नहीं मेरी बात से वह कितना आश्वस्त हुए नहीं हुए मगर मजा बहुत आया। और मैं तो उषा को देख रहा था, उसकी आँखें इतनी बातें कह रही थीं जैसे उनके पास अपनी जबान हो उसकी वो बड़ी बड़ी आँखें! उसे सारी चीज में नाटक का सा मजा आ रहा था। आँखों ही आँखों में वह कितनी बातें कह देती है।.....मगर कितनी भोली है उषा, कितनी नेक, और कितनी खूबसूरत उसकी आँखों की जबान जो मैं पढ़ लेता हूं उसमें कहीं मेरे अपने मन के भाव तो मुझसे छल नहीं कर रहे?

मेरे मन के भाव उषा के प्रति क्या हैं, वह मुझे क्या सिर्फ अच्छी लगती है या और कुछ? और कुछ क्या? अरे यही और क्या?... क्या सभी से मिलने की तुम्हारे दिल में इतनी ही ख्वाहिश रहती है? या न मिलने पर इतनी ही बेचैनी? क्या राज से मुलाक़ात न होने

पर तुमको ऐसा ही लगता है ? तो क्या मुझे उषा से प्रेम हो गया है ? मैं नहीं जानता। होगा, शायद यही प्रेम होगा। मैं कैसे कहूं ? मैं तो बस इतनी जानता हूं कि उषा से मिलकर मुझे अच्छा लगता है बड़ा अच्छा, जैसा अच्छा कुछ भी नहीं लगता। उषा की आँखें मुझे बड़ी अच्छी लगती हैं, उषा की नाक मुझे बड़ी अच्छी लगती है, उषा का मुंह मुझे बड़ा अच्छा लगता है, उषा की उंगलियाँ मुझे बड़ी अच्छी लगती हैं, कितनी बार मेरा जी हुआ है कि उन्हें चूम लूँ। उषा का भोलापन मुझे बड़ा अच्छा लगता है, उषा का शरमाना मुझे बड़ा अच्छा लगता है, उषा का मुसकराना मुझे बड़ा अच्छा लगता है, यानी यह कि उषा जो कुछ है न, वह सब कुछ मुझे बड़ा अच्छा लगता है। क्या यही प्रेम है ? होगा। नहीं नहीं प्रेम भी कहीं इस तरह होता है ? एक बार दो बार चार बार मिले और प्रेम हो गया—यह तो वही Love at first sight वाली बात हो गयी। उहुंक् वह चीज़ कभी मेरी समझ में नहीं आयी।

२४ सितम्बर

पता नहीं किस गधे ने लिखा है—All love is love at first sight......

२८ सितम्बर

हाइने की Toothache in my heart वाली बात बिलकुल गलत है.... बिलकुल गलत ! Absurd nonsense

१० अक्तूबर

मौसम कितना सुहाना हो गया है, कितना ! कैसी प्यारी, गुलाबी सी सर्दी पड़ने लगी है। बरसात का मुंह काला हुआ। पता नहीं कवियों ने बरसात की शान में इतने क़सीदे कैसे कहे हैं, मुझे तो सख्त नफ़रत है बरसात से, हर चीज चिप चिप करती रहती है,

ज़मीन आसमान सब कुछ, आदमी का खुद अपना जिस्म भी। यह सही है कि पानी न बरसे तो कोई चीज़ पैदा ही न हो, सारी दुनिया एक रेगिस्तान हो जाये, लेकिन तब भी यह पानी का बरसना है तो बड़ी सांसत की चीज़ इसमें कोई शक नहीं। अगर ऐसा हो सके कि पानी बरसा न करे और यों ही हो जाया करे तो बड़ा अच्छा हो... नहीं तो बस कीचड़ कीचड़ जहाँ तक नज़र जाती है कीचड़ ही कीचड़, आसमान से भी कीचड़ टपक रहा है (तीन चार दिन की झड़ी के बाद वह भी कीचड़ ही हो जाता है) और ज़मीन तो जैसे कीचड़ है ही, कीचड़ और दस करोड़ मक्खियाँ और ऊब— बाप रे बाप, मक्खियाँ भी कितनी हो जाती हैं, जजमान के घर हलुआ पूड़ी जीमने वाले बाँभनों के गोल के गोल की तरह मक्खियाँ, खाने पर मक्खियाँ पानी पर मक्खियाँ, और तो और खुद आदमी के मुंह पर मक्खियाँ.......

बरसात का अगर कोई मज़ा होगा तो वह खूब पैसे वालों के लिए जिन्हें कभी पानी बरसते में निकलने की ज़रूरत नहीं पड़ती; जिनके पैर कभी कीचड़ में नहीं सनते क्योंकि मन की मौज आने पर वह बाहर कहीं निकलते हैं तो अपनी चमचमाती हुई मोटर पर सवार होकर; जिनके लिए पानी का बरसना पकौड़ी और चाय या कबाब और ह्विस्की का सिगनल है; जिनके पास इतनी फ़ुरसत है कि पानी बरसते समय वह घर में बैठकर चार दोस्त चाय के दौर के संग ब्रिज या रमी या शतरंज खेल सकते हैं। ऐसों ही के लिए बरसात का कुछ मज़ा हो सकता है, क्योंकि वह बरसात की बेहूदगियों को गरदनियाँ कर बाहर निकाल सकते हैं। उंह, पानी बरसता है बरसे, हमारे ठेंगे से! मगर हमाँ-शुमाँ के लिए तो बरसात मौत है, घर चू रहा है इसलिए रात भर यहाँ वहाँ इस उस कमरे में तसला लगाते घूम रहे हैं। और दिन भर रात की रोटी का बन्दोबस्त कर रहे हैं।

कीचड़ हो, कांदो हो, आँधी हो, तूफान हो, कुछ हो, सबेरा होने के साथ साथ सारे धन्धे शुरू हो जाते हैं, राशन की खिटखिट है या दफ्तर है या छोटी-मोटी दूकान-दौरी है, बहरहाल कुछ न कुछ है जो दिन निकल आने के बाद फिर आपको एक मिनट चैन से नहीं बैठने दे सकता। बड़ा ज़ालिम मालिक है वह, नाँध ही देता है आदमी को कोल्हू के बैल की तरह। बस घूमो अपने कोल्हू के इर्द गिर्द। अपने उसी छोटे से चक्कर में, आँख पर पट्टी बंधी हुई। आज घूमो और कल घूमो और परसों घूमो और उसके भी एक रोज़ बाद और उसके भी एक रोज़ बाद और उसके भी एक रोज़ बाद ......और इसी तरह एक रोज़ कोल्हू में जुते-जुते ही वहीं ढेर हो जाओ क्योंकि तुममें अब बचा ही क्या, तुम्हारा तेल तो सारा निकल गया।...अरे तुम्हें पता नहीं चला, अपना ही तेल तो तुम निकाल रहे थे घूम-घूम कर!

......हम ऐसों के लिए बरसात नहीं। किसान की बात अलग है। उसके पैर साफ मिट्टी में सनते हैं, शहर की लीद के कीचड़ में नहीं। धोती ऊपर चढ़ाकर वह उसी मिट्टी और पानी के घोल में फावड़ा और कुदाल लेकर हल जाता है और फिर उसके संग कुश्ती करता है। उसे कुर्ते के दामन को भीगी हुई चप्पल के छींटों से बचाना नहीं पड़ता। और न उसके कपड़े भीगते हैं, क्योंकि उसके तन पर कपड़ा होता ही नहीं। पानी की बूँदें सीधे उसके शरीर पर पड़ती हैं। वह तो मेरी समझ में नहाने जैसी बात हो जाती है। वह चीज़ समझ में आती है। किसान के लिए पानी का मतलब है फसल, जो उसकी भले न सही, भले उस पर ज़मीदार और महाजन और पटवारी के दाँत हों लेकिन तब भी वही उसकी जौ की रोटी और बथुआ के साग का सहारा है। किसान के लिये बरसात का मतलब है हरियाली, चारों तरफ हरियाली, हरी घास और हरी पत्तियाँ, नहाई हुई और

चमकती हुई। हमारे लिये बरसात का मतलब है चिपचिप सड़कें और नहूसत की अफ़ीम पिये ऊंघते हुए से, कठघरे जैसे मकान और मक्खियाँ, अनगिनत मक्खियाँ। किसान के घर में भी मक्खियाँ होती हैं मगर इतनी नहीं...... And so it does make a difference..and a fat lot of it too !

Oh hell !

Not for us

Not for us the oozing sky

the accursed, leathery, drip-drop sky

For us

The Sun

The good round Sun

Like a warm brown-baked

Indian bread fresh from the oven

The life-giving, the everlasting Sun

The Indestructible.

Like Hope indestructible.

Like the proud destiny of Man.

Father of light and hope.

The incandescent ball.

The Sun in the sky.

The Sun in my heart.

११ अक्तूबर

मुझे तो भाती है सर्दी, बहुत कड़ाके की नहीं, ऐसी जैसी कि आजकल

पड़ रही हैं। आसमान खूबसूरत नीला निकल आया है, अब एक भी दाग या चकत्ता उसके जिस्म पर नहीं है। ऐसा ही मौसम सब दिन रहे तो कैसा अच्छा हो........

१३ अक्तूबर

श्रीमान् सत्यवान् जी, क्या मैं जान सकता हूं आपके पैर आजकल लाइब्रेरी की तरफ रोज़ क्यों बढ़ जाते हैं? रेफरेन्स बुक्स शायद ज्यादा कंसल्ट करनी पड़ रही हैं!

१५ अक्तूबर

सोवियत प्रदर्शिनी को बस अब पन्द्रह दिन और हैं। प्रदर्शिनी का प्रचार हुआ तो है मगर काफ़ी नहीं। सात दिन में कम से कम पचीस हज़ार आदमी देखें तो समझो कुछ हुआ।......और मुझे देखो मैंने अभी उषा से भी नहीं कहा। राज को तो मालूम है। इधर दो तीन बार उषा से मुलाक़ातें तो हुई मगर उस वक्त यह चीज़ कुछ ध्यान से उतर गयी। कल मैं उषा के घर जाकर उसे बतला दूंगा। उसे प्रदर्शिनी में ज़रूर आना चाहिए।

१६ अक्तूबर

आज मैंने जाकर उषा को ख़बर कर दी। सुनकर बड़ी खुश हुई। बोली—ज़रूर आऊंगी। पिता जी को भी संग लाऊंगी।

और ज्यादा कुछ बातें न हुईं, यों ही इधर उधर की दो एक। उषा इतना कम क्यों बोलती है, मगर कैसे अच्छे लगते हैं उसके बोल जैसे मोती झरते हैं (शायद इसीलिए उन्हें हाथ रोककर खर्च करती है!)

बड़ी मजे की बात हुई आज एक। मुझे चाय की प्याली पकड़ाते समय कहीं भूल से उसका हाथ मुझसे छू गया। ओह....ऐसा

कांपी कि कुछ न पूछो.... बहुत सी चाय उछल कर तश्तरी में आ गयी। क्यों कांप गयी वह ? वह भी मुझे चाहती है क्या ?

जाड़ा कैसा हसीन मौसम होता है। उसकी हर चीज़ कैसी ताज़ा और खूबसूरत होती है और दिल कैसा उमंगों से भरा होता है, काम करने में कितना जी लगता है। प्रदर्शिनी को कामयाब बनाने के लिए कुछ उठा न रखूंगा। राज से भी कह आया हूं।

२५ अक्तूबर

आज अकस्मात् (!) उषा से भेंट हो गयी, कालेज में। वह उधर से आ रही थी लार्ज़ लेक्चर थिएटर की तरफ से, मैं इधर आर्ट्स बिल्डिंग की तरफ़ से जा रहा था।

मुझे शरारत सूझी, रहा न गया, मैंने कह दिया—उषा जी, आप तो इतनी सी हैं, कोई चाहे तो आपको तोड़ मरोड़कर जेब में रख ले। उषा कुछ बोली नहीं मगर उसका चेहरा लाल हो गया... कहीं बुरा तो नहीं मान गयी.....

२६ अक्तूबर

मैं उषा के घर गया था। जी नहीं माना।

'आप मेरी बात का बुरा तो नहीं मान गयीं ? मैं बहुत बदतमीज़ आदमी हूं।'

उसने फिर भी कुछ नहीं कहा, सिर्फ मेरी ओर देखा, आँख जमाकर और मुसकरायी—Satya, she is innocence itself. How ravishing! my Mona Lisa! The mysterious and charming smile.

Usha, my Goddess, said Let there be no fear and there was no fear....

Her smile, beautiful as the snow-capped peaks of the Himalayas....

नौकर ट्रे में चाय रख गया, तो उषा ने कहा—लीजिए।

बच्चों की तरह हठ करते हुए मैंने कहा—नहीं, आपके हाथ से लूँगा.....

उषा पहले तो थोड़ा शरमायी सकुचायी फिर हलके हलके मुसकराते हुए बोली—आप समझते हैं मैं रोज रोज चाय छलका दूँगी। मैं ऐसी फूहड़ नहीं हूं। आप मेरा इम्तहान लेना चाहते हैं ?......

मैंने कहा—नहीं तो, मुझे आपका इम्तहान लेने से क्या गरज, मैं तो आपके हाथ से चाय की प्याली लेना चाहता हूं।

फिर उषा ने कुछ नहीं कहा। चाय ढाली और प्याली मुझे दी। एक चुसकी लेकर मैंने कहा—शकर जरा ज्यादा हो गयी।

उषा ने कहा—आप शायद बहुत कम शकर लेते हैं, डेढ़ ही चम्मच तो दी है।

मैंने कहा—कसूर आपका नहीं है।

उषा ने बड़े भोलेपन से पूछा—यानी ?

मैंने बड़ी हिम्मत करके कहा—आपके हाथ की बरकत है...कुछ मिठास तो उसमें यों ही आ जाती है....

मेरा यह कहना था कि उषा एकदम रँग उठी। इसके बाद वह मेरी ओर नहीं देख सकी, इधर ही उधर देखती रही।......

चाय की प्याली वापिस मेज पर रखते हुए मैंने कहा—कोई बहुत

ज़रूरी काम न कर रही हों तो आइये ऐल्फ्रेड पार्क तक घूम आ।
फूलों की बड़ी बहार है।

उषा ने कहा—फूल तो यहाँ भी हैं।

मैंने कहा—यहाँ तो बस एक ही फूल है !

इस पर उषा ने मुझे ऐसी निगाहों से देखा कि मैं समझ नहीं सका कि उन आँखों में क्या है——बिजली या इन्द्रधनुष के सतरंगे तीर। शायद दोनों। शायद कोई नहीं। बहरहाल, उषा पार्क नहीं चली। याद दिलाना मैं नहीं भूला—पहली से है प्रदर्शिनी। सात दिन रहेगी।

पहली नवम्बर

. . . . . .

आज प्रदर्शिनी का उद्घाटन हो गया। महावीर बाबू ने बड़ी अच्छी स्पीच दी। लोग बड़े प्रभावित हुए। उषा भी बड़े ध्यान से उनकी बातें सुन रही थी और मैं बड़े ध्यान से सब की नज़र बचाकर (उषा की नज़र बचाकर तो है ही, शायद खुद अपनी नज़र बचाकर भी क्योंकि यह खयाल मुझे पूरे वक्त सता रहा था कि यह मैं ठीक नहीं कर रहा हूं, ऐसा मुझे नहीं करना चाहिए) उसको देख रहा था। बीज कैसी धरती पर पड़ रहा है, बंजर धरती पर तो नहीं पड़ रहा है यह जानने की लालसा ही मुख्य थी। सो मुझे तो उषा की आँखों और चेहरे को देखकर लगा कि धरती बड़ी अच्छी है, बड़ी उपजाऊ। उषा को तो छोड़ो उषा के पिता जी की मुद्रा ऐसी थी जैसे कोई उन्हें किसी नये लोक की सैर करा रहा हो। महावीर बाबू ने कहा: 'मैं कम्युनिस्ट नहीं हूं कि कोई मुझे रूस का गुप्तचर कहकर बात को खतम कर देने की कोशिश करे। मैं कांग्रेसी आदमी हूं, कांग्रेस में ही मेरी ज़िन्दगी गुज़री है। कांग्रेस के झंडे के नीचे मैंने लाठी खायी है, कांग्रेस के झंडे के नीचे मेरे छः साल जेल में गुज़रे हैं। मैं कभी रूस गया

भी नहीं हूं लेकिन रूस साइबेरिया या उक्राइन की किसी झोंपड़ी में टिमटिमाती हुई कोई रोशनी नहीं है, जिसे खुद अपनी इन आंखों से देखकर ही उसके होने का यक़ीन किया जा सकता है। रूस वह नया सूरज है जो क्षितिज की गोद से निकलकर आसमान के कंधों पर चढ़कर जब खेलता है तो सारी दुनिया उसे देखती है क्योंकि न देखना मुमकिन नहीं है। रूस आज के इतिहास का सबसे ज्योतिष्क सत्य है, पंडित नेहरू के शब्दों में इस अंधेरी दुनिया की अकेली उम्मीद।

'मित्रो, मैं आँकड़े वाँकड़े नहीं समझता, आँकड़े मेरे दिमाग में घुसते ही नहीं ;...खेती की पैदावार के आँकड़े...कल कारखानों की पैदावार के आँकड़े, स्कूलों, युनिवर्सिटियों, पालीटेकनिकों, अस्पतालों, लाइब्रेरियों, किताबों, नाचघरों, सिनेमा और थियेटर के आँकड़े। सब यहाँ पर हैं, एक से एक खूबसूरत और साफ़ सुथरे चार्टों और नक्शों के रूप में। आप उन्हें देखें, खूब गौर से देखें और दिमाग में बिठाल सकें तो बिठालें। (गो मैं इसे एक नामुमकिन कोशिश समझता हूं।) इस पर लोग खूब हंसे।

'असल अकाट्य प्रमाण वही हैं। उनसे सूचना मिलती है कि एक आज़ाद और खुशहाल दुनिया का जन्म यहीं इसी धरती पर कहीं हो गया है.....आँकड़े कभी झूठ नहीं बोलते, गो मैं जानता हूं कि झूठ बोलने वाले आँकड़े भी होते हैं मगर वह आँकड़े नयी दुनिया के नहीं, पुरानी दुनिया के होते हैं जिसका दम अब टूट रहा है....मुझे पता है कि हमारे अंग्रेज़ प्रभु लोग जब हमें खाना नहीं खिला पाते तो आँकड़े खिलाते हैं, कपड़े नहीं पहना पाते तो आँकड़े पहनाते हैं, रहने को मकान नहीं दे पाते तो आँकड़ों के बेजान भूरे आसमान के नीचे बिस्तर लगाने की नेक सलाह देते हैं। और जब हमारी अक्लों को रोशन नहीं कर पाते तो इन्हीं आँकड़ों की गिट्टी में गारा

मिलाकर उसी से हमारे दिमाग की उन दरारों और संधों को बन्द कर देते हैं जिनसे रोशनी आती है या आ सकती है....ऐसे भी आँकड़े होते हैं मगर इस वक्त मैं ऐसे आँकड़ों की बात नहीं कर रहा हूं...

'....और सच बात तो यह है कि मैं कैसे भी आँकड़ों की बात नहीं कर रहा हूं, मैं तो बात कर रहा हूं उस नये सूरज की जो कि कहीं उगा है और जिससे आसमान सुर्ख हो गया है। ......

'मेरे बहुत से दोस्त हैं जो साँप का चोला धरे बाइबिल के शैतान की तरह, आकर लगभग रोज़ ही मेरे कान में कुछ न कुछ फुसफुसाते रहते हैं लेकिन मुझे उससे उतनी भी सुरसुराहट नहीं होती जितनी जिस्म पर चींटी के रेंगने से होती है। क्यों ? क्योंकि मेरे सामने रहता है वह रूस जो कि हिटलर का मुक़ाबला कर रहा है; क्योंकि मेरे सामने रहता है वह लेनिनग्राद जो दो साल तक दुश्मन से घिरा रहा, जिसमें लोगों ने रोटी के एक एक टुकड़े को कई कई टुकड़ों में बाँटकर खाया और दुश्मन का मुक़ाबला किया, भूख से मरना गवारा किया मगर घुटने टेकना नहीं; क्योंकि मेरे सामने रहता है स्तालिनग्राद जिसने आसमान से बरसती हुई आग को आग नहीं समझा जिस एक शहर ने सात रोज़ तक एक हज़ार जर्मन बमबारों के बमों से शहर की एक एक दीवार को गिरते देखा, मगर जिसके रहने वालों के मनोबल की दीवार को कोई जर्मन बम नहीं गिरा सका, जो आख़ीर तक आग की ऊँची ऊंची लपटों से चौबीसों घंटे सुर्ख आसमान और सात दिन तक अनवरत भूडोल से काँपती हुई पृथ्वी के बीच वैसी ही अभेद्य खड़ी रही, और फिर आँधी और तूफ़ान की तरह आगे बढ़ी वह दीवार....

'दोस्तो, हो सकता है मैं बहुत बारीक बातें न समझता होऊं। बाल की खाल निकालना भी मुझे नहीं आते। लेकिन ....'

यहाँ पर महावीर बाबू थोड़ा रुके और फिर एक दम तनकर वीर भाव से खड़े होते हुए बोले—'लेकिन हजार झूठों के काले अंधड़ों के बीच भी मैं इतना अच्छी तरह जानता हूं कि भूखे, नंगे, जाहिल और गुलाम बनाकर रखे हुए लोग अपनी भूख और नंग और जहालत और गुलामी की बेड़ियों की हिफ़ाजत के लिये इस बेमिसाल बहादुरी से नहीं लड़ा करते, न कभी लड़े हैं न लड़ सकते हैं। मैं इतना ही जानता हूं और यही कहने के लिये आज आपके सामने आना मैंने क़बूल किया है।'

उषा और उषा के पिता जी ने एक एक चीज़ पर खूब ठहर ठहरकर प्रदर्शिनी को देखा।

चलते समय मैंने पूछा—कहिये ?

उषा ने कुछ नहीं कहा। उषा के पिता जी ने कहा—मैं अभी अंधेरे कुएं से निकलकर दिन की रोशनी में आया हूं। अभी मेरी आँखें चौंधिया रही हैं।

और यह बात उन्होंने मज़ाक़ में नहीं कही थी।

६ नवम्बर

उषा आज फिर आयी थी—अकेले। मैंने हलके से अचरज के साथ कहा—आप तो पहले ही दिन देख गई हैं ? उषा ने वैसे ही हलके से मुसकराकर कहा—दो बार देखने में कुछ बुराई है ? अच्छी चीज़ तो बारबार देखने की होती है।

प्रदर्शिनी सचमुच बहुत कामयाब रही। भीड़ संभालना मुश्किल हो गया। तीन तो मोटे मोटे रजिस्टर भर गये हैं, जिसमें लोगों ने

अपने इम्प्रेशन्स लिखे हैं, और कैसे कैसे एक से एक अनूठे, एक से एक प्यारे, दिल की तड़प लिये हुए....कोई लिखने वाला होता तो एक ज़बरदस्त उपन्यास तो उन इम्प्रेशन्स पर ही लिखा जा सकता है, वह एक एक इम्प्रेशन इतिहास के स्तम्भों पर खुदे हुए एक एक अभिलेख की तरह है, उन सब के पीछे अपनी अपनी अलग अलग पूरी पूरी कहानी है, कोई बस उन्हें एक में पिरो कर उनकी माला बना दे और उन्हें एक ही रोशनी से उजागर कर दे.....

कल नवम्बर क्रान्ति दिवस है। कल सोवियत मित्र संघ की तरफ से पैलेस में She Defends Her Country दिखलाया जायगा। उषा को, राज को, उषा के पिता जी को यह तसवीर ज़रूर दिखानी चाहिए। सबेरे ही जाऊंगा।

७ नवम्बर

उफ़ क्या तसवीर बनायी है—झकझोर कर रख देती है। किसी में अगर ज़रा सी इन्सानियत, अपने देश की मिट्टी से, उसकी हवा से, उसके आकाश से ज़रा भी प्यार हो तो वह उस लड़की को फांसी पर चढ़ते देखकर अपने को वश में नहीं रख सकता। नफ़रत और गुस्सा सुलगते हुए पेट्रोल की तरह पेट से ऊपर चढ़ता महसूस होता है और ओठों पर आकर बन जाता है एक शाप, एक चुनौती जो हथगोले की तरह फेंकी गयी है उन खूंखार दरिन्दों पर।

मैं तो उषा और उसके पिता जी की शकल देख रहा था इन्टरवल में। For Usha's father it was a first rate moral calvary and for Usha herself it was a call, a call from somewhere, from the wild, a call to action, a summons to battle, a call perhaps not yet loud enough, but a call nonetheless.

And Raj? She sat inert and dead, as so many pounds of cold mutton.

उषा के पिता जी को देखकर लगता था जैसे उनके अन्दर, बड़ी ऐंठन के साथ बड़ी मरोड़ के साथ कुछ टूट रहा हो, not like the breaking of china, but like the breaking of limbs upon the wheel....It was the old world dying within him.

और उषा ? उषा के कानों में तो जैसे कोई पुकार आ रही थी दूर कहीं किसी जंगल से किन्हीं मैदानों से, कर्म की पुकार, युद्ध की पुकार। एक अजीब सी शान्त दृढ़ता उसके चेहरे पर थी जिसमें कुछ आँसू और कुछ मुसकान दोनों घुले हुए थे और कानों में वही दूरागत मारू का स्वर बज रहा था....वह शायद खुद भी कभी किसी दिन छापेमार बनेगी और अपने साथियों का पता दुश्मन को न बतायेगी न बतायेगी और इसी जुर्म में, अपने सिले हुए होंठ लेकर फांसी पर चढ़ जायेगी—कुछ यही भाव था उसके चेहरे पर।

और राज ? वह तो ऐसी जड़ बैठी थी जैसे मुर्दा गोश्त का एक ढेर। उसका चेहरा लकड़ी के पटरे की तरह एकदम सपाट था, उस पर कहीं कुछ नहीं था, एकदम सूखा और बेजान, एक रेखा न थी उस पर, मास्टर के आने के पहले क्लास के ब्लैकबोर्ड की तरह।

उषा और उसके पिता जी तो तसवीर का सारा बोझ दिल में लिए हुए हॉल से निकले, ऐसे जैसे तसवीर के ही कुछ दृश्य अब भी उनकी आँखों के सामने हो रहे हों..... और राज ने कहा: यह तो वॉर पिक्चर है सत्य !

मैंने कोई जवाब नहीं दिया, उषा ने भी कुछ नहीं कहा, उषा के पिता जी ने राज को यों देखा जैसे समझ न पा रहे हों कि यह क्या बक रही है......

राज तो एक लाश है। ज़िन्दगी से उसका कोई ताल्लुक़ नहीं। ज़िन्दगी अब उसके अन्दर हरकत नहीं करती। उसकी रगों में अब ज़िन्दगी नहीं बहती। इसी से ज़िन्दगी की भाषा अब उसकी समझ में नहीं आती। देखते नहीं उसके चेहरे पर मौत के दस्तख़त हैं! ज़िन्दगी में कहीं इतनी उमंग इतना उल्लास भी है कि आदमी ज़िन्दगी के लिए मर जाये—उहुंक् यह चीज़ उसकी समझ में नहीं आती और न आ सकती है और उसके लिए तुम उसे दोष भी नहीं दे सकते सत्य, उस सब को देखते हुए जो उस पर गुज़री है, वह ज़िन्दगी जो उसने बितायी है, वह ज़िन्दगी जो ज़िन्दगी नहीं मौत है।

....

मैं उसे दोष नहीं देता, मगर कैसा अजीब लगता है!

८ नवम्बर

आज शाम को जब मैं उषा के यहाँ गया, वह अपने पिता जी के संग बगीचे में काम कर रही थी।

मुझे देखकर पिता जी बोले—आप चलिये बैठिये हम लोग अभी आये।

मैंने कहा—मैं भी अगर इस काम में आपका हाथ बटाऊं तो कुछ बुरा है? और वहीं पड़ी एक खुरपी लकर एक क्यारी की मिट्टी ठीक करने लगा।

उषा के पिता जी ने कहा—मैं तो रात भर सो नहीं सका।....

मैंने कोई जवाब नहीं दिया, मैं समझ गया किस चीज़ की तरफ़

इशारा कर रहे हैं। फिर वह खुद ही बोले : जिस देश में इतने गहरे देश प्रेम की शिक्षा दी जाती हो वह गुलामों का देश नहीं हो सकता, देशप्रेम और गुलामी का कोई जोड़ नहीं है। आज़ाद मुल्क ही ऐसी तसवीरें बनाने की हिम्मत कर सकता है। क्यों नहीं हमारे मुल्क में आज तक एक भी ऐसी तसवीर बनी ?

मैंने मुसकराते हुए कहा—इसी उधेड़बुन में शायद आप रात भर नहीं सोये ?

उषा के पिता जी ने अपनी उसी गम्भीर मुद्रा में कहा : 'मैंने कल की तसवीर और उस दिन आप वाली वह प्रदर्शिनी देखकर यह अच्छी तरह समझ लिया है कि नया रूस नयी दुनिया और नयी तहजीब का पहला फूल है, ऐसा ही एक सुर्ख गुलाब', कहकर उन्होंने बड़े दुलार से अपने एक गुलाब को छुआ, फिर उसे तोड़कर मुझे देते हुए बोले : लीजिए यह गुलाब आपका है......

फिर वह हाथ-वाथ धोने अन्दर चले गये। उषा ने कहा : आपने सचमुच बड़ी अच्छी तसवीर दिखायी कल।

मैंने कुछ नहीं कहा, बस उषा को देखता रहा। उषा पहले तो लजा गयी, इधर उधर ताकने लगी, फिर हिम्मत करके बोली : आप इस तरह मुझे क्यों देख रहे हैं ?

मैंने कहा : मन को अच्छा लगता है।

उषा ने अजब एक शोखी से जिसमें ज़रा भी छिछोरपन नहीं था और जो आज पहली ही बार दिखायी दी, कहा : वाह रे आपका मन .....और मैं अगर कहूं कि मेरे मन को यह नहीं अच्छा लगता तब ?

मैंने कहा : 'तब नहीं देखूँगा', और दूसरी तरफ़ देखने लगा।

प्रायः मिनट भर बाद उषा ने मुसकराकर कहा : मेरी बात आपको बुरी लग गयी शायद ?

मैंने उसी तरह कहा : नहीं इसमें बुरी लगने की क्या बात है, अपना अपना मन है।

उषा ने कहा : मैंने तो यों ही कहा था, आप मेरा कुछ चुराये थोड़े ही लेते हैं! आइये इस तरह खड़े मत रहिये, चलिये अन्दर चलकर बैठें।

अन्दर चलकर बैठे तो हम लोग ज़रूर मगर बस बैठे रहे, कोई बात नहीं हुई। मेरे पास कहने को कुछ था ही नहीं और उषा तो यों ही कम बोलती है। लिहाजा हम लोग बस बैठे रहे, फिर मैं उठकर चला आया। मेरा दिल बहुत भरा भरा सा लगता था मगर पता नहीं क्यों मुंह पर कोई बात नहीं आती थी। बस यही जी चाहता था कि इसी तरह बैठा उसे देखता रहूं। उषा भी नज़र नीची किये बैठी रही। हममें से कोई बोल नहीं रहा था, मगर तब भी पता नहीं क्यों आमने-सामने बैठे हुए दो आदमियों के आपस में कुछ बात न करने से एक घुटन सी जो होती है, वैसा कुछ मुझे नहीं मालूम हुआ।
A strange soothing feeling came over me, like the touch of heavy silk, and my heart was full. But I had no words. Was it necessary? Perhaps not. Maybe the heart can speak to the heart straight—even without the embarrassing medium of speech.

मैं इतना भी कह सकता हूं कि उषा का दिल भी एकदम रीता नहीं था।

१२ नवम्बर

मुझे उषा के यहाँ इतना न जाना चाहिए।

२५ नवम्बर

शायद हाइने एकदम गधा नहीं था। मैं कह नहीं सकता। मगर उसकी बात में कुछ सच्चाई हो भी सकती है। लेकिन वाह रे हाइने, क्या बात कही है तूने 'दिल में दाँत का दर्द'! हा हा दिल में दाँत का दर्द......

२७ नवम्बर

मुझे उषा से प्रेम हो गया है। हाँ हाँ हाँ...

२८ नवम्बर

Nor is love at first sight all stuff and nonsense. Your whole being sizes up the other person sitting before you and you know in an instinctive sort of way (you could even call it intuitive), in a flash as it were, that you want her and her alone, that you were made for none else and she was made for none else and DESIRE comes over you as a surging tide. And, mind you, in that moment itself, it is not merely a desire for the rose-bud mouth or the ivory skin or the ruby lips or the eyes with their deep Oceanic blue or the satin sheen that covers the flesh as the dew covers the flower. No, no, it is not that, it is a desire for all that the other person is. And that is love. Love at first sight, if you please! You may scoff at it but let me tell you that is how love is born and the subsequent months or years of courtship are but a ratification of that love, its growing into a lifelong union. But in that first moment itself it already is love. To say that is not to say that the story

ends there or that love stops growing. No. It grows, as it should, into something higher and taller and nobler—that is life. And then love becomes life. Love is not the end. It is only the beginning. It is the instrument of creation....

I should, I must confess it to Usha.

१ दिसम्बर

मुझ से और न रहा गया। आज मैं उषा के यहाँ गया था। अपने फाटक पर ही मिल गयी। टहल रही थी।

मुझे देखकर उसने मुसकराने की कोशिश की और सत्य, मुसकराने और मुसकराने की कोशिश करने में उतनी ही साम्य और उतना ही अन्तर है जितना ज़िन्दा आदमी और उसकी लाश में..... मगर ऐसा क्यों? आज उसमें वह ललक क्यों नहीं थी? वह इतने सर्द ढंग से क्यों मिली? क्या इतने दिन जो मैं नहीं गया उसी से मन के सारे भाव, सारी दोस्ती, सब प्रेम-प्रीत मर गयी? दिल की कली मुरझा गयी!

कहिए कैसे आये आज?

आज आप यह क्यों पूछ रही हैं?

अच्छा, नहीं पूछती...चलिये बैठिये।

यहीं क्या बुरा है।

अच्छा।

फिर खामोशी। मेरी समझ में नहीं आया मैं कैसे बात शुरू करूं?

बहुत कुछ कहना चाहता था मगर लफ़्ज़ आआकर गले में अटक जाते थे, जैसे उषा के सर्दपन का वह पत्थर मेरे गले में आकर फंस गया हो। यह कहना गलत है कि बोलते समय बोलने का ताल्लुक़ सिर्फ बोलने वाले से रहता है। बस गला बोलने वाले का रहता है, मगर उसमें से आवाज़ निकलेगी या नहीं, या क्या आवाज़ निकलेगी, यह चीज़ वह दूसरा आदमी तय करता है जिससे बोला जा रहा है.,..हाँ यह ठीक है, बोलने का यह क़ायदा ज़रूर है कि बोलते समय आवाज़ एक ही आदमी की सुनायी देती है मगर बोलता दूसरा आदमी भी है—अपनी आँखों से अपने पूरे जिस्म से, अपनी उत्सुक खामोशी से, और तभी बातचीत हो सकती है। वर्ना कोई बातचीत नहीं हो सकती। अगर ऐसा न होता तो आदमी दीवार से भी बात कर सकता। जब दो दिल आपस में मिलते हैं तो एक लफ़्ज़ एक बोल पैदा होता है और दूसरा दिल अगर मिलने के लिए आगे न आये ? तो लफ़्ज़ मर जाता है, बोल मर जाता है, उसका दम घुंट जाता है.....उसी तरह जैसे आज मेरे बोल का घुंट गया।

मुझे अब यह भी याद नहीं कि चलते समय मैंने उससे क्या कहा, कुछ कहा भी या यों ही चला आया...एक पहाड़ सा दिल पर रक्खा हुआ है।

२ दिसम्बर

आज वह पहाड़ उतर गया। मैं एक चिट्ठी लिखकर उषा को दे आया। चिट्ठी उसके हाथ में पकड़ाकर फ़ौरन पलट पड़ा, एक सेकेण्ड भी नहीं रुका। ज़रूर चकरायी होगी उषा कि यह क्या। रोकती रही, मैंने कहा, किसी और दिन आऊंगा।

राज

१ जुलाई

सत्य माने चाहे न माने उषा खुब गयी है उसकी आँखों में। मैंने इशारा किया तो बात को मजाक में टाल देने की कोशिश करता है जैसे एक उसे छोड़ दुनिया में और सब मूर्ख ही तो बसते हैं! चाहने वाले की आँख का गुलाबी डोरा छिपाये से नहीं छिपता सत्य बाबू और न कोई यों ही, खामखा, किसी अनजान लड़की को इस तरह घूरता है। सत्य वैसा लड़का भी तो नहीं।.....कल आवेंगे बाबू साहब, उषा के यहाँ ले जाना है उनको।

२ जुलाई

गहरा असामी है सत्य, मन की थाह जरा मुश्किल से लगने देता है। मगर मुझसे कहाँ तक उड़ोगे बच्चू, नानी के आगे ननिहाल की बात!

७ जुलाई

मेरे दिल की कैफ़ियत कोई उनके दिल से पूछे! आज उषा आयी थी सत्य के बारे में पूछती थी!

आग एक घर में लगी धुआँ दूसरे घर से उठा, आवाज़ यहाँ हुई गूँज वहाँ सुनायी दी, तीर लगा इधर पार हुआ उधर।

१३ जुलाई

नादान बच्चे! प्यार करने निकले हैं। अच्छा है किश्ती किसी किनारे लग जाय। मुझे तो सुख ही होगा अगर कुछ बात हो जाय।

परसों सत्य का वेरायटी शो है।

१५ जुलाई

सोचो तो कितने लाख आदमी मर गये भूख से ! और तो और लाखों बच्चे भी, अपनी माँओं के लाड़ले, एक एक बूंद दूध और एक एक कनी चावल के दाने के लिए तरस तरस कर ! माँ की छाती में दूध नहीं था कि अपने बच्चे को पिला सकती, अपनी आँख के तारे को अपने हीरे को, जिसे नौ महीने उसने अपनी कोख में रक्खा... और कहाँ से हो छाती में दूध, खून का ही तो दूध बनता है और खाने से ही तो खून बनता है। बच्चों ने सूखी छाती चिचोड़ चिचोड़ कर दम तोड़ दिया मगर उसमें से एक बूंद दूध नहीं निकला। लोग कहते हैं माँ का प्यार ही दूध बन जाता है। तो क्या उन माँओं को अपने बच्चों से प्यार नहीं था ?..... गलत बात है, दूध माँ के प्यार से नहीं खाने से बनता है !

लड़कियों ने साग भाजी के भाव टके मोल अपने को बीच बाजार में बेंचा, एक मुट्ठी चावल के लिये, एक हाँड़ी खिचड़ी के लिए, गाहक की तलाश में, खोलकर खड़ी हो गयीं अपना शरीर बीच बाजार!! ओफ़ ओफ़, दुनिया में कहीं चैन नहीं है क्या ! कहीं सुख नहीं है ? कोई नहीं है जिसकी जिन्दगी को नागफनी के काँटों ने न रूंध दिया हो ?! नहीं राज कहीं नहीं। यह दुनिया दुख का डेरा है। किसी को एक दुःख है किसी को दूसरा।......मेरे पास खाने को है मगर सच कहो सत्य, मैं सुखी हूं क्या, मुझे क्या कोई दुःख नहीं ? भूख क्या सिर्फ मुट्ठी भर चावल की होती है ? तुम्हारे दिल में तो दूसरे का दर्द है सत्य, तुम्हीं कहो न मेरी आँखों में उतर कर, क्या मुझे कोई दुःख नहीं, मैं क्या सुखी हूं ? फिर क्या होगा इतने लोगों को मौत से बचाकर, क्या फ़ायदा ? जो मरते हों उन्हें मर जाने देना ही बेहतर है। यों भी तो जिन्दगी एक लाश ही है। उसे क्यों इतना संजोकर

रखा जाय, वह कौन सी ऐसी बड़ी धरोहर है! बस इसीलिये न कि दुनिया यह न कहे कि इतने लोग भूख से मर गये गोया भूख से मरना ही अकेला मरना है। उन्हें मरने न दो, बचा लो जिसमें जिन्दगी भर दुख का पहाड़ ढोयें! जो मर जाते हैं उन्हें इस कठघरे से छुटकारा तो मिल जाता है। मुझे तो मौत भी नहीं पूछती!

अपने वैरायटी शो में तुमने मेरा कोई प्रोग्राम क्यों नहीं रक्खा सत्य, वहीं ले जाकर खड़ा कर देते मंच पर। सच कहती हूं मैं ज़रा न हिलती और न मुंह से एक लफ़्ज़ निकालती। मुझसे अच्छा बैले करने वाला तुम्हें दूसरा न मिलेगा——एकदम मूक.......और अभिनय भी नहीं! मुझे अभिनय करने की ज़रूरत नहीं है, लाश को मौत का अभिनय नहीं करना पड़ता। बंगाल से कोई लाश लाकर तुमने लिटा दी होती तो वह भी वही करती जो मैं करती। तुमने मुझे क्यों नहीं बुलाया, तुम्हें क्या मुझ पर यक़ीन नहीं था!

दीवारों पर भूखों के इतने पोस्टर तुमने टाँग रखे थे, एक जगह मुझी को खड़ा कर देते। सच कहती हूं मैं एकदम तसवीर की तरह खड़ी रहती एकदम! या टाँग ही देते सलीब पर! लोग देखते मगर समझ ही न पाते कि यह ज़िन्दा है या मर गयी।.....और बेचारे लोग क्या समझते, मैं ही आज तक नहीं समझ पायी!

तुम मेरा बैले क्यों नहीं कराते सत्य!

१७ जुलाई

आज मिसेज़ वार्ष्णेय आयी थीं। पूछा—परसों वैरायटी शो में गयी थीं? मैंने कहा—हाँ। बोलीं—मैं भी गयी थी। बड़ी दर्दभरी कहानी है बंगाल की। इतने लाखों नन्हें नन्हें बच्चे—ज़रा सोचो राज, क्या गुज़री होगी उनकी माँओं पर! छीन ही लेना था

भगवान को तो बेचारियों की कोख में बच्चे दिये ही क्यों ? ऐसे होने से तो न होना अच्छा है। गंवाने का दुख तो नहीं होता !

मैंने कोई जवाब नहीं दिया। उन्होंने मुझको सोचने को कहा था, मैं सोचने लगी, मगर ज्यादा नहीं सोच पायी, मिसेज़ वार्ष्णेय के तीनों बच्चे आकर मेरे दिमाग में चक्कर लगाने लगे, और मेरे जी में आया कि कह दूं——ऐसी बातें आपको इसीलिए सूझती हैं कि आपकी गोद भरी हुई है और आपको मालूम है कि वह तीनों मज़े में घर पर खेल रहे हैं। जिसकी कोख सदा सूनी रही, जिसने वह सब कुछ जाना ही नहीं, जिसकी कोख में पीर उठी ही नहीं, जिसने जाना ही नहीं कि बच्चा तुतलाता है तो माँ को कैसा लगता है उस राज को, उस राख के ढेर को यह क्या सुनाने आयी हो ? गंवाने में दुःख होता है सही मगर गंवाता भी वही है जिसके पास कुछ होता है गंवाने को। और जिसके पास कुछ हो ही नहीं ? आपको पता न होगा मगर मुझको पता है, वह भी सुखी नहीं होता।

मगर जवाब में मैंने कहा—सच कहती हैं आप !

२० जुलाई

बैले की कामेंटरी वाक़ई बड़ी अच्छी थी। उषा कितना तन्मय हो कर सुन रही थी जैसे राधा अपने मुरली वाले की मुरली की तान। ...मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई।

२८ जुलाई

सत्य ने तो आना ही छोड़ दिया है। ठीक भी है, क्या करे यहाँ आकर ! यहाँ तो हर चीज़ से उसे मौत की बू आती होगी या जैसी वह भुकुड़ी-सी नहीं लग जाती बासी चीज़ों पर, उसे देखने आये यहाँ पर ! क्या करने आये.....उसकी नयी जिन्दगी शुरू हो रही

है, राजनीति की नयी जिन्दगी भी और प्रेम की भी —हाँ वह उषा से प्रेम करता है, मेरी आँखें धोखा नहीं खा सकतीं। तो बताओ न, उसकी इस नयी ज़िन्दगी में जिसमें तमाम उम्मीद ही उम्मीद है, रोशनी ही रोशनी है और काम का ऐसा अथाह पारावार है जिसमें दिन रात किश्ती चलाने के बाद भी किनारा नहीं नज़र आता—उसमें बताओ मेरी क्या जगह हो सकती है?

३० जुलाई

मैं एक बुझी हुई ज़िन्दगी हूं राख। और राख अगर चिनगारी के पास जाय तो यही कर सकती है कि उसे ढंक ले। चिनगारी खुद राख में प्राण की एक चिनगारी डाल दे, ऐसा नहीं होता।...अच्छा है सत्य ने अपनी छोड़ दिया है, मैं चिनगारी पर राख बनकर नहीं बैठूंगी! बड़ी नहीं बैठूंगी! चिनगारी बैठने भी क्यों देगी तुमको अपने ऊपर, वह पहले से ही बाँस भर दूर है!

७ अगस्त

मैं जानती हूं कि मैं एक अपशकुन हूं उन सबों के लिये जो जिन्दगी की किसी नयी राह पर चलने वाले हों, कुछ वैसी ही जैसे ठीक चलते समय बिल्ली रास्ता काट जाय या नेपथ्य में कोई छींक दे!

१० अगस्त

मगर सत्य के लिए तो मैं कभी अपशकुन नहीं बनी, वह मेरी छाया से इतना क्यों भागता है—बस वही दो तारीख का आया है जब मैं उसे लेकर उषा के गयी थी। मैं क्या कोई डाकिन पिशाचिन हूं जो जीवन के प्रकाश के सीमांत को पारकर मौत के घुप अंधेरे में चमगादड़ों की तरह पंख फड़फड़ाती है! पता नहीं मुझे। लेकिन सत्य, सत्य मुझसे क्यों कतराता है! उसके लिए तो मैं कभी अपशकुन नहीं

बनी, उसके लिए तो मेरे दिल से जब निकला आशीष ही निकला। मैं तो पहले दिन से ही उषा के प्रति उसके आकर्षण को समझ गयी थी....तुम मेरा दिल चीर कर देख लो....तुम देख लो सत्य... तुम देख लो उषा....उसमें तुम मेरी मंगल कामनाओं के सिवा और कुछ नहीं पाओगे। मेरी जिन्दगी बरबाद हो गयी है तो क्या मैं यह चाहूंगी कि तुम्हारी भी जिन्दगी बरबाद हो जाये? क्या मैं ऐसी नीच हूं? तुमने मुझे इतना नीच समझा है! मुझे जिन्दगी में प्यार नहीं मिला तो क्या मैं चाहूंगी कि तुम दोनों भी प्यार न करो। क्या मैं यह चाहूंगी कि दो नौजवान दिल आपस में न मिलें जैसे कि दो नौजवान दिल ही मिल सकते हैं, वैसे ही नौजवान जैसा कि मेरा यह दिल भी कभी था जिसने कोई गुनाह नहीं किया था' मगर जिस पर गाज गिरी! तुम तो सब बात जानते हो सत्य। फिर तुमने मुझको अपने जीवन की इस सबसे शुभ घड़ी में क्यों भुला दिया, तुम्हें तो ऐसा न चाहिए था। तुमने क्या यह समझा कि मैं तुम्हारा साथ न दूंगी? ऐसा क्यों समझा तुमने? तुमने यही समझा होगा कि मेरे पहलू में जो पत्थर हैं वही आकर मेरी राह के और शायद तुम्हारी राह के रोड़े बन जायेंगे। मगर सत्य, वह मेरे पहलू के पत्थर हैं, उन्हें मैंने अच्छी तरह दबाकर रक्खा है, तुम उनसे मत डरो....मगर तुम डर गये और अपने जीवन की इस अलबेली (कौन है-कौन है जो उसको कँटीली कह रहा है! मैं उसका गला घोंट दूंगी!) हाँ सत्य, अलबेली डगर पर अकेले ही चल पड़े, मुझे संग ले लेते तो तुम्हारा कुछ न बिगड़ जाता, हाँ मैं अपनी प्यास ज़रूर मिटा लेती। हाँ सत्य, सच कहती हूं, क़सम खाकर कहती हूं। मुझे जो कुछ नहीं मिला तुमको उसे पाते देखकर मैं डाह न करती तुमसे, उलटे उसी की रोशनी से अपने दिल के इन अंधेरे

कोनों को आलोकित कर लेती। अगर तुमने मुझको यह सन्तोष पाने का मौका दिया होता कि मैंने दो जवान दिलों को एक किया....सत्य, वह मेरा प्रतिशोध होता उन पर जिन्होंने बिना किसी गुनाह के मुझे ज़िन्दा ही कब्र में गाड़ दिया है, मुझसे और किसी प्रतिशोध की उम्मीद मत करो, लाशें प्रतिशोध नहीं लेतीं ! मगर बाकी दुनिया की तरह तुमने भी तो सत्य.....मगर तुम्हें दोष कैसे दूं। सारा दोष मेरा है, मेरे कर्मों का।

तुमने जो किया ठीक किया, मुर्दों को पीठ पर लाद कर चलना सभी को भारी गुज़रता है। बस अब मेरे आशीष को मत ठुकराना, वह मैं तुम्हें सच्चे दिल से दे रही हूं। खुश रहो, आबाद रहो.. सत्य ....उषा.....

१२ अगस्त

मगर मैंने क्या किया था जिसका दुनिया ने मुझे यह बदला चुकाया ! मैं भी तो किसी की होना चाहती थी, मैं भी तो सबसे अलग अपनी एक छोटी सी दुनिया बसाना चाहती थी.....बोलो जवाब दो वह कौन से साँप थे जिन्होंने उसको डस लिया......एक अकेली मेरी फुलवारी को उन्होंने क्यों उजाड़ा, क्यों नहीं सबको उजाड़ दिया, सभी के लिए यह दुनिया ऊसर क्यों न बन गयी !!! .....माफ करना सत्य, माफ करना उषा, मैं होश में नहीं हूं।

२९ अगस्त

आज इतने वर्षों बाद सत्य की शकल दिखायी दी। उषा के पास आया था, कोई किताब देनी थी, सो लगे हाथ यहाँ भी हो लिया, मेरे पास भला क्यों आता ! मैंने कह दिया—मुझे तो कभी नहीं देने आते तुम किताब ! खिसिया गया मेरी बात सुनकर।

सत्य के चेहरे से लग रहा था कि दोनों अब बहुत गहरे उतर चुके हैं, अब जरा उषा को देखना है, उन बीबी जी का क्या हाल है !

१० सितम्बर

और लो आज दोनों मिल गये, एक साथ। सत्य तो पहले से ही आया हुआ था। पता नहीं उषा कैसे तभी आ पहुंची। उफ़ कुछ मत पूछो, बस अब चुनरी में गाँठ भर जुड़ने की देर है। मैं तो बारी बारी से उनके चेहरे को देख रही थी, उनके आते जाते रंगों को। मेरा जी नहीं माना। दोनों एक दूसरे की नज़रें बचा रहे थे जैसे उन्हें डर हो कि वह कुछ कह देंगी। मगर इस तरह तो उन्हें जो कुछ कहना था वह और भी कहे दे रही थीं।.....पर सुख मिला दोनों को देखकर।

उषा चलने को उठी तो सत्य भी उठ खड़ा हुआ। घर तक पहुंचाने गया होगा। मेरे सामने बात नहीं कर पाया न !

प्यार की एकदम अनजानी राह पर ये दोनों चल रहे हैं मगर कितना भरोसा है इन्हें अपने आप पर....मैं क्या जानूँ। पता नहीं अनाड़ी कौन है, ये या मैं ?

बच्चो....बच्चो.....इस दुनिया में आग लगा दो !

१५ सितम्बर

आखिरकार मुझे लखनऊ जाना पड़ गया—यह अच्छी अलसेट लगा दी प्रिन्सिपल ने। डिपार्टमेंट का काम है, 'नहीं' भी नहीं कर सकती, कुछ दिन रुकना भी पड़ सकता है, तमाम शिक्षा विभाग वालों से मिलना-जुलना पड़ेगा।

२४ सितम्बर

हो गया काम।.....लखनऊ में यों ही डिप्टी डाइरेक्टर ने मेरे सामने सुझाव रक्खा कि मैं वहीं चली जाऊं, एक पोस्ट खाली हो रही है। अच्छी जगह है, वेतन भी लगभग सौ रुपए ज्यादा मिलेगा। अभी मैंने हामी तो नहीं भरी, अभी तो यही कहके आ गयी हूं कि सोचकर जवाब दूंगी। मेरा जवाब अगर हाँ में जाता है तो वह लोग डिपार्टमेंट को लिखकर मुझे बुलवाने का बन्दोबस्त कर लेंगे। सोचती हूं स्वीकृति लिख दूं। सब तरह से अच्छा रहेगा। एक तो राइज़ मिल रहा है उसे क्यों छोड़ा जाय, दूसरे.....दूसरे यों भी अच्छा रहेगा.....अकेले में पड़ी रहूंगी कोने में....मैं तो अब ढल चली। यह मिलना-मिलाना, हँसना-हँसाना जवानों को ही अच्छा लगता है। जो हँस-हँसा सकते हैं हँसें-हँसायें, उन्हीं की तो दुनिया है, और मेरे लिये तो यही ठीक है, दूर किसी कोने में.... रहिमन निज मन की बिथा......

२७ सितम्बर

मैंने आज अपनी स्वीकृति लिख दी। देखूं कब से जाना पड़ता है।

४ अक्तूबर

हो गया। जनवरी में मुझे जाना पड़ेगा।

आज प्रिन्सिपल पूछ रही थीं कि मैंने लखनऊ जाने की बात यकायक कैसे सोच डाली। मैंने जवाब में बस राइज़ वाली बात कही। और कहती भी क्या.....

६ अक्तूबर

इलाहाबाद से मुझे नफ़रत हो गयी है, कहीं आने जाने को जी नहीं चाहता।

१६ अक्तूबर

आज फिर उषा के यहाँ से लौटते समय सत्यबाबू मेरे पास भी हो लिये थे। पहली तारीख से कोई सोवियत रूस की प्रदर्शिनी है, उसी की बाबत कह रहे थे। खड़े खड़े कह कर चले गये, बड़े व्यस्त रहते हैं!

१ नवम्बर

मैं आज हो आयी प्रदर्शिनी। तिवारी जी की तकरीर बहुत जोशीली थी—चुनकर बुलाया ही होगा ऐसे आदमी को!

तसवीरों और चार्टों वार्टों को तो देखकर यही मालूम होता है कि वह एक स्वर्ग है इस पृथ्वी पर! कागज़ पर स्वर्ग की तसवीर खींच देना बहुत आसान भी तो होता है न! बस सारी लुभावनी चीजें एक जगह इकट्ठा कर देने भर की देर होती है। और वही किया गया है। वहाँ औरतों की जिन्दगी ऐसी है, बच्चे ऐसे हैं, इतने शिक्षालय हैं, इतनी नर्सरियाँ और किंडरगार्टन हैं, इतने पुस्तकालय हैं, इतने करोड़ पुस्तकें छपीं, इतने नाचघर हैं, सिनेमा हैं, लोग ऐसे काम करते हैं और वैसे काम करते हैं, लोग इतने खुश हैं... सब जालसाज़ी की बातें हैं, मैं नहीं मानती, कभी नहीं मान सकती। मैं ऐसी सावन की अंधी नहीं कि सब हरा ही हरा सूझे मुझे। मैं उस सब माया जाल में नहीं फँसने वाली। ऐसा ही होता तो दुनिया में इतना अंधेरा कैसे होता!

७ नवम्बर

सत्य आज एक रूसी तसवीर दिखाने ले गये थे, उषा और उसके पिता जी भी थे, ...उसमें भी वही बात। प्रचार करने की कला कोई रूसियों से सीखे। ऐसी तसवीर बनायी है कि उसे देखकर

आदमी यह विश्वास किये बिना नहीं रह सकते। कि वहाँ के लोग अपने देश को जान से भी ज्यादा प्यार करते हैं, क्योंकि उसने उनको नयी जिन्दगी दी, नया उजाला दिया। देखने वाला अगर सावधान न हो तो बहा ले जायें ये तसवीरें—इतनी अच्छी बनाते हैं सब, मगर मैं तो सावधान थी क्योंकि मैं तो जानती हूं कि यह सब रूसी प्रचार है। मैं रूस को दोष नहीं देती, जहाँ सब देश अपना भोंपू बजा रहे हैं वहाँ वह भी अपना भोंपू बजा रहा है। कुछ बुरा नहीं कर रहा है वह मगर यह भी न भूलना चाहिए कि है वह भी एक भोंपू! मगर लोग क्या इतनी सावधानी बरतते हैं? राम भजो! तसवीर खत्म होने पर मैं उषा और उसके पिता जी को देख रही थी——एक दम अभिभूत हो गये थे वह उस चीज़ से। यही तो गलत बात है, ऐसा नहीं होना चाहिए, अपने दिमाग की आज़ादी नहीं खोनी चाहिए।....मगर हे राम, तुम्हें क्या बताऊं, मेरे मुंह से कहीं यह निकल गया कि यह तो वॉर पिक्चर है, तब तो उषा ने, सत्य ने, उषा के पिता जी ने गो मुंह से कुछ नहीं कहा मगर मुझे ऐसी आँखों से देखा—कितनी घृणा थी उनमें! मैं तो डर गयी थकथक। मारे घृणा के ही शायद किसी ने मुंह से एक शब्द भी नहीं निकाला।

उषा

३० जून

राज बहन जी के यहाँ आज वह कैसा अजीब आदमी था, मुझे किस बुरी तरह घूर रहा था जैसा कच्चा ही उठाकर चबा जायगा। पता नहीं ऐसे आदमी से बहन जी की कैसे पटती है, मुझसे तो एक रोज न पटे। मैं तो बैठ भी नहीं सकी ज्यादा देर, क्या बैठती, उठकर चली आयी। ईश्वर जाने हिन्दुस्तानियों में तमीज कब आयेगी।

१ जुलाई

मगर मैं सोचती हूं, वह आदमी ऐसा बुरा तो नहीं था। घूर जरूर बहुत बुरी तरह रहा था, वह शायद उसका तरीका ही हो। नहीं, यह मैं इसलिए कहती हूं कि उन आँखों में पाप हो, ऐसा मुझे नहीं लगता, वह एकटक देख रहा था बस, मिट्टी के बर्तन को भी इसी तरह देखता होगा।...पाप था या नहीं, यह कौन कह सकता है ? क्यों नहीं कह सकता। पाप की आँखें भी भला कहीं छिपती हैं ?......और फिर राज बहन जी, वह तो बड़ी गम्भीर हैं, वैसा आदमी होता वह तो भला, उसे इतना मुंह लगातीं कि नोचे बकोटे।

२ जुलाई

राज बहन जी आज उसे लेकर आयी थीं, बंगाल के अकालपीड़ितों की सहायता के लिए कोई शो होगा, वही आदमी कर रहा है। उसी के लिए चन्दा मांगने आयी थीं।

७ जुलाई

मैंने आज बहन जी से उस आदमी की बाबत पूछा। अरे उषी, वह तो आन्दोलन में जेल गया था, अभी कुछ ही दिन तो हुए बाहर आया है।

१५ जुलाई

वैरायटी शो बहुत ही अच्छा था। अकाल की तसवीर सामने लाकर खड़ी कर दी - और वह बैले, उसकी तो बात न पूछो, उसे देखकर मेरे तो रोंगटे खड़े हो गये, बहुत ही अच्छी चीज़ थी। उसके साथ साथ जो कामेंटरी चल रही थी उसने तो और भी चार चाँद लगा दिए थे। सत्य बाबू ही माइक पर बोल रहे थे। पता नहीं उसे लिखा किसने था, अब मिलेंगे तो पूछूंगी। मैं समझती हूं, लिखा भी उन्हीं ने होगा। अब तक मेरे कान में उसके शब्द बज रहे हैं, कितना दर्द था उनमें और कितना गुस्सा! और कैसे न आये गुस्सा उनपर, जिन्होंने अपने लोभ के पीछे लाखों लोगों को मार डाला हो?

२३ जुलाई

...मैं पूछना चाहती थी उनसे कि वह कामेंटरी किसने लिखी थी। मगर सत्यबाबू फिर आये ही नहीं। किसी ज़रूरी काम में फंस गये होंगे, बहन जी ने बताया था कि वह कम्युनिस्ट हैं। मगर वह कम्युनिस्ट कैसे हो गये? वह तो आन्दोलन में जेल गये थे न? आदमी के विचार बदलते रहते हैं, कोई बात हुई होगी।...... मगर भाई, कुछ भी हो ये कम्युनिस्ट होते बड़े मिहनती हैं। शान्ती भी तो कम्युनिस्ट है, शान्ती दास, कितना काम करती है वह, हमेशा

कुछ न कुछ करती रहती हैं, खाली बैठे तो मैंने उसे कभी देखा ही नहीं। बाकी लड़कियों को देखती हूं उन्हें अपने पाउडर लिपिस्टिक से ही फुर्सत नहीं, हमेशा बस एक ही चिन्ता है उन्हें कि आज कौन साड़ी पहनूं कौन ब्लाउज, ब्लाउज साड़ी पर मैच करता है कि नहीं, सैंडिल ब्लाउज पर मैच करता है कि नहीं, लेटेस्ट फैशन क्या है? चूड़ी पहनूं कि न पहनूं—हरदम उन्हें बस यही फ़िक्र सताया करती है। तितली बनी इधर-उधर फुदकती रहती हैं। मुझे ऐसी गुड़ियाँ जरा भी अच्छी नहीं लगतीं। उधर उस शान्ती को देखो, उसे न पाउडर से बहस न लिपिस्टिक से बहस, एक सादी सी साड़ी और वैसा ही सादा सा ब्लाउज पहन लिया और पैर में चप्पल डाल ली—हो गया उसका मेक-अप पूरा। नहीं तो दूसरी बहनों को तो डेढ़ घंटा सजने संवरने में लगता है। पूछो इस सब की तुमको क्या जरूरत?

हाँ, शान्ती से मेरी कुछ खास मुलाकात तो नहीं लेकिन देखती तो उसे मैं हूं ही सदा—हमेशा किसी न किसी काम से लगी रहती हैं।

६ अगस्त

युनिवर्सिटी लाइब्रेरी भी कितनी निकम्मी है, उसमें कभी कोई किताब ही नहीं मिलती। दो बार तो मैं लूकस की 'ट्रेजेडी' के लिए जा चुकी हूं। बाजार में भी नहीं मिलती। प्रोफेसर साहिब तो बस किताब का नाम लिखा देना जानते हैं, स्टूडेन्ट्स को किताब मिलेगी भी या नहीं इससे उन्हें कोई बहस नहीं। चार सौ पढ़ने वाले हैं और दो प्रतियाँ हैं उस किताब की, किसी को मिले भी तो कैसे।

१६ अगस्त

मैं कहती थी न कि सत्यबाबू बुरे आदमी नहीं हैं। बुरे आदमी ऐसे

नहीं हुआ करते ! अपने काम में इतना भूले हुए हैं कि महीना भर हो गया एक बार इधर आने की भी सुध उन्हें नहीं हुई। राज बहन जी के यहाँ भी नहीं आए हैं। पता नहीं युनिवर्सिटी भी जाते हैं या नहीं, कभी दिखे नहीं।

२८ अगस्त

आज लाइब्रेरी में सत्यबाबू से मुलाक़ात हो गयी अचानक। म वहीं लूकस के फेरे लगाती पहुंची थी।

बोले—क्या लेने आयी हैं ?

मैं खीझी हुई तो थी, उसी स्वर में मैंने कहा—लूँगी क्या ! कुछ मिले तब तो ! लूकस की ट्रैजेडी के लिये चार चक्कर लगा चुकी हूं।

तब उन्होंने कहा—आप परीशान न हों वह किताब तो मैं आपको दे सकता हूं। घर आकर दे जाऊंगा।

मैंने पूछा—कब ?

तो उन्होंने कहा—कल—अगर दिन साफ़ रहा।

कल आवेंगे सत्यबाबू।

२९ अगस्त

सत्यबाबू अपने वादे के पक्के हैं। आज वह दे गये किताब। काफ़ी देर बैठे, चाय-वाय पी, कुछ बातें भी हुई....उस दिन पहली बार राज बहन जी के यहाँ उन्होंने मुझे जो घूरा था, अब तो वह पुरानी बात हो गयी.....मैं तो समझती हूँ उनका उस दिन का आचरण भी उनके दिल की सफाई और सादगी का ही सबूत था। पता नहीं मैं तो यही सोचती हूं कि गन्दे दिल का आदमी कनखियों से देखना ही ज्यादा पसन्द करता है....हाँ जब तक कि वह बहुत ही बेशर्म न

हो। और आज तो मैंने गौर किया कि सत्यबाबू असल में बड़े शर-मीले हैं। मैंने पूछा उनसे—उस दिन वाले बैले में आप जो कामेंटरी कर रहे थे वह किसकी लिखी हुई थी, बड़ी अच्छी थी।

उन्होंने बहुत शरमाते हुए कहा—वह मैंने ही लिखी थी।

मगर वाह रे उनका शरमाना! मर्द होकर इतना शरमाते हैं!

३० अगस्त

आज सवेरे पिता जी ने पूछा कि उषी, वह कौन लड़का था? मैंने बतला दिया कि यूनिवर्सिटी में पढ़ते हैं। पिता जी ने समझा मेरे संग पढ़ते हैं। मैंने कहा—नहीं एम० ए० के दूसरे साल में हैं। तब पिता जी ने कहा—आदमी अच्छा मालूम होता है।

मैं कुछ नहीं बोली। तो, पिता जी को भी सत्यबाबू अच्छे लगे? अच्छा आदमी सभी को अच्छा लगता है। एक बार तो मेरे जी में आया कि पिता जी को बतला दूं सत्यबाबू कम्युनिस्ट हैं—पिता जी कम्युनिस्टों से बहुत चिढ़ते हैं न! लेकिन मैंने नहीं बतलाया।

३ सितम्बर

सत्यबाबू इतने छोटे छोटे बाल क्यों रखते हैं, बड़े बाल अच्छे मालूम होते हैं, बहुत बड़े नहीं मगर ज़रा ढंग के। खामखा संन्यासियों की हुलिया बना रखी है। देखने सुनने में बिलकुल बलियाटिक मालूम होते हैं, हाँ जब बात करते हैं तब उनकी असलियत खुलती है। बहुत पढ़े-लिखे आदमी हैं और अंग्रेज़ी तो बहुत ही अच्छी है। सच मैंने बहुत कम लोगों को ऐसी अच्छी अंग्रेज़ी बोलते सुना है।

१० सितम्बर

आज राज बहन जी के यहाँ गयी तो देखा सत्यबाबू बैठे हुए हैं।

....राज बहन जी नजर बचा बचाकर कभी मुझको और कभी उनको इस तरह क्यों देख रही थीं, कुछ समझ में नहीं आया। अच्छा भी नहीं लगा उनका ऐसा करना। इसी से मैं ज्यादा देर बैठी भी नहीं। मैं चलने को उठी तो सत्यबाबू भी उठ खड़े हुए, शायद बहुत देर से बैठे हुए थे।.....रास्ते में मैंने उन्हें पिता जो वाली बात बतलायी। बहुत हंसे, बोले, बतला क्यों नहीं दिया, मजा रहता? मेरे मुंह से निकल गया—आप तो थे ही नहीं उसका मजा कौन लेता। ऐसी बात मुझे न कहनी चाहिए थी। पता नहीं वह इसका क्या मतलब लगायें। खैर, मैंने उन्हें कल ही आने को कह दिया है। कल आवेंगे सत्यबाबू! बड़ा मजा आयेगा कल। देखना पिता जी कैसे उछलते हैं।

११ सितम्बर

हुई न वही बात। पिता जी ऐसे चौंके कि कुछ मत पूछो। कचहरी में डपटकर जैसे जिरह करते हैं न, वैसे ही जिरह करते हुए उन्होंने सत्यबाबू से पूछा—आप कम्युनिस्ट हैं?

सत्यबाबू बोले—हां। तो? आप तो ऐसे पूछ रहे हैं जैसे कम्युनिस्ट होना और खूनी होना एक बात हो!

पिता जी के लिए तो यह लड़ाई का बीड़ा थमाने जैसी बात थी। वह कब पीछे हटने वाले थे। बोले—खूनी तो फिर भी अच्छा है। सन् बयालिस में कम्युनिस्टों ने क्या नहीं किया हमारे साथ?

सत्यबाबू ने तनिक भी विचलित हुए बिना कहा—क्या क्या किया कुछ मुझे भी तो बतलाइये........

पिता जी को जवाब देने में मिनट आध मिनट की देर हुई, तभी सत्यबाबू ने फिर कहा—यह मैं इसलिए पूछ रहा हूं कि मैंने भी सन्

बयालिस के आन्दोलन में हिस्सा लिया था और जेल गया था।

सत्यबाबू के इस कहने ने उफनते दूध पर ठंडे पानी के छींटे का काम किया। पिता जी का स्वर आप से आप मुलायम हो गया, झेंप सी मिटाते हुए बोले—तब तो आपको खुद ही सब बातें मालूम होंगी।

इस पर सत्यबाबू बड़े ज़ोर से हँसे और बोले—मुझे मालूम होतीं तो मैं भला क्यों जेल से बाहर आते ही सबसे पहले कम्युनिस्ट पार्टी के अन्दर दाखिल होता?

पिता जी ने कहा—आपको यह बात नहीं मालूम कि कम्युनिस्ट लोग आन्दोलन के दुश्मन थे?

सत्यबाबू ने कहा—हाँ बिलकुल वैसे ही दुश्मन जैसे वह आदमी जो मुझे अपना गला काटते देखकर चिल्ला पड़ता है : हैं! हैं! यह क्या कर रहे हो और आगे बढ़कर मेरा हाथ पकड़ने की कोशिश करता है!

सत्यबाबू के इस जवाब से पिता जी बहुत हतप्रभ हुए। मगर वह इतनी जल्दी अपनी टेक छोड़ने वाले आदमी थोड़े ही न हैं। बोले—आप तो बड़ी जल्दी उनके रंग में रंग गये! बात क्या बस इतनी सी है? आपको यह भी तो मालूम होगा कि उन्होंने हमारे आदमियों को पुलिस के हवाले किया.....

सत्यबाबू ने बीच में ही पिताजी को टोंकते हुए कहा—हाँ वह सब मुझे खूब मालूम है, खूब, और मेरी बात मानिए वह सब झूठ है, रुपए में सवा सत्रह आने झूठ!

पिता जी बोले—यह आप कैसे कह सकते हैं?

सत्यबाबू ने कहा—तो आप ही बतलाइए न। आपको किसी कम्युनिस्ट ने पकड़वाया ?

पिता जी बोले—नहीं, मगर एक अकेले मेरी ही बात थोड़े ही न है।

सत्यबाबू ने कहा—तो फिर किसे ?

पिता जी झट कोई जवाब नहीं दे पाये। गहरे सोच में पड़ गये।

सत्यबाबू ने अपनी बात पर खूब ज़ोर देते हुए कहा—आप खामखा अपना सर खपा रहे हैं, आपको ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलेगा ......मैं भी पहले ऐसा ही समझता था, मगर जब मैंने पता लगाने की कोशिश की तो मेरा भी वही हाल हुआ जो आपका हो रहा है।

इसके बाद पिता जी ने कुछ नहीं कहा। लेकिन कुछ भी हो मज़ा बहुत आया आज इस बहस में। मैंने उनको पिता जी से मिलाते समय जब बतलाया था कि ये कम्युनिस्ट हैं तो पिता जी बहुत चौंके। उस वक्त मुझे बहुत हंसी आयी, लेकिन मैं रोक गयी। सत्यबाबू मेरी ही तरफ देख रहे थे। शायद यही देख रहे हों कि हँसती है या नहीं.....मैं तो पूरी बहस में उन्हीं को देखती रही। बड़े गहरे आत्म-विश्वास के आदमी हैं।

२७ सितम्बर

सत्यबाबू फिर डुबकी लगा गये। पता नहीं उनको ऐसा क्या काम रहता है कि घंटे आध घंटे के लिए भी किसी शाम नहीं आ पाते।

१६ अक्तूबर

इतने दिन बाद आज आये थे सत्यबाबू। जी में तो आया कि

मिलते ही पहली बात पूछूं—बहुत दिन पर दर्शन दिये। आज कैसे इधर का रास्ता भूल पड़े! लेकिन मैं वैसा कुछ नहीं बोली।

पहली तारीख से कोई सोवियत प्रदर्शिनी हो रही है, सात तारीख तक रहेगी। उसी की बाबत मुझे बतलाने आए थे। मैंने कहा—जरूर आऊंगी और पिता जी को भी संग लाऊंगी। सुनकर बड़े खुश हुए, बोले—यह एक नयी दुनिया है उषा जी—

उषा जी! यह जी की दुम सत्यबाबू सदा क्यों लगा देते हैं, अकेले उषा से उनका काम नहीं चलता?! बहुत बुरा लगता है उनके मुंह से यह 'जी' मगर मैं टोंकती नहीं और टोंकू भी कैसे, यह भी कोई टोंकने की बात है!

१७ अक्तूबर

उषा जी।

१ नवम्बर

इस प्रदर्शिनी ने तो मेरी आँखें खोल दीं। कौन थे वह, उनकी स्पीच भी बड़ी अच्छी थी—उनके मुंह से शब्द कैसे निकल रहे थे जैसे कोई उबलता हुआ झरना बहता चला जा रहा हो।..और फिर प्रदर्शिनी?! कितनी उन्नति कर ली है इस नयी दुनिया ने, इतने थोड़े से बरसों में। कोई मुल्क अगर सचमुच आज़ाद न हो तो उसमें ऐसे फूल से बच्चे हो सकते हैं, कहीं नर्सरी में कहीं मैदानों में खेल रहे हैं, कहीं बैठे पढ़ रहे हैं, आड़ी तिरछी रेखाएं खींचकर तसवीर बना रहे हैं,। नहीं तो एक हमारे यहाँ के बच्चे होते हैं दुबले-पतले मिरगुल्ले नाक बहाये घूम रहे हैं या बहुत हुआ, माता जी को बड़ा दुलार आया तो एक बड़ा सा लड्डू पकड़ा दिया! बस हो गया, इसके बाद और चाहिए भी क्या।......और उधर देखिए स्त्रियों

ने, एशियाई जनतन्त्र तक की स्त्रियों ने जो पहले परदे में बन्द रही आती थीं, कितनी तरक्की कर ली है, कारखानों में काम करती हैं, बच्चों की नर्सरी की देख भाल करती हैं, कालेजों में पढ़ाती हैं, डाक्टर बनती हैं, यहाँ तक कि सेना में भी भरती होती हैं—कहीं कोई रोक टोक नहीं है, सारे रास्ते उनके लिए खुले हुए हैं। इतनी ही नहीं शासन का काम-काज भी चलाती हैं, मैं समझती हूं, दुनिया के किसी देश में इतनी स्त्रियाँ शासन के इतने ऊँचे पदों पर न होंगी।इतनी क्या बिलकुल भी न होंगी। नहीं तो एक यह अभागा देश है, जिसमें स्त्रियों को कुछ समझा ही नहीं जाता, स्त्रियाँ भी भला कुछ कर सकती हैं, अपना चौका-चूल्हा संभाल लें अपने बाल बच्चों को देख लें यही बहुत है ! वहाँ उन्होंने साबित कर दिया है कि किसी काम में स्त्रियाँ पुरुषों से इंच भर पीछे नहीं हैं ! और ज़ोया ! कितनी बहादुर लड़की थी वह, एकदम फ़ौलाद, सारे देश में उसकी मूर्तियाँ लगायी जा रही हैं, उसकी उसी सैनिक मुद्रा में। देखने में बिलकुल लड़का लगती है, लड़कों ही की तरह बाल कटे हुए और कन्धे पर झोला डाले, ज़मीन पर पैर जमाकर खड़ी, एक पैर आगे को बढ़ा हुआ और चेहरा कितना दृढ़, कितना, और कितना गम्भीर। छापेमारों में शामिल होने के बाद उसने अपनी माँ को लिखा था I shall come back a hero or die one..सो लौट तो नहीं सकीं वह, हाँ वीरगति उसने ज़रूर पायी और मरने के बाद उसे सोवियत सरकार ने हीरो आफ़ दि सोवियत यूनियन की पदवी दी। अपना क़ौल पूरा किया ज़ोया ने। ज़ोया सचमुच दुनिया भर की स्त्री जाति का गौरव है।.....और उसका भाई अलेक्जेंडर भी क्या कुछ कम बहादुर था ? ऐसे आज़ाद देश में ही ऐसे भाई भी होते हैं। वह अपनी बहन की हत्या का बदला लेने के लिए वहीं उसी इलाक़े में गया जिसमें नाज़ी हत्यारों ने उसकी बहन को फांसी लगायी थी —और

वहीं उसे भी वीरगति मिली। और ज़ोया की माँ को कोई क्या कहे, वह तो सचमुच वीरमाता है, उससे ज्यादा भाग्यशालिनी और कौन होगी ? उसने अपनी दो हीरे जैसी सन्तानें देश को सौंप दीं...दो दो सोवियत वीर। उसने उनकी घुट्टी में ही यह चीज़ डालकर पिलायी होगी, शुरू से ही उन्हें अपने सोवियत देश के लिए मर मिटना सिखाया होगा, तब तो आगे चलकर उन्होंने यह जौहर दिखलाया ! कितने खूबसूरत शब्दों में और कैसी प्यारी प्यारी तसवीरों के साथ इस सोवियत परिवार की कहानी वहाँ पर लिखी हुई है ! मैं एक बार फिर जाऊंगी प्रदर्शिनी देखने।

७ नवम्बर

अभी एक सोवियत तसवीर देखकर आ रही हूं। राज बहन जी भी गयी थीं। पिता जी भी गये थे। सत्यबाबू ले गये थे।

कुछ मत पूछो, वह क्या चीज़ थी ? कैसी अदम्य वीरता। मेरी आँख में तो अब भी उस छापेमार लड़की का गोल गोल, भोला और मज़बूत चेहरा घूम रहा है।

राज बहन जी को मगर शायद तसवीर अच्छी नहीं लगी। कहती थीं—वॉर पिक्चर है ! जी में तो आया कि पूछूं कि क्या यह वैसी ही वॉर पिक्चर है जैसी अंग्रेज़ी तसवीरें होती हैं, मगर मैं चुप रही, कुछ जी नहीं हुआ बहस छेड़ने का। मैं तो समझती हूं कि जहाँ पर युद्ध का मतलब हो एक देश की पूरी जिन्दगी उसके सारे आदर्शों पर हमला वहाँ ऐसे समय कोई दूसरा कुछ सोच भी कैसे सकता है, युद्ध फिर साधारण युद्ध थोड़े ही न रह जाता है, वही तो जिन्दगी हो जाता है।....राज बहन जी को ऐसा नहीं कहना चाहिए था। पिता

जी को बहन जी का यह कहना बुरा लगा और फिर सत्यबाबू को तो कितना बुरा लगा होगा !

१८ नवम्बर

बहुत दिन हो गये सत्यबाबू इधर नहीं आये। लगता है फिर किसी नयी चीज़ में उलझ गये।

२० नवम्बर

....मगर कैसा भी काम हो क्या दोस्तों को इस तरह बिसरा देना चाहिए—आदमी चाहे तो वक्त निकाल ही सकता है, चाहे तो !

२५ नवम्बर

यह क्या बात है सत्यबाबू जब आते हैं तब किसी काम के ही सिलसिले में ? मुझे यह बात अच्छी नहीं लगती।

२७ नवम्बर

मैं समझ गयी सत्यबाबू के नज़दीक अपना काम ही सब कुछ है, आदमी कुछ नहीं।......

२९ नवम्बर

सत्यबाबू मुझको कुछ नहीं समझते, अब यह बात बिलकुल साफ हो गयी। सत्यबाबू मेरी उपेक्षा करते हैं, शायद दिखलाना चाहते हैं कि उनके नज़दीक मैं भी वैसी ही हूं जैसी कालेज की दूसरी कोई लड़की, राह चलते मिल गये तो मिल गये या कोई काम निकल आया तो चले आये नहीं तो किनारा किये बैठे हैं। मैं नहीं मान सकती कि वह काम में इतना व्यस्त हैं कि आँख उठाने की उन्हें फ़ुरसत नहीं मिलती। असल चीज है कि आदमी के पास वक्त भी उसी के लिए

निकलता है जिसे वह कुछ समझता है। सत्यबाबू मुझे कुछ नहीं समझते वरना हरगिज़ ऐसे गायब न हो जाते। असल चीज़ यही है, उपेक्षा।

३० नवम्बर

मगर सत्यबाबू ने मुझको समझने में ज़रा गलती की है। मैं ऐसी नहीं हूं कि कोई मेरी उपेक्षा करे फिर भी मैं उसके पीछे पीछे लगी फिरूं। मैं उपेक्षा का जवाब दुगनी उपेक्षा से दे सकती हूं!

११

सत्य ने धड़कते हुए दिल से उषा के हाथ में अपना खत पकड़ाया और तत्क्षण लौट पड़ा।

उषा इस चीज़ के लिए बिलकुल तैयार न थी। सत्य लौट पड़ा और धीरे धीरे फाटक की तरफ बढ़ने लगा। उषा सत्य का ख़त लिये खड़ी रही.... मगर यह अजीब बात क्या हुई, सत्यबाबू ऐसे चले कैसे जा रहे हैं, आज ऐसी हवाइयाँ सी इनके चेहरे पर क्यों उड़ रही हैं, ज़रा भी रुके नहीं क्यों? कई बार बात उसके दिल में आ आकर रुक गयी कि पुकारे.....सत्यबाबू....ज़रा सुनिये तो.... सत्यबाबू...रुकिये...ऐसे कहाँ भागे जा रहे हैं मैं आपको उठाकर सन्दूक में थोड़े ही बन्द कर लूंगी!....चले जाइयेगा, यह आज ऐसे कैसे आप आये और जा रहे हैं....यह तमाम जुमले उसके दिमाग़ की सतह पर नन्हीं नन्हीं सी मछलियों की तरह उछल कर आते रहे। मगर लाख चाहने पर भी एक शब्द उसके मुंह से नहीं निकला। एक दो बार यह भी ख़याल आया कि सामने जाकर खड़ी हो जाये और रास्ता रोक ले। उस एक-डेढ़ मिनट में क्या कुछ नहीं सोच डाला उसने मगर....उसके देखते देखते सत्य चला गया और वह वैसी की वैसी खड़ी रही।

तब फिर उषा ने अपने इर्द गिर्द देखा कि किसी ने उसको सत्य से ख़त लेते देख तो नहीं लिया! फिर वह तेज़ी से अपने कमरे में गयी और उसे अन्दर से बन्द करती हुई वहीं बेंत की एक कुर्सी पर बैठ कर उसने कांपते हुए हाथों से ख़त खोला।

उषा,

आज मैं तुम्हें 'उषा जी' नहीं कहूंगा। आज मैं इन सारे अवगुंठनों को, जो तुमसे लिपटे हुए हैं, अलग करके तुमसे बात करना चाहता हूं। आज मैं तुम्हारे सामने अपने दिल को नंगा करूंगा.....तुम उषा 'जी' के मखमल में लिपटी रही और मैं तुम्हारे सामने नंगा हो जाऊं......नहीं यह नहीं हो सकता।

बहुत दिन से ये बातें मेरे अन्दर उबाल खाती रही हैं लेकिन मैं कभी उनको ज़बान पर लाने की हिम्मत नहीं कर सका। परसों मैं यही करने के लिये आया था, बहुत उधेड़ बुन के बाद और अगर तुम्हारे रुख-तेवर ऐसे होते जो मुझे मदद पहुंचाते तो शायद वह बातें मेरे दिल से उभरकर मेरे लबों पर आ जातीं मगर तुम तो इतनी खुश्की से मिलीं, इतने सर्दपन से गोया और एक मन भर के पत्थर से तुमने इन बातों को दबा दिया। मैं नहीं जानता मैंने कौन सी ऐसी ग़लती की जिसके तहत तुम मुझसे इतनी खफ़ा हो गयीं। मगर आज मैं तुम्हारी बात न करूंगा, सिर्फ अपनी बात करने के लिए मैं तुम्हें लिख रहा हूं। और आज अभी मेरे पास करने को सिर्फ एक बात है। मैं तुम्हें चाहता हूं। चौंक गयीं सुनकर! नहीं, इसमें ऐसी चौंकने की तो कोई बात नहीं।......नहीं, ज़रूर है, पहली बार जब मेरे दिल ने मुझे यह बात बतलायी थी तो मैं भी ऐसे हो चौंका था। हाँ उषा, मैं तुम्हें चाहता हूं। मेरी चाहत का सिक्का कहीं खोटा तो नहीं है, इसका पता लगाने के लिए मैंने उसे काफ़ी ठोंक बजाकर देख लिया है, महीनों ठोंक बजाकर देखा है, वह एकदम खरी चाहत है, भूख भी उसे कह सकती हो प्यास भी कह सकती हो मुहब्बत भी कह सकती हो दर्द भी कह सकती हो। चाहे जो नाम दे सकती हो मगर चीज़ वो वही है जो यहाँ मेरे सीने में

ह। मैंने उससे लड़ने की बहुतेरी कोशिश की क्योंकि मुझे बिलकुल पता नहीं था और न अभी भी है कि मेरा प्यार तुम्हें बोझ तो न जान पड़ेगा। इसीलिए मैंने अपने दिल को खुली छूट नहीं दी मगर मेरा दिल भी किसी छूट का मुहताज नहीं था, उसे जो ग़ज़ब ढाना था वह ढा गया, अब मैं तो उसी का मलबा बटोर रहा हूं। मैंने इधर हफ्तों से तुम्हारे पास आना छोड़ दिया था कुछ इसी उम्मीद में कि मेरी वह चाहत मर जायेगी मगर वह मरी नहीं क्योंकि वह किसी रंगीन तितली को अपनी गिरफ्त में ले लेने की चाहत नहीं थी, वह किसी बहुत खूबसूरत से गुब्बारे के लिए किसी बच्चे के दिल का मचल जाना भी नहीं था।

मैंने जब पहली बार तुम्हें देखा था तभी जैसे कोई चुपके से मेरे कान में कह गया था कि मुझे तुम्हारी ज़रूरत है। मेरे दिल ने पहले ही रोज़ मुझसे अपनी बात कह दी थी। मेरे कान तक उस बात को पहुंचने में ज़रूर देर लगी। मैंने काफ़ी देर में वह बात सुनी लेकिन मेरी आँखों ने बारीक अक्षरों की उस खुदाई को जो मेरे हृदयपटल पर कहीं अंकित थी उसी समय पढ़ लिया था और तुम्हें याद होगा मैंने जंगली हूश की तरह तुमको एकटक देखा था। तुमको बुरा भी लगा होगा शायद मगर मुझे उसका कोई ग़म नहीं था। मैं तो अपनी निगाहों से तुम्हें तौल रहा था....

मैं कोई उपन्यासकार नहीं हूं उषा, कि तुम्हें उन शब्दों की महकती हुई माला पहना सकूं जो उपन्यासों के नायक अपनी प्रेमिकाओं को पहनाते हैं। नहीं मेरे पास वैसे शब्द नहीं हैं। मेरे पास सिर्फ यह दिल है जिसकी माला मैं बहुत पहले तुम्हें पहना चुका हूं, तुमने उसे देखा हो कि न देखा हो, उसकी खुशबू—अगर उसमें कुछ भी खुशबू हो—तुम्हें मिली हो कि न मिली हो।

उषा, मैं झूठ नहीं बोलता, इस समय तो और भी नहीं बोलूँगा क्योंकि मैं नंगा कहाँ छिपाऊंगा अपना झूठ ! मैं तुम्हारी उन सोचती हुई सी, ठहरी ठहरी, निष्पलक, हिरनौटे जैसी आँखों से प्यार करता हूं, तुम्हारे उस असाधारण भोले, भावों के रस से भरपूर मुखड़े से प्यार करता हूं, तुम्हारे पतले-पतले होठों से प्यार करता हूं, तुम्हारी खूबसूरत उंगलियों से प्यार करता हूं, तुम्हारे शरीर से निकलती हुई चन्दन जैसी सुगन्ध से प्यार करता हूं। उषा, मैं किसी उपन्यास का नायक नहीं हूं जो आकाशों की नीलिमा, पानियों की रवानी, फूलों की खुशबू, ओसों की झिलमिलाहट, इन्द्रधनुषों के रंग और तीन हजार साल पहले एक सपने में देखी हुई उर्वशी के रूप में अपनी प्रेमिका को याद करता है जहाँ कुछ भी स्थूल नहीं है जिसे शरीर से कोई सरोकार नहीं होता—कम से कम वह कहता यही है। मगर मैं यह नहीं कहता क्योंकि मैं उपन्यास का नायक नहीं हूं, सत्य हूं जिसे तुम जानती हो। मैं तुम्हारे शरीर को भी चाहता हूं, मुझे तुम्हारा शरीर भी चाहिए, मुझे वह सब कुछ चाहिए जो तुम हो। नहीं, मुझे तुम्हारे शरीर को छूते वह डर नहीं लगेगा जो हरसिंगार को छूते हुए लगता है क्योंकि मैं जानता हूं मेरे छूने से वह झर नहीं पड़ेगा, और खिल उठेगा। मगर.....मैं तुमसे तुम्हारा शरीर नहीं माँगने आया हूं प्यार मांगने आया हूं, तुम्हारा दिल, क्योंकि असल प्यार मैंने उसी से किया है, तुम्हारा दिल जो तुम्हारा दिल है, जिसपर सिर्फ तुम्हारा बस है। पर देखो उषा मैं कोई कंजूस बनिया नहीं हूं जो सिर्फ लेना जानता है देना नहीं। तुमसे तुम्हारा दिल माँगने के पहले यह देखो मैं अपना दिल काटकर लेता आया हूं। इसे लो, देखो इसमें तड़प है या नहीं; कहीं यह महज मुर्दा गोश्त का एक लोथड़ा तो नहीं। यह जान लेना जरूरी है, बहुत जरूरी है। मैं यह नहीं चाहूंगा कि कि तुम लाश को वरो।

मैंने तुम्हारी ज़िन्दगी का शायद सबसे मुश्किल सवाल उठाकर तुम्हारे सामने रख दिया है। खूब सोच समझकर तय करना, धोखा मत खाना, जल्दी मत करना, एक ग़लत क़दम से ज़िन्दगी नास हो जा सकती है। और तय करते समय मुझ पर तरस मत खाना। निर्मम, एकदम निर्मम, बेदर्द होकर निश्चय करना—मैंने तुम्हारे दिल में जो ममता जगाने या दर्द उठाने की कोशिश की है, वह मेरा छल भी हो सकता है। छलावे में मत आना। अपने दिल को अच्छी तरह कसौटी पर कसकर देखना। मैं तुम्हें चाहता हूं, अपनी जान की तरह, यह बिलकुल ठीक है मगर वह आधी बात है। तुम भी अगर सचमुच मुझे चाहती हो तभी हामी भरना, कभी कभी लोगों को धोखा हो जाता है। उससे बचना।

मुझमें कोई भी जवाब सुनने की ताकत है। मैंने क्षणिक आवेश में आकर तुम्हें नहीं लिखा है—इसलिए मेरे मन में शक्ति है।

सत्य

उषा का हृदय ही गोया सितार था और उसे बजा रहा था सत्य—एकदम पूर्ण स्वामी की तरह जो अपने सितार पर जो भी स्वर चाहे निकाल सकता है। सत्य की चिट्ठी के एक एक शब्द में उषा के दिल की गूँज थी। उसका एक एक शब्द महक रहा था। उषा समझ नहीं पा रही थी कहाँ उठाकर रख ले उन शब्दों को—दिल पर तो वह पढ़ने के साथ ही साथ नक्श होते चले जा रहे थे, मगर उतने से मन थोड़े ही न भरता था। कहाँ उठाकर रख ले वह चिट्ठी कि दुनिया की निगाह भी उस पर न पड़े (कोई देख लेगा तो क्या कहेगा! कहीं अगर पिता जी देख लें?) और वह पास भी बनी रहे। यह ख़त उसके दिल का एक टुकड़ा था और उसने उठाकर उसे वाकई अपने ब्लाउज़ के भीतर अपने दिल से लगाकर रख

लिया और अपूर्व सन्तोष और आह्लाद का अनुभव किया। वह अनुभूति उसके लिए बिलकुल नयी थी, नयी और ठिठुरती रात में अंगीठी तापने जैसी सुखद। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि अपने मन के उस आवेग को वह कहाँ उठा ले जाय, क्या करे। उसका गाने का जी हो रहा था और उसे पता नहीं था अनजान में ही वह कुछ गुनगुनाने भी लगी थी। सचमुच उसके मन पर एक नशा सा था। उसे आँख खोलकर बैठे रहने में जैसे कष्ट हो रहा था और बार बार आँखें झपी सी जा रही थीं और भीतर ही भीतर कोई जैसे उसके कान में कह रहा था—लेट जा न अपने बिस्तरे पर, और खींच ले अपनी रजाई गले तक और फिर आँख बन्द कर ले... नहीं सो मत सोने को तुझे कौन कहता है बस आँख बन्द कर ले और भीग भीग भीग यह क्षण जीवन में दूसरी बार नहीं आवेगा। उषा ने मंत्र मुग्ध आदमी की तरह अपने मन का कहना माना। बिस्तर पर लेट गयी, रजाई गले तक खींच ली और आँख मूंद कर पड़ रही और राज के यहाँ पहली मुलाक़ात से लेकर कल तक की बातें सोचने लगी। उसका चेहरा गहरे उल्लास से दीप्त था। उषा को उस अवस्था में देखकर पहले पहल शायद कोई भी व्यक्ति यही कहता कि सो रही है मगर ज़रा सा ही ग़ौर करने से उसका भेद खुल जाता। बहरहाल वह उसी तरह आँख मूंदे पड़ी थी। और सत्य का ख़त ब्लाउज़ के अन्दर उषा के जवान सीने को छूता हुआ पड़ा रहा। कितना SSS अच्छा लग रहा था। मगर फिर उससे पड़े नहीं रहा गया और वह झपाटे से उठ बैठी। उसके अन्दर एक तूफ़ान सा उठ रहा था। पेट के दर्द की तरह उसे उसने साफ उठते हुए महसूस किया और यह तूफान उससे क्या माँग रहा था यह भी उषा को मालूम था—कि वह किसी लम्बे चौड़े मदान में जाकर या किसी पहाड़ की चोटी पर से ज़ोर ज़ोर से चिल्लाये—सत्य सत्य मैं यहाँ हूं यहाँ तुम कहाँ हो कहाँ हो...

मगर न तो कहीं कोई खुला हुआ मैदान था और न कोई पहाड़ी चोटी और न हमारी इस सभ्य घुटी घुटी दुनिया में कोई ऐसा करती ही है। लिहाजा उषा न कहीं गयी न आयी, फिर लेट गयी और वह तूफ़ान वैसे ही उसके अन्दर उठता और गिरता और मचलता और बल खाता रहा।

सारी ग़लतफ़हमी अब दूर हो गयी थीं। सत्य की तरफ से अब उसका दिल बिलकुल साफ था, जैसे साफ शीशा, कहीं एक दाग या धब्बा या बाल नहीं, एकदम साफ चमकता हुआ बिल्लौर। सत्य का अक्स भी इसी से उसमें बिलकुल साफ पड़ रहा था, उसका वह हलका साँवला, ताजा चेहरा, चौड़ा माथा, छोटे बाल, छरहरा जिस्म। बड़ी देर तक वह इस अक्स को देखती पड़ी रही। कहना मुश्किल है कि अगर इस वक्त सत्य मिल जाता तो वह उसके सिर को अपनी बाँहों में भरकर दस बीस पचास बार उसके मुंह को चूम लेती या नहीं, शायद चूमती और उसकी बन्द आँखों को देखती और फिर चूमती फिर फिर चूमती यहाँ तक कि दोनों के ओंठ गुलाब की शबनमी पँखुरियों की तरह गीले हो जाते

बहरहाल वह सब उसने कुछ नहीं किया। वह उसी तरह अपने दिल के मचलते तूफ़ानों, कानों में बजती आवाज़ों को लिये, रगों में पारा भरे, अपनी अगली ज़िन्दगी के ख़ाब बनाती पड़ी रही। ख़ाबों की चादर में यही सबसे अच्छी बात है, उसमें ताते पांव पसारिए जाती लांबी सौर की कैद नहीं है, आदमी उसे मनचाही लम्बाई तक बुन सकता है!

इसके तीसरे रोज़ सत्य आया। शाम का धुंधलका था, सर्दी काफ़ी थी मगर हवा ऐसी साफ़ थी जैसे उसे खूब मलमल कर नहलाया गया हो, धूल का एक ज़र्रा नहीं था उसमें, साँस उसको खींचती थी तो

अन्दर बाहर एकदम तरोताजा हो जाता था।

सत्य मुसकराता हुआ आया। उषा बरामदे में छोटी आर्मचेयर डाले उसी पर बैठी हुई थी। एक किताब उसकी गोद में पड़ी हुई थी और उसकी नजरें दूर कहीं देख रही थीं। एकाएक मुस-कराता हुआ सत्य सामने आ खड़ा हुआ। उसने कहा—उषा, नमस्ते।

उषा ने एकदम अचकचाकर आर्मचेयर छोड़ दी। अपनी उस खलबली में उससे नमस्ते का जवाब भी नहीं देते बन पड़ा।

सत्य हँसा। बोला—तुम तो ऐसी परीशान हो गयीं जैसे तुमने भूत देख लिया हो!

उषा ने झेंप सी मिटाते हुए, उसकी ओर कुर्सी सरकाते हुए कहा—आपको इतने दबे पाँव आने के लिए किसने कहा? आप तो चोर बहुत अच्छे बन सकते हैं।

सत्य ने कहा—सच! और मुसकराया। उषा उसकी ओर नहीं देख सकी और दूसरी ओर ताकने लगी। सत्य ने उसको चिढ़ाने की ग़रज़ से कहा—अब तक तो माल कुछ हाथ लगा नहीं।

उषा ने तब भी कुछ नहीं कहा।

उषा ने अब उसको बैठने के लिए कहा तो सत्य बोला—खूसट मौसियों की तरह यहाँ पर बैठने का यह कौन वक्त है?

नहीं तो क्या यह बाहर निकलने का वक्त है, कितनी सर्दी पड़ रही है!

न हो जाओगी बर्फ, मुझे देखो, मैं अभी बाहर से ही चला आ रहा हूं। बड़ा प्यारा मौसम हो रहा है, चलो जरा घूमा जाय।

उषा ने बिलकुल अछूती शोखी के अंदाज में कहा—न बाबा, मैं नहीं कहीं आने जाने की....सर्दी लगेगी तो?

कहने को तो उषा ने कह दिया, मगर फिर खुद ही शर्म से गड़ गयी—अरे, मैं यह किससे बोल रही हूं! और यह सवाल एक बार जो आया तो फिर उषा को उससे पीछा छुड़ाना मुशकिल हो गया। सत्य पास की ही दूसरी कुर्सी पर बैठ गया और उषा और भी अपने शाल में दुबककर बैठ गयी और पैर के अंगूठे के नाखून को तोड़ने का नाटक करने लगी। सत्य अपनी खास तरह से उसे देख रहा था और उषा को लग रहा था जैसे सत्य की आँखों के लिए वह कपड़े-लत्ते पहने एकदम पारदर्शक हो गयी हो और सत्य उसे आर पार देख रहा हो या जैसे सत्य की आँखें उसे नंगा किये डाल रही हों या जैसे वे एक रूपए की गोलाई का एक अंगारा बनकर उसके चेहरे पर कहीं चिपक गयी हों जिससे उसका माथा उसकी आँखें उसका मुंह सब सुलगा जा रहा हो।

सत्य शायद उषा के मुंह खोले बगैर अपनी बात का जवाब पा लेना चाहता था।

सत्य आया था अपने आप को बहुत दम-दिलासा देते हुए—इसमें बात ही क्या है? कोई चोरी तो की नहीं मैंने? सीधी सी बात पूछी है, उसका सीधा सा ही जवाब होगा। मैं खामखा झेंपता क्यों हूं इतना!

मगर इस सारे दम-दिलासे के बावजूद फाटक में पैर रखते ही उसकी चाल धीमी पड़ गयी थी और अनायास ही वह पैर दबाकर चलने लगा था।

उसका सवाल उसके गले में पत्थर के एक डले की तरह अटका हुआ था। हँसी थी और मुसकराहट थी, दिल की धड़कन थी, और जिस्म की थरथरी थी, इधर भी और उधर भी। असल बात मुंह पर लाने के खयाल से ही उसका अजीब सा हाल हो जाता। गला

फँस जाता, ज़बान पर ताला सा जड़ जाता और वह सचमुच बेंत की लता की तरह काँपने लगता। सत्य अपनी इस स्थिति को देख रहा था लेकिन कैसे उस पर बस पाये यह नहीं समझ पा रहा था। इधर-उधर की बातें छेड़ना तो आसान था, लेकिन उससे क्या बात बनती है, असल सवाल तो फिर भी अपनी जगह पर अचल रह जाता है। सत्य ख़ामोश बस उसे देख रहा था।

सर्दी सचमुच काफ़ी थी, इसलिए या और किसी वजह से पता नहीं उषा ने सत्य से आँख मिलाये बग़ैर कहा—चलिए अन्दर बैठें वहाँ अच्छा रहेगा। बरामदे से लगा हुआ ही उषा का कमरा था। कमरा सादा और खूबसूरत और बहुत साफ था। हर चीज़ करीने से अपनी जगह पर रखी हुई थी, मेज़ पर किताब और कापियाँ समेट कर रखी हुई थीं। कमरे की खिड़कियाँ वग़ैर : इस समय बन्द थीं जिससे कमरा काफ़ी गर्म था और सत्य को वहाँ पहुँच कर बहुत अच्छा लगा। 'यहाँ शायद बात कर सकूँगा'—यह खयाल बिजली की तरह उसके दिमाग़ में कौंध गया। उषा अपने बिस्तर पर पैर लटका कर बैठ गयी और सत्य पास की एक कुर्सी सरकाकर। उषा ने अगर उसकी तरफ देखा होता तो शायद उसकी हिम्मत कुछ बढ़ती मगर वह अपने आप में सिमटी हुई ऐसा उसकी नज़रें बचा रही थी कि सत्य के लिए कुछ कहना मुश्किल हो रहा था, यहाँ तक कि अब उसे अपने ऊपर खीझ सी आने लगी थी।

आख़िरकार उसने हिम्मत करके उस पत्थर के डले को बाहर ठेल ही दिया—आपने कुछ सोचा? (सत्य को इसका पता नहीं था कि इस वक्त उसने उषा को फिर आप कहकर संबोधन किया था!)

उषा डर ही रही थी कि यह सवाल, यही सवाल, ठीक यही

सवाल अब सामने आने ही वाला है और लो अब यह आ भी गया। अब तो बचना नहीं हो सकता। फिर भी उसने कोई जवाब नहीं दिया और वैसे ही नज़र नीची किए बैठी रही। थोड़ी देर तक जवाब का इन्तजार करने के बाद सत्य ने फिर कहा—कुछ कहतीं क्यों नहीं? मैं इस चुप्पी से क्या समझूं?

चुप्पी एक बहुत ज़बरदस्त ढाल है सही। मगर अब खुद उषा को अपनी चुप्पी खलने लगी थी और उसने ढाल फेंकते हुए बहुत भोले-पन के साथ, मगर जैसे कुछ खीझ के स्वर में कहा—ओफ़ आप मुझसे नाहक़ पूछते हैं? पिता जी से बात कीजिए न!

जवाब बहुत साफ़ था। सत्य के दिल पर से एक बोझ उतर गया। चैन की साँस आयी। हिम्मत भी बढ़ी। बोला—विवाह तो तुम्हारा होगा, पिता जी का तो होगा नहीं, इसलिए पहले तुमसे पूछना ज़रूरी है। तुमने खूब समझ लिया है न, तुम्हें तो कोई इनकार नहीं है?

इसके जवाब में उषा ने आज पहली बार सत्य को रस से गीली आँखों से देखा और बोली—मैं कुछ नहीं जानती, आप पिता जी से बात कीजिए। पिता जी बड़े अच्छे आदमी हैं।

जिस जवाब के लिए सत्य आया था वह उसे मिल गया—गो उसके शब्द वे नहीं थे जो ऐसे समय उपन्यासों की नायिका के होते हैं।

सत्य मुसकराया, उषा लजाकर अन्दर चली गयी।

उषा के पिता जी से बात करने में सत्य को ज़रा भी झिझक नहीं मालूम हुई। दूसरे ही दिन की तो बात है। आकर बोला—पिता जी, मैं उषा से विवाह करना चाहता हूं।

पिता जी ज़रा सा तो चौंके, मगर सचमुच वह बड़े अच्छे आदमी हैं, मिनट भर बाद बोले—बड़ी अच्छी ख़बर सुनायी तुमने। मैं तुमसे कहता हूं उषा बहुत अच्छी लड़की है, चिराग़ लेकर ढूंढ़ आओ, ऐसी लड़की नहीं पाओगे.....उषा से तो तुमने पूछ ही लिया होगा ?

नहीं तो क्या यों ही !

मैं अपने दिल की बात कहता हूं तुमसे, मुझे तो बहुत सुख मिलेगा तुम्हारे हाथ में उषा का हाथ देकर.....मगर उसमें एक ही अड़चन है, तुम ब्राह्मण तो हो नहीं शायद ?

सत्य ने हंसकर कहा—आदमी तो हूं !

उषा के पिता जी ने कहा—मैं तो खुद उस सब ढोंग - ढकोसले को नहीं मानता, मगर उषा की माँ...

सत्य ने बीच में बात काटते हुए कहा—माँएं ज्यादातर वैसी ही होती हैं, घर की चहारदीवारी में बन्द बन्द उनका दिमाग़ भी बन्द हो जाता है और खुले तो कैसे खुले। बाहरी दुनिया की रोशनी तो उन आँखों में लग ही नहीं पाती। उन्हें क्या पता कि नयी दुनिया किस तरफ़ जा रही है....

पिता जी ने रोका न होता तो शायद सत्य तीन दिन तीन रात इसी तरह बोलता चला जाता। उषा के पिता जी ने कहा—तुम्हारी सारी बातें बिलकुल ठीक हैं सत्य—मगर उषा की माँ से पूछना तो होगा न ?

सत्य ने भी हामी भरी।

उषा की माँ ने तिनगते हुए अपने पति से कहा—आप तो जात-बिरादरी कुछ मानते ही नहीं आपकी क्या बात है—

पिता जी ने बहुत समझाते हुए कहा—उषा की माँ, लड़की की खुशी देखनी चाहिए, बाँभन-छत्री नहीं। उषा भी उस लड़के को चाहती है।

उषा की माँ ने कहा—मैं तो भीतर बैठी रहती हूं, मैं क्या जानूं बाहर क्या खिचड़ी पकती है।....पर मैं पूछती हूं ब्राह्मणों में ऐसे पढ़े लिखे खूबसूरत लड़के नहीं हैं?

पिता जी ने कहा—हैं क्यों नहीं? सैकड़ों हैं मगर उससे क्या, उषा का तो इसी लड़के से प्रेम है।

उषा की माँ ने कहा—उषा के प्रेम की तुमने भली चलायी। मेरी उषा ऐसी नहीं है, मैं जिसके संग उसके हाथ पीले कर दूंगी वह उसी से प्रेम करने लगेगी। औरतों का यही दस्तूर होता है, मैं अपनी लड़की को तुमसे ज्यादा जानती हूं।

पिता जी ने बहुत गम्भीर भारी स्वर में कहा—यही तुम्हारी भूल है उषा की माँ। तुम अपनी लड़की को बिलकुल ही नहीं जानतीं। वह बड़ी गम्भीर और पक्के निश्चय की लड़की है। ऐसी नहीं है वह कि जिस किसी के भी संग तुम उसे बाँध सको। हो सकता है, वह तुम्हारा विरोध न करे लेकिन वह सुखी न रहेगी, इतना मैं जानता हूं। उसकी जिन्दगी चौपट हो जायगी।

उषा की माँ ने हथियार डालते हुए कुछ चिड़चिड़ेपन के साथ कहा—जब आप बाप-बेटी बाहर ही बाहर सारी बातें तय कर लेते हैं तब फिर मुझ से पूछते ही क्यों हैं, खामखा दिल जलाने के लिए?

सत्य ने ठीक ही कहा था, ज्यादातर माँएं ऐसी ही होती हैं।

उषा के पिता जी का जवाब मिल जाने पर जब सत्य ने अपनी

माँ को बतलाया कि वह अमुक लड़की से शादी करने जा रहा है तो पहला सवाल जो उन्होंने पूछा वह यही था कि लड़की की जात क्या है। जब उन्हें पता चला कि लड़की ब्राह्मण है तो वह बिलकुल आसमान से गिर पड़ीं। उनकी समझ में शादी का मतलब था जात-कुल का अच्छी तरह विचार करके, लेन-देन की सारी बातें तय करके माँ-बाप का शादी तय करना। ऐसी तो शादी न कहीं देखी न सुनी। न पूछना न जाँचना, न सलाह न मशविरा, गये और अपने मन से शादी तय कर आये और घर में आकर बतला दिया कि मैं तो फलाँ लड़की से शादी कर रहा हूं! पता नहीं दुनिया किस रसातल को जा रही है। बोलीं—तुम्हें न हो जात-बिरादरी का कुछ खयाल, मुझे तो है। आदमी को सभी बातें देखनी पड़ती हैं।

सत्य ने कहा—जात-बिरादरी की बातें पुरानी पड़ गयीं अम्मा।

माँ ने कहा—लाख पुरानी पड़ जायं मगर अभी गयीं तो नहीं। जात-पाँत तोड़क मंडल वाले तक तो, लेक्चर चाहे जो दे आयें मगर जब कुछ करते हैं तो सारी बातें समझ बूझ कर—

सत्य ने कहा—वह सब ढोंगी होते हैं।

माँ ने कहा—नहीं ढोंगी हैं तो बस एक हम! सारा समाज सुधार हमारे ही घर में तो होना है! मुर्गा बाँग न दे तो सुबह थोड़े ही हो!

सत्य ने कहा—यह भी अच्छी दलील है तुम्हारी, बाकी लोग गिरहकट इसलिए हम भी गिरहकटी करें!

माँ ने कहा—ये बड़े बड़े लीडर सब गिरहकट ही तो हैं, जबान पर कुछ तो लगाम रख कर बात किया करो!

सत्य ने कहा—गिरहकट नहीं तो फिर और क्या हैं? एक नम्बर

के ढोंगी, झूठे, लबार, शोबदेबाज, डपोरशंख, कहते हैं कुछ करते हैं कुछ। भला और क्या कहोगी ऐसे आदमियों को ? नहीं है कुछ करने की हिम्मत तो फ़िजूल स्पीचें क्यों लम्बी चौड़ी झाड़ते हैं, धोखे-बाजी ही तो है यह सरासर !

माँ ने कहा—सब तुम्हारी तरह आग में कूदने को उधार खाये नहीं बैठे रहते। सारे पहलू बचाकर काम करना पड़ता है।

सत्य ने चीख कर कहा—पहलू बचाकर ! सात जनम से यही तो कर रहे हैं और अगले चौदह जनम तक अभी और यही करते चले जायेंगे ! खुदा बचाए ऐसे पहलू बचाने से ! कहाँ तो सारी धरती करवट ले रही है और कहाँ हमारे जात-पाँत तोड़क वीर लोग अपना नन्हा सा पहलू ही बचाने की फ़िक्र में मरे जा रहे हैं—

माँ ने बहस को बेसूद जान, नाराज होकर अपनी बात पर अड़े हुए बहस को खत्म करने के लिए कहा—अच्छा भैया, बहस किस बात की है, तुम जो कुछ कर रहे हो बिलकुल ठीक कर रहे हो ! अरे मेरी अब ज़िन्दगी ही कै रोज की, पका आम हूं, आज टपक पड़ूँ कि कल। मैं चाहती जरूर थी कि तुम्हारी शादी अपने मन की करूं। तुम्हें नहीं मंजूर तो न सही, जबरदस्ती तो मैं कुछ कर नहीं सकती, अब तुम बच्चे तो हो नहीं अपने हाथ पांव वाले हुए जो मन में आवे करो, बस खुश रहो—इसी में मेरी खुशी है।

कहते कहते माँ की आँखें भींग गयीं।

सत्य ने जैसे उनको दिलासा देने के लिए कहा—जात कुल की ही नजर से देखो तो भी वे लोग हमसे ऊंचे हैं......

माँ ने इशारे से बतलाया कि इस बहस से अब और कुछ हासिल नहीं, बन्द करो इसे, और धोती के आँचल का एक छोर उठाकर आँख पर लगा लिया।

माँ को रोते देखकर पहले तो सत्य का मन थोड़ा कातर हुआ मगर फिर उसने अपनी उस क्षणिक कातरता को कपड़ों पर पड़ी हुई गर्द की तरह झाड़ कर अलग कर लिया और अपने मन में कहा—ऐसे मौकों पर यह कातरता ही अच्छे अच्छे लोगों को ले डूबती है। जब मैं समझ रहा हूं कि मैं सही रास्ते पर, नये समाज के रास्ते पर हूं और अम्मा पुरानी सामंती रूढ़ियों की लाश को छाती से चिपकाये बैठी हैं, और सरीहन् ग़लत बात कह रही हैं, नहीं ऐसे समय चन्द आँसुओं के पीछे मन मैला कर लेना इन्सानियत नहीं इन्सानियत के साथ विश्वासघात होगा, नये समाज को बनाने के लिए जो संघर्ष चल रहा है उसके साथ विश्वासघात होगा। नहीं नहीं नहीं, मैं वह सब मशविरा बिलकुल नहीं सुनूंगा। समझ लो मैं बहरा हूँ.....आपरेशन में दर्द होता ही है।...बच्चा बाजार में हर दूकान पर किसी न किसी चीज़ के लिए मचलने लगे, रोने-गाने लगे तो क्या तुम उसकी हर इच्छा पूरी करते हो? नहीं, एक तो गाँठ में इतने पैसे नहीं होते और अगर हों भी तब भी बच्चों की ऐसी हर जा-बेजा इच्छा पूरी नहीं करनी चाहिए, उनकी आदत खराब हो जाती है, बच्चा बिगड़ जाता है, जिद्दी और चिड़चिड़ा हो जाता है—देखते नहीं मारवाड़ियों के लड़कों को..हाँ ज़िद्दी बिगड़ैल बच्चों और रूढ़ियों में जकड़े हुए बुड्ढों को एक सा ही शुमार करना चाहिए।

इस तरह बात को अच्छी तरह समझा कर और उसके नीचे रेखा-गणित की थ्योरम की तरह Q. E. D. लिखकर सत्य ऊपर अपने कमरे में चला गया।

१२

अब तो यह दिसम्बर चल रहा था—आधा बीत भी चुका था। सत्य और उषा दोनों के इम्तहान करीब थे। दोनों पढ़ाई में लगे हुए थे। सत्य ने भी इधर कुछ दिनों से पार्टी के दूसरे कामों से हाथ खींच लिया था और परीक्षा की तैयारी में लगा हुआ था।

मार्च के तीसरे हफ्ते में दोनों के इम्तहान हुए और अगस्त के महीने में एक रोज़ सत्य और उषा का विवाह बहुत ही सादे ढंग से, बगैर बहुत बाजे गाजे या धूम धड़ाके के हो गया। घर पर ही रजिस्ट्रार को बुला लिया गया था और शादी की रजिस्ट्री हो गयी—वहीं उषा के घर क्योंकि सत्य के यहाँ इसकी गुंजाइश न थी—और दोस्तों ने मिठाइयों और आइसक्रीम से मीठे मुंह से वर-वधू को चिर जीवन और चिर प्रेम की शुभकामनाएं भेंट की।

सत्य की माँ ने अपनी नयी बहू को देखा तो ज़ाहिरा तो उन्हें उसमें ऐसी कोई खास बुराई नहीं दिखाई दी, उसने आकर माँ की चरणरज माथे पर लगायी और माँ ने भी आशीर्वचनों के साथ उसे उठाकर गले से लगाया मगर (इस मगर से भयानक और कोई मगर नहीं!) उनके दिल का आइना जो पहले से चिटखा हुआ था, उसमें अक्स भी जो पड़ रहा था उसमें भी खराबी आ गयी थी। उषा शक्ल-सूरत की बुरी नहीं थी, अदब-क़ायदे में भी वह हेठी नहीं थी, न ही वह

ऐसी थी कि सत्य की माँ उसे देखते ही यही कह सकतीं कि तितली है, आजकल की पढ़ी-लिखी लड़कियाँ और होती ही क्या हैं कोई बस देखा करे उनको, यही चाहती हैं वे ! ऐसी भी कोई बात यहाँ न थी । उषा के साज-सिंगार में तड़क-भड़क को कोई दखल ही न था। सिवाय हाथ की एक अंगूठी (जो सत्य ने उसे दी थी) और दोनों हाथों में काँच की दो दो चूड़ियों के उसके शरीर पर और कोई गहना नहीं था। कपड़े भी एक दम सादे, बारीक खद्दर की, कुपनम की एक साड़ी और नीली छींट का ब्लाउज यही उसका सारा सिंगार था।

सत्य की माँ को नाराजगी के लिए कोई ज़मीन नहीं मिल रही थी मगर नाराज मन ज़मीन पैदा कर लेता है। सबसे पहले तो उन्हें यही बात अखर गयी कि उषा के मुंह पर घूँघट नहीं था....ऐसी भी कहीं किसी ने दुलहिन देखी है ? पहली बार मेमसाहब ससुराल आ रही हैं और चेहरा एकदम चौदहों पट खुला हुआ! मेम बने बग़ैर तो जैसे इनका काम ही नहीं चलता, अपने हिन्दुस्तान की तो हर चीज़ बुरी है, हर चीज़, उसके तो नाम से इनको बुखार चढ़ आता है, छिछोरी कहीं की। और यह गहने-वहने न पहनना यह भी वही चीज़ है। बस खद्दर की एक धोती और ब्लाउज हिलगा लिया और निकल पड़ीं ! इसका मतलब सादगी नहीं है। यह भी आजकल का एक फ़ैशन है। इन लड़कियों की माया अपरम्पार है। मैं खूब समझती हूं, सत्यबाबू इसी चीज़ पर लट्टू हो गये होंगे।

जिस दिल में ये सब खयाल हों वह तो यों ही छलनी समझो, उसमें भला पानी कहाँ ठहर सकता है, उसमें कहाँ इतना दम कि हिम्मत के साथ अपनी इस नयी लड़की को अपना सके। लिहाजा न चाहते हुए भी वे आशीर्वचन खोखले हो गये और वह गले का लगाना गले के एक फंदे जैसा हो गया, उसे ठीक से अपने से चिपका तो लें

इतना भी सत्य की माँ से नहीं हुआ—इसीलिए कि छलनी के बहुतर छेदों से सारा पानी बह गया था !

नाते रिश्ते की जो खूसट खबीस औरतें उस समय घर में थीं उनके सामने अपनी बहू को ले जाने में उन्हें शर्म मालूम हो रही थी—क्या कहेंगी सब, ऐसी बेपर्दा है तुम्हारी बहू ! और कहाँ है उसके हाथ का ब्रेसलेट ! कहाँ है उसके माथे का टायरा ? और गले का हार ? हार तो बड़ी दूर की बात है, सोने की एक मामली दो तोले की चेन भी नहीं है ! पता नहीं किस घसियारे के यहाँ शादी की है जो दस तोला सोना भी अपनी लड़की को नहीं दे सका ! लड़की की ससुराल से भी तो कुछ गया हो, ऐसी नहीं जान पड़ता । वाह रे शादी ! यह भी कोई शादी है ! कैसी बेढंगी शादी है ! लड़की को देखकर तो यही लगता है कि जैसे भगाकर लायी गयी हो ! तुम्हीं बताओ ऐसी शादी और बिना शादी किसी लड़की को घर में डाल लेने में कोई फ़र्क है ? ......अच्छा भाई ज़रा वह सब बर्तन भांड़े भी तो दिखलाओ जो लड़की के घर से आए हैं वह सब हंडे, वह सब जोड़े—या सब चुपके से ही पेट में रख लेना चाहती हो ? हाँ आये हैं बहुत आये हैं, देखती नहीं गाड़ियों पर लदलद कर आ रहे हैं, एक गाड़ी खाली नहीं होने पाती कि दूसरी गाड़ी आकर लग जाती है ! एक गाड़ी तुम भी न लिवा जाओ अपने घर !...ये लड़के ? इनके मारे मेरी मिट्टी पलीद है, जगहंसाई करवाते हैं ! यह भी नहीं कि मेरा पिंड ही छोड़ दें फिर जो जी में आवे करें । नहीं वह भी नहीं, मेरी ही छाती पर मूंग दलेंगे ! खुद तो लाज शरम घोकर पी गये हैं, मेरे मुंह में भी कालिख लगवाते हैं ।

ये सारे शब्द चेहरे की एक एक रेखा और बर्ताव की एक अलंघ्य अमाप अदृश्य दूरी बनकर उषा की छाती पर मुक्के की तरह लगे ।

वह जान नहीं सकी कि उसका अपराध क्या है जिसका उसे दंड मिल रहा है। अपनी समझ में तो उसने एक भी ऐसी बात नहीं की थी जो किसी को नागवार गुज़रती। कुछ इसी खयाल से कि कोई यह न कहे कि पढ़ी-लिखी लड़कियाँ बेअदब होती हैं, बड़ों का खयाल नहीं करतीं, इतराकर चलती हैं। उषा से सत्य की माँ ने उसे जो जो करने को कहा सब उसने किया यहाँ तक कि एक से एक खूसट, चीकट, मनहूस औरत के उसने पैर भी छुए, क्योंकि सत्य की माँ ने उसे यही करने को कहा। इतने पर भी जब उसने अपनी तरफ माँ के बर्ताव में एक तरह का बेगानापन, अविश्वास, दूरी देखी तो उसे मन ही मन बड़ी पीड़ा हुई और इतनी हुई कि विवाह का प्रथम उल्लास भी उसके नीचे दब गया। अपनी स्थिति उसे बिच्छू के काटने की तरह सालती रही।

रात को जब सत्य उसके कमरे में आया वह उदास, मन मारे बैठी थी। उसके एक बार जी में आया कि अपने दिल का बोझ अपने सत्य के संग बाँट कर उसे कुछ हलका कर ले पर पता नहीं क्यों रुक गयी, शायद यह सोचकर कि बहुत बार, दिल का बोझ बाँटने से हलका नहीं और दुगना भारी हो जाता है। और यह भी कि सत्य को अपने पास पाकर उसके दिल में अपनी कुंवारी मुहब्बत की जो लहर आयी थी वह कम से कम उस समय ग़लाज़त के बोझ को अपने संग बहा ले गयी। सत्य को इस वक्त उन लहरों पर बस अपनी मुहब्बत का अछूता गुलाब तैरता दिखायी दिया। सत्य ने उस गुलाब को उठाकर अपने गरम होठों से लगा लिया। और दो लाज भरी मुस्कराहटें एक हो गयीं।

१३

अब सत्य के सामने सबसे बड़ा सवाल नौकरी का था। सत्य के भाई की आमदनी अपने बिसातखाने से यों भी घर का खर्चा चलाने के लिए मुशकिल ही से पूरी पड़ती थी। अब तो घर का खर्चा और भी बढ़ गया था।

पहले तो सत्य ने इस बात की बड़ी कोशिश की कि उसे किसी कालेज में जगह मिल जाय। पिछले महीने से ही वह इसकी दौड़-धूप में था। लेकिन कोई जगह नहीं मिली और मिलती भी कैसे। शिक्षा का प्रसार होता नहीं, नये कालेज कहीं खुलते नहीं और पुराने कालेजों में पहले से ही लोग भरे हुए हैं। बड़ी मुशकिल से कोई जगह खाली होती है और फिर क्या मार-काट मचती है उस एक जगह के लिए, क्या क्या खुशामदें नहीं की जातीं, क्या क्या तिकड़में नहीं भिड़ायी जातीं, क्या क्या सिफ़ारिशें नहीं पहुंचायी जातीं। कोई किसी जज की सिफारिश लिये पहुंचा हुआ है तो कोई किसी बड़े काँग्रेसी लीडर की, कोई गवर्नर साहब की तो कोई गवर्नर साहब के प्राइवेट सेक्रेटरी की—ग़रज़ सौ-डेढ़ सौ रुपिल्ली की उस नौकरी के लिए वह ज़मीन आसमान के कुलाबे मिलाये जाते हैं कि देखते ही बनता है।

सत्य के संग करेला और नीम चढ़ा वाली एक और बात यह हो गयी कि वह कम्युनिस्ट था और कम्युनिस्टों पर सभी की निगाहें तिरछी थीं।

ग़रज़ सत्य ने छान मारा और कहीं कोई जगह नहीं मिली। तब फिर उसे ख़याल आया कि किसी अख़बार में ही काम किया जाय। उसके लिए भी कुछ कम परीशानी नहीं उठानी पड़ी सत्य को, मगर ख़ैर इतना हुआ कि उसकी कोशिशें बेकार नहीं गयीं और अपने एक दोस्त की मदद से कहीं नवम्बर के महीने में जाकर उसे 'लीडर' में एक सब-एडीटर यानी अख़बारी दुनिया के क़लमघिस्सू पीर बावर्ची भिश्ती ख़र की जगह मिल गयी।

सत्य को अपनी सबएडीटरी की और सब बातें तो भाती थीं, बस एक बात जो बिलकुल ज़हर मालूम होती थी, वह थी रात की ड्यूटी जो अंधेरे पाख की तरह हर महीने ही घूम फिर कर कुछ दिन के लिए आ जाती थी। वह चीज़ उसे सज़ा जैसी महसूस होती। नींद की तो उसे बीमारी ही थी, शुरू शुरू में तो वह अक्सर मेज़ पर सिर रखकर बैठे बैठे ही ख़र्राटे भरने लगता। जब फोरमैन आकर उसे जगाता और प्रूफ़ की गैली उसे पकड़ा देता। और वह आँख फाड़ फाड़ कर नींद के झोंकों का मुक़ाबला करता हुआ प्रूफ की ग़लतियों को समझने की कोशिश करता। जो कुछ तो उसकी समझ में आतीं और कुछ निंदासे अक्षरों की लम्बी लम्बी टाँगों के झुरमुट में खो जातीं।

और टेलिप्रिंटर था कि खटर खटर करता हुआ स्लिपें उगलता चला जाता था, न उसे नींद से बहस थी न थकने से ग़रज़। सत्य को लगता कि मेरा असल दुश्मन यही है, यह न हो तो मुझे क्यों इन मनहूस स्लिपों का अंबार सहेजना पड़े। उस तमाम कूड़े-कर्कट को पढ़िए, उसमें निशान लगाइये क्या अख़बार में जाने क़ाबिल है क्या नहीं है? फिर उसका तर्जुमा कीजिए, फिर बतलाइये कि वह किस पेज पर जायगा, ऊपर जायगा कि नीचे जायगा, सोलह प्वाइंट

का हेडिंग लगेगा कि अड़तालिस प्वाइंट का हेडिंग लगेगा। और यह सब कीजिए रात को, जो कि खुदा ने सोने के लिए बनायी है मगर वह सोना भी तो सब को नसीब नहीं उसके लिए भी शायद पिछले जन्मों में बड़े पुण्य करने पड़ते हैं !

वर्ना भला सत्य की यह गति क्यों होती कि उसकी मधुयामिनियाँ भी टेलिप्रिन्टर की खटर खटर में खो जातीं।

मगर यह नंगी हक़ीक़त थी कि उसकी मधुयामिनियों का मधु सूखकर उसकी जगह सिर्फ वह सूखकर ऐंठा हुआ शहद का छत्ता रह गया था, जिसका नाम टेलिप्रिन्टर था—

उषा को भी इस बात पर बड़ी खीझ आती थी, विवाहित जीवन की यह तसवीर हरगिज़ वह नहीं थी जिसे वह बरसों से दिल में संजोए हुए थी। यह तो कुछ बात ही न बनी ! क्या इसी को शादी कहते हैं ? यही क्या विवाह का सुख है ? कि रात को नींद आँखों से उड़ जाये, मियाँ टेलिप्रिन्टर से अपना दिमाग़ चटवाता रहे और बीबी अपने सर्द बिस्तर में गुड़ी-मुड़ी होकर पड़ी रहे और कोई दो बोल मीठे बोलने वाला भी न रहे और सास जी खामखा मुंह फुलाये रहें और बहूरानी बस चूल्हा धौंकती बैठी रहें !

उषा इस बात के लिए तरस जाती कि घंटा आध घंटा अपने सत्य के संग बैठकर यों ही गपशप करे, चाहे तो कुछ साहित्य की बात करे चाहे यों ही टोले-पड़ोस की बात करे या अगर वह सब कुछ भी नहीं तो कम से कम संग बैठ तो सके, संग बैठने में भी तो सुख मिलता है, सदा कुछ न कुछ बोला ही जाय यह तो कोई बात नहीं है। सत्य के संग बैठकर खाना खाने की तो उसकी बड़ी ज़बरदस्त ख्वाहिश थी मगर वह सपना बनकर रह गयी थी। घर में इतना पैसा था नहीं कि खाना बनाने के लिए रसोइया रखा जा सकता

और यह हद दर्जे बेअदबी होती कि बूढ़ी सास चूल्हा फूँके और जवान बहू मौज करे। (सत्य के बड़े भाई की स्त्री चार साल हुए मर चुकी थी और उन्होंने लोगों के बहुत कहने पर भी दुबारा विवाह नहीं किया था।) लिहाज़ा रसोई का काम तो अपने नये घर में आने के चौथे ही पाँचवें रोज़ से उषा के सिर आ पड़ा। फिर भला सत्य के संग बैठकर खाना खाने का या उसके संग पार्क या यों ही किसी सूनी सड़क पर घूमने जाने का मौक़ा कहां था। उषा सोचती, यह भी कैसी अजीब नौकरी मिली। यही चीज़ सत्य अपनी मनहूस नौकरी के बारे में कहता। ग़रज़ दोनों ज़िन्दगी से काफी ऊबे और खिझे हुए थे। उनकी यह ऊब और खीझ ही कभी कभी मियाँ बीबी के बीच एक बहुत बेसिरपैर के मनमुटाव का कारण बनती। कभी उषा खीझ जाती कि इन्हें मेरा कुछ ख़याल ही नहीं और कभी सत्य खीझ जाता कि बड़ी तुनुकमिज़ाज लड़की है, ज़रा-सी बात मर्ज़ी के ख़िलाफ़ हुई नहीं कि मुंह फूल गया! बात बात पर मुंह फुलाने लगे तब तो हो गया। मा-बाप को इतना लाड़ भी नहीं करना चाहिए—

मनमुटाव के ये बादल जल्दी ही छंट जाते मगर फिर भी जाते जाते भी अपनी कुछ छाया तो छोड़ ही जाते।

उषा को रसोई पकाना नहीं खलता था, खलता था अपनी ज़िन्दगी का यह नक्शा जिसमें उसकी बेहतर शख़्सियत के विकास के लिए कोई रास्ता ही न था, गोया उसकी सारी पढ़ाई-लिखाई का मक़सद यही हो कि वह चौबीस घंटे बस अपना चौका-चूल्हा पकड़े बैठी रहे। और फिर चौका-चूल्हा भी तो वह अपने मन माफिक नहीं कर पाती थी। करना तो सब कुछ उसी को पड़ता था मगर सास जी के कहे अनुसार। नतीजा यह होता था कि छोटी छोटी

निहायत छोटी छोटी, बहुत ही अदनी सी बातों के पीछे उसका दिल दुख जाया करता। मसलन् उषा चाहती कि उसके भंडारे में कभी रोज़मर्रा की ज़रूरत की चीज़ों की कमी न पड़, यह नहीं कि अभी लहसुन की ज़रूरत पड़ी तो देखा गया कि लहसुन की सिर्फ तीन कलियाँ हैं जिनमें से दो इतनी सूखी हुई और बेजान हैं कि बिलकुल बेमसरफ़ हो गयी हैं और ऐन वक्त पर नौकर बाजार भागा जा रहा है चार पैसे के लहसुन लाने, या खीर के लिए किशमिश और पिश्ते की ज़रूरत पड़ी तो मालूम हुआ कि पिश्ता तो घर में है ही नहीं और किशमिश के जो दस बीस दाने हैं भी वह इतने गन्दे कि उन्हें देखकर घिन आये या तरकारी का काम पड़ा तो मालूम हुआ कि तरकारी के नाम पर तो सिर्फ आधी लौकी और पाँच सात आलू पड़े हुए हैं, न दूसरी कोई तरकारी है न प्याज न टमाटर न हरी मिर्च न नीबू। उषा को इन्हीं बातों पर सख्त चिढ़ आती। वह अच्छे खाते पीते घर से आयी थी, इसलिए घर का इन्तज़ाम भी उसने दूसरे ही ढंग का देखा था। यह नहीं कि उषा फ़िजूलखर्ची करना चाहती थी। नहीं, वह काफ़ी वयस्क थी और और तातो पाँव पसारिये जाती लाँबी सौर की सच्चाई को समझती थी मगर यह चीज़ उसकी समझ के बाहर थी कि महीने भर के लिए इकट्ठा मसाला न मंगाकर रोज़ रोज़ या हर दूसरे रोज़ दो दो पैसे की हल्दी या धनिया-जीरा मंगाने से किफ़ायत होती है या नौकर से यह कह देने से कि वह अपने मन से सदा पैसे दो पैसे की हरी मिर्च या हरी धनिया या नीबू ले आया करे घर लुट जायगा। फिर, उसे इस बात से भी सख्त अदावत थी कि उसके भंडारे में बीसियों, अलग अलग साइज़ों के, हँड़िया-पुरवे भरे रहें जिनमें कहाँ क्या है किसी को कुछ पता नहीं, और कहीं एक ताक पर फटी-चिथी पुड़िया में चार दाने गोलमिर्च के रखे हुए हैं कहीं वैसी ही दूसरी पुड़िया में आध छटाँक मेथी रखी

हुई है। उषा को समझ ही में न आता कि क्यों न घर की ज़रूरत और बिसात के मुताबिक महीने भर का रसद मंगाकर क़रीने से, सफाई से, डिब्बों और बोतलों में और कनस्तरों में रखा जाय। इस बेतरतीबी और बेसरोसामानी से कौन बड़ी किफायत हो जाती है। फिर, इन्सान जो कुछ करता है इसी पेट के लिए तो करता है, तो क्यों न इस चीज़ के लिए दो पैसे ज्यादा ही खर्च कर दिए जायं, क्यों न पाँच दस रुपए के महीन चावल कहीं से मंगाकर रख लिए जायं जिनको खाने में भी सुख मिले और खिलाने में भी, अरहर की ज्यादा अच्छी, ज्यादा स्वादिष्ट और जल्दी पकने वाली दाल अगर अरहर की ही दूसरी दाल से छटाँक भर कम मिलती है तो क्यों अच्छी वाली दाल ही न ली जाय—

गरज़ ऐसी ही छोटी छोटी हज़ार बातें थीं जो सास जी की तरफ़ से उसका और उसकी तरफ़ से सास जी का दिल मैला किया करतीं। सास जी, सत्य की माँ, का अपना रहन सहन का तरीक़ा था जिसे वह पचास साल से बरतती आई थीं और जिसे वह किसी कीमत पर छोड़ने के लिए तैयार न थीं। उनको इसी में बड़ी किफ़ायत-शारी नज़र आती थी कि हर दूसरे रोज़ दो पैसे का ज़ीरा मंगाया जाय और उसे उसी तरह पुड़िया में करके रक्खा जाय। उनको न तो इसमें कोई गलत बात दिखाई देती थी और न वह इन घरफूंक नई छोकरियों के पीछे अपना पचास साल का आज़मूदा तौर तरीका छोड़ने के लिए तैयार ही थीं। और अगर उनकी इस चीज़ की कोई ज़रा सी आलोचना कर दे तो वह आगबबूला हो जातीं। फिर भला बताइये, एक अच्छे खासे गृहयुद्ध के लिए ज़मीन थी कि नहीं तैयार ?!

तो खैर गृहयुद्ध की नौबत तो अभी नहीं आयी थी मगर दिल

पक रहे थे। और सत्य की माँ का दिल तो खैर शादी के दिन से ही पक रहा था क्योंकि अपने घर की यही शादी उनके मन की नहीं हुई। ऐसी भी भला कोई शादी होती है जिसमें माँ-बाप को कोई दखल ही न हो, जिसमें बाप दादों के वक्त से चले आते हुए एक एक रीति-रिवाज को चुन चुनकर तोड़ा गया हो! ऐसी शादी कभी सुखी नहीं हो सकती। मगर खैर भाई, हमको क्या लेना देना है, नये जमाने की नयी रोशनी और नयी रोशनी के नये कायदे, यही कलयुग है, कलयुग और कुछ थोड़े ही न है!

इसी तरह घर पर उषा और सत्य के घुटे घुटे से दिन कट रहे थे, जिनमें कोई उल्लास न था, न कोई उमंग न कोई ताजगी और न कोई खुलापन, जो ज़िन्दगी नहीं बस दिनचर्या थी।

१४

राज को अपना यह नया काम बहुत भाया तो नहीं, मगर फिर भी थोड़ी शान्ति ज़रूर मिली। इलाहाबाद में स्नायुओं के जिस तनाव के बीच से वह गुज़र रही थी, वह लखनऊ आकर अगर खत्म नहीं तो कम ज़रूर हो गया। इत्मीनान के साथ क्लास लेती थी और खाली समय पलंग पर पड़ी रहती थी। वहीं कालेज कम्पाउन्ड से लगी हुई एक बंगलिया उसे रहने को मिल गयी थी। अभी इतनी जल्दी उसके नये तअल्लुक़ात बन भी नहीं पाये थे और न राज को इसकी कुछ खास इच्छा ही थी। गोमती का किनारा पास था, जब बहुत तबीयत उकताती तो उठकर उसी ओर घूमने चल देती और घंटा घंटा डेढ़ डेढ़ घंटा वहीं गोमती किनारे बैठी बैठी पता नहीं अपने किन खयालों में डूबी रहती, लहरों को गिनती बैठी रहती या लहरों में ही अपनी अधेड़ उमंगों का उभरना और मिटना देखती रहती। कुछ भी हो, इधर वह असाधारण गम्भीर हो गई थी, किसी से ज्यादा बोलना-चालना भी उसे अच्छा न लगता। सदा ऊपर से नीचे तक एकदम सफ़ेद परिधान में रहती। होते होते साथ की चुलबुली लड़कियों ने उसके तीन नाम धर दिए—शुभ्रवसना, द लेडी इन ह्वाइट और द ह्वाइट मैडोना। मगर इस सब का भी कोई खास असर उसके मौन पर नहीं पड़ा। उसके साथ की सभी उस्तानियों को बड़ी जिज्ञासा थी कि जब ये मिसेज़ राज निगम हैं तो फिर अपने पति के संग क्यों नहीं रहतीं, कैसा निखट्टू पति है। धीरे धीरे अब यह बात भी कुछ

कुछ फैलने लगी ही थी कि मिसेज़ निगम का अपने पति से बिगाड़ हो गया है। कोई कहता पति ने छोड़ दिया है, घर से निकाल दिया है। कोई कहती, बहुत दबी ज़बान से, चुपके चुपके, कि मिसेज़ निगम की एक आदमी से आशनाई हो गई थी और जब इनके पति को पता चला तो उसने दस जूते उस आदमी के रसीद किए और इन्हें घर से बाहर कर दिया—ग़रज बहुत सी झूठी सच्ची कहानियाँ थीं जो हवा में उड़ रही थीं। हमारे इस मौजूदा समाज में जिसमें स्त्री का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व माना ही नहीं जाता, जिसमें उसका अपने जीविकोपार्जन के लिए कुछ करना भी सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है, दूसरा कुछ मुमकिन भी तो नहीं था। मगर राज तो अब उस कैफ़ियत को पहुंच गई थी जहाँ उसको अब इन मनगढ़न्त कहानियों का भी कुछ ग़म नहीं था। जो जिसके मन में आये कहे मुझको क्या।

शाम का वक्त था, झुटपुटे का। अभी अंधेरा नहीं हुआ था। राज अपने यहाँ चुपचाप पड़ी थी जब तीन चार लड़कियों का एक झुण्ड, इत्र में बसा हुआ और चुहलें करता हुआ उसके कमरे में दाखिल हुआ। उनमें से सबसे शोख़ लड़की ने परदा हटाकर अन्दर पैर रखते हुए कहा—अरे, इस वक्त आप कैसे लेटी हैं मिसेज़ निगम ? सर में दर्द हो रहा है क्या ?

राज ने उठकर बिस्तर पर बैठते हुए कहा—नहीं तो ....यों ही लेटी हुई थी....कालिज से आई तो ....

उस लड़की ने बात काटते हुए कहा—नहीं नहीं यह तो बहुत बुरी बात है, यह तो ऐसा वक्त है जब मरीज़ों को भी बिस्तर में उठाकर बिठाल दिया जाता है और आप हैं कि भली चंगी होकर....नहीं नहीं यह नहीं चलेगा, बाहर देखिए कैसा सुन्दर मौसम हो रहा है। हवा में देखिए कैसी प्यारी सी खुनकी है।...यह बात उसने कुछ ऐसे

अन्दाज़ से कही जैसे गुलाब की पंखड़ियों की तरह वह सर्दी उसी वक्त उसके गालों को चूम रही हो।

राज ने बहुत इनकार किया। मगर वह लड़कियाँ मानने वाली कब थीं। आख़िरकार राज को भी जाना पड़ा, मगर उसका मूड कुछ खास सुधरा नहीं, पूरे रास्ते चुप चुप सी रही। दूसरी सब एक दूसरे को छेड़ रही थीं, कोई किसी की कोई बात लिये बैठा था कोई कोई बात, मगर राज बीच बीच में सिवाय अपनी मुर्दा मुसकराहट के दूसरा कोई सहयोग नहीं कर रही थी। आख़िरकार बेचारी लड़कियों ने उसको खुश करने की कोशिश छोड़ दी और अपने ही में मगन हो गईं।

घर आकर तो उनमें से एक लड़की ने दूसरी से यह भी कहा कि कैसी बुरी औरत है, हम लोगों की ईवनिंग खराब कर दी, एक लफ़्ज़ नहीं बोली जैसे तालू में ज़बान ही न हो!

१५

विपिन बाबू कवि हैं। अभी छायावाद से उनका मोहभंग नहीं हुआ है। यही वजह है कि छायावादी तौर-तरीके से भी उनका नाता नहीं टूटा है। मगर कहीं आप मेरी बात ग़लत न समझ जायं। विपिन को देखने से किसी छायावादी कवि का गुमान नहीं होता, गुमान होता है किसी दफ्तर के एक किरानी का जो मिज़ाज से लापरवाह है। छायावादी कवि जी का तो हुलिया ही कुछ और होता है...लम्बे लम्बे बाल कंधों पर फैले हुए, बहुत मौलिक ढंग के कपड़े जो सारे ज़माने से अलग दीख पड़ें, कोमल कोमल गात, चेहरे पर पाउडर और स्नो यानी पूरा स्त्रैण शृंगार, मुंह में सिगरेट।

विपिन के हुलिये में ऐसी कोई बात नहीं है। दुबला-पतला सांवला नाटा सा आदमी है जो अकसर चिंगुड़ी-मिंगुड़ी कमीज़ और खाकी पतलून पहनता है जैसे कि आम तौर पर दफ्तरों के बाबू पहनते हैं। उसकी हुलिया में छायावादी बस उसके रूखे और कानों पर छाए हुए बाल हैं, छः छः महीने जिनके कटने की नौबत नहीं आती। इन्हीं बालों से और बेहद कमज़ोर आँखों पर बेहद मज़बूत और मोटे चश्मे से कवि विपिन का अता-पता चल जाता है।

विपिन के घर में उसकी माँ है और छोटी बहन है जो उससे तो छोटी है मगर अब यों छोटी नहीं है, बीस की है पर अभी उसकी शादी नहीं हुई, हो नहीं सकी, रुपए ही नहीं जुट सके। विपिन के पिता जी एक फूटी कौड़ी भी छोड़कर नहीं मरे थे, छोड़ भी कहाँ

से जाते बेचारे, डाकखाने के मुंशी ही तो थे आखिर। ऐसी खबीस नौकरी थी, उसमें भला कहाँ बरक्कत होती। अरे, विपिन को उसकी पढ़ाई के लिए चार पैसे की मदद कर देते थे, यही क्या कम था, वर्ना उनकी हैसियत तो इसके भी काबिल न थी। विपिन कुछ घर की मदद से और बेशतर अपनी मेहनत से, खुद ही ट्यूशन और नौकरी करके बी० ए० तक पढ़ा था।

पिता के देहान्त को दस साल हुए। अपने पिता के सामने ही वह पूरा आदमी बन चुका था, छब्बीस साल का उसका सिन था, शादी भी हो चुकी थी। नौकरी से लगा हुआ था।

अब इन दस सालों में वह खासा अधेड़ हो गया है, कनपटी पर के बाल पकने लगे हैं, चेहरे पर रूखापन सा आ गया है, हँसी मर गयी है, मुसकराहट कुम्हला गयी है। यों विपिन स्वभाव से लापरवाही की हद तक बेफ़िक्र, खुशदिल और हँसोड़ आदमी है, हँसने-हँसाने में ही उसके प्राण बसते हैं। मगर वक्त के दाँतों ने जो चबाया है तो अपने गहरे दाग उसके चेहरे पर छोड़ गया है। फिक्रों के बोझ तले अच्छे अच्छों की कमर टूट जाती है। क्या ताज्जुब कि यही चीज़ विपिन के संग भी हुई।

हाँ, एक बात तो बताना भूल ही गया था कि पिता की मृत्यु के दूसरे ही वर्ष विपिन की पत्नी का भी देहान्त हो गया, बच्चा होने में ही। पता नहीं मरा बच्चा हुआ या क्या हुआ, उसी वक्त शरीर में सब ज़हर-वहर फैल गया, विपिन ने काफ़ी उखाड़-पछाड़ की मगर बिगड़ी बात न बनी।

आज नौ साल से विपिन विधुर है। स्त्री की याद में उसने फिर दूसरी शादी नहीं की, चाहता तो आसानी से हो जाती क्योंकि उसकी शादी कोई जमुना की शादी (हां उसकी बहन का नाम जमुना है)

तो थी नहीं कि बड़ी थैली लगती। मगर शादी उसने नहीं की—बीबी की याद का ही सहारा जिन्दगी भर के लिए काफ़ी था।

इधर दो वर्षों से वह एक हिन्दी साप्ताहिक में कहने को सम्पादकीय विभाग में लेकिन असल में प्रूफरीडरी पर नौकर है। कविता से इस देश में पेट नहीं भरता इसलिए पेट भरने के लिए कवियों तक को कुम्हड़े और पीने की तम्बाकू से लेकर टोपी और लंगोट तक बेचना पड़ता है, बीमा कम्पनी की एजेन्टी करनी पड़ती है, पुलिस की कानिस्टिबली और खुफिया की दारोगागीरी, ग़रज़ सभी कुछ करना पड़ता है। पहले कुछ दिन विपिन ने राशनिंग के दफ़्तर में भी काम किया था मगर वह काम उससे निभा नहीं, वहाँ ज़रा ज्यादा मज़बूत घात के लोगों की ज़रूरत थी, विपिन की घात कच्ची पड़ती थी। यह प्रूफ़रीडरी का काम फिर भी कुछ अच्छा ही लगता है, दफ़्तर में दिन भी अच्छे ही लोगों के बीच हँसते बोलते कट जाता है और गो महीने में पैंसठ रूपए से कुछ बात नहीं बनती, दाल रोटी का भी माकूल इन्तज़ाम नहीं हो पाता, मगर खैर बिलकुल भूखे मरने से तो अच्छा है।

विपिन के लिए उसकी कविता बिलकुल शुद्ध पलायन थी—पलायन, प्रूफ़ की अनन्त गेलियों से, पैंसठ रूपए में तीन पेटों की खंदक को पाटने की नातमाम मुसीबतों से, बहन की जवान भरी आँखों से जिनके भीतर झाँकना गोया कुएं के भीतर झाँकना था जिसमें दुनिया बेनूर थी और ज़िन्दगी की रगें टूट रही थीं, माँ की परीशान और दुखी और ज़माने से जवाब माँगती हुई आँखों से और खुद दुनिया की बेहिसी से जिसमें गहरे इन्सानी जज़्बे की जगह कुछ बासी लफ़्ज़ों और कतरनी की तरह चलने वाली एक ज़बान ने ले ली थी। विपिन को ज़रूरत थी अपनी एक निराली दुनिया की जिसमें प्रूफ की गेलियों की नाग-कुंडली उसके गिर्द नहीं लिपटी रहती, जिसमें आदमी

पेट की आग में नहीं जलता, क्योंकि वह खाने पर नहीं शबनम पर और गुलाब की पंखड़ियों पर और चाँद के लाजवाल हुस्न पर और झरने के मीठे संगीत पर और अक्षययौवना उर्वशियों के सुहाने सपनों पर जीता है और पलता है, जिसमें बहन की जवानी भूखी नहीं है, जिसमें किसी की जवानी भूखी नहीं रहती, जिसमें सब सबकी प्रतीक्षा में रहते हैं, जिसमें सबको कामदेव के अनन्त मधुकोष से निरन्तर पराग-दान मिला करता है; जिसमें कोयल की कूक और जमुना के जवान दिल की हूक दोनों विरह की एक ही डोर में बंधे रहते हैं, विरह जो कि मिलन से और मधुमास से कुछ कम मीठा नहीं होता, जिसमें माँ की झुर्रीदार पेशानी और सवाल पूछती आँखें भी बर्फ़ की चादर से ढँक जाती हैं, जिसमें कोई किसी की बेहिसी की शिकायत नहीं करता क्योंकि सब अपनी अपनी नन्हीं सी सपनों की दुनिया के मालिक हैं—जिसमें गुलाब की पँखुरियों की सेज पर लेटकर दूर पर्वत के हिमानी शिखरों के अक्षय स्वर्गिक सौन्दर्य को निर्निमेष देखते रहने ही का नाम ज़िन्दगी है।

विपिन को जरूरत थी ऐसी ही एक दुनिया की और अपनी कविता की ऐसी ही एक दुनिया उसने अपने लिए तैयार कर ली थी। उसकी कविता उसके लिए रक्षाकवच के समान थी जिसके पीछे छिपकर वह अपने आप को वक्त के बेदर्द तीरों से बचा रहा था। यह उसकी कविता ही थी जो उसको बुड्ढी खबासत के दलदल से बचाये हुए थी।

विपिन जब अपने आफ़िस से लौटता उस वक्त उसका जी न सिनेमा-बाइस्कोप न किसी से मिलने जुलने न कहीं आने-जाने का होता और न यही उसे अच्छा लगता कि कोई उसके पास आए। किसी के आ जाने से तो यों ही विपिन को बड़ी परीशानी मालूम होती थी, फिर वह वक्त तो उसका खास अपना था जिस पर किसी को दखल नहीं था, जिस पर शायद खुद उसका दखल नहीं था, क्योंकि वह

वक्त उसका था ही नहीं, वह वक्त था उसकी कविता प्रेयसी का। उस वक्त उसके जी में बस एक तमन्ना रहती कि अपनी कविता की कापी और अपने प्रिय कवियों की एक दो पुस्तकें लेकर वह अपने छोटे से कमरे में बन्द हो जाय। फिर कोई उसे तंग न करे, कोई न पूछे कि तुम कहाँ गये, कहीं से, दरवाजे के किसी नन्हें से सूराख से भी उसके कान में यह आवाज न आये कि 'राशन लेने कब जाओगे' या 'सुना है रणछोड़दास के यहाँ जनानी धोतियाँ अच्छी आयी हैं, ये इधर पड़ोस की जो हैं न, कह रही थीं।....जल्दी ही ले लेनी चाहिए वर्ना माल गायब होते देर थोड़े ही लगती है!'

उस वक्त ऐसी कोई बात सुनकर उसका खून सर्द हो जाता था, मगर खून सर्द हो चाहे बर्फ़ की सिल्ली की तरह बिलकुल जम ही क्यों न जाय, ये बातें उसे सुननी ही पड़ती थीं, कौन जिरह-बख्तर उसको इन चीजों से बचा सकता था.......

प्रफुल्लबाबू के यहाँ ज़िन्दगी अपनी उसी सम चाल से चली जा रही थी। वही घर वही कालेज के लड़के और वही मास्टरों के बीच आपसी मनमुटाव। मगर प्रफुल्लबाबू को इन सारी चीज़ों से कोई बहस न थी। वह बदस्तूर वक्त पर कालेज जाते और घर लौटकर अपनी निजी पढ़ाई लिखाई करते। अमूल्य का पार्टी का काम भी ज़ोर शोर से चल रहा था। अलबत्ता सत्य पिछले दिनों पार्टी का कुछ ख़ास काम-वाम नहीं कर पा रहा था। इसलिए जब उस रोज़ सत्य अमूल्य से मिला तो पहली चोट यही अमूल्य ने की—क्यों भाई, सारी आग ठंडी पड़ गयी? शादी चीज़ ही ऐसी है!

सत्य ने सफ़ाई देने की कोशिश की — नहीं कामरेड, ऐसी बात नहीं है, इन दिनों कुछ ख़ास परीशानियाँ रही हैं, कुछ घरेलू उलझनें भी रही हैं जिनके कारण मेरे किए कुछ हो नहीं सका, मगर तुम यकीन करो, आग अगर मुझमें कहीं थी तो वह ठंडी नहीं पड़ी है।

कहते हो तो मानना ही पड़ेगा कि आग नहीं ठंडी हुई है, मगर तुम्हारा मोर्चा तो बिलकुल ठंडा पड़ा हुआ है। कितने ज़माने से कोई नाटक-वाटक नहीं हुआ है। फिर जैसे कोई भूली बात यकायक याद आ गयी हो उसने कहा—अरे भई, तुम लखनऊ नहीं जाओगे.....सांस्कृतिक कार्यकर्ताओं की एक ज़रूरी मीटिंग है।

सत्य ने पूछा—किस तारीख को?

इसी पचीस को....दस दिन बाद।

छुट्टी लेनी पड़ेगी, सत्य ने कहा।

दो दिन दो रात की मग़ज़पच्ची के बाद मीटिंग खत्म हुई। तब सत्य ने राज से मुलाक़ात करने की सोची। अमीनाबाद जहाँ कि वह ठहरा था वहाँ से खासी दूर, मेडिकल कालेज के करीब राज का कालेज था जिससे लगी हुई छोटी सी बँगलिया राज की थी। गोमती का किनारा वहाँ से बहुत पास था। सड़क पर नीम के दरख्त ही दरख्त थे। दिन भर सत्य को वक्त नहीं मिल पाया, शाम को ही निकल सका। नयी जगह थी ढूंढ़ने में भी थोड़ा वक्त लग ही गया।

राज अंधेरे कमरे में लेटी हुई थी, उसे इतनी भी ताब न थी कि उठकर बिजली का बटन तो मार दे। पता नहीं कितनी देर से वह इसी तरह पड़ी हुई थी। सत्य ने दरवाज़े पर पहुंच कर आवाज़ दी, धीमे से—राज....रा SS ज।

पर्दा हटाकर अन्दर झांक ले इसकी उसे यकायक हिम्मत न हुई, पता नहीं कमरे में कौन हो कौन न हो। उधर राज को मालूम होता है कि झपकी लग गयी थी। कोई जवाब नहीं आया। सत्य ने एक बार हिम्मत करके ज़ोर से दरवाज़े पर दस्तक दी और ज़रा ऊंची आवाज़ से पुकारा—राज।

अब की राज हड़बड़ाकर उठ बैठी। सोचने लगी कौन हो सकता है। आवाज़ नहीं पहचान पायी। घड़ी देखी, कुल साढ़े छः बजे थे। मगर अक्तूबर के दिनों में साढ़े छः तक खासी घनी शाम हो जाती है। लेकिन तो भी यह कोई सोने का वक्त है! मुझको आखिर यह होता क्या जा रहा है। पता नहीं कितनी देर से यह आदमी आवाज़ दे रहा है। मगर है कौन आखिर?

जाकिर दरवाजे पर खड़ी हुई। देखा सत्य है। बरामदे में अंधेरा था मगर तो भी सत्य को पहचानने में उसे देर नहीं लगी। सत्य मुस-कराया। राज कट गयी। हाथ सत्य की तरफ बढ़ाया। सत्य ने उसका हाथ अपने हाथ में लेते और दबाते हुए चुटकी ली—यहाँ बड़ी शान्ति है, तभी सरे-शाम नींद आ जाती है! मुस्तकिल दो घंटे से सर पर खड़ा कनस्तर पीट रहा हूं मगर किसी के कान पर जूं तक नहीं रेंगी—

राज ने इस बीच अपने पाँव कुछ मजबूत कर लिये थे, मुस्कराई और बोली—झूठे कहीं के, दो घंटे से खड़े कनस्तर पीट रहे हैं! कालेज से आयी तो ज़रा बिस्तर पर पड़ रही थी, तभी शायद आँख लग गयी।

तो मैं और क्या कहता हूं....मैं भी तो यही कहता हूं कि तुम्हारी आँख लग गयी थी जो खोले से नहीं खुलती थी, गोया सोते में नींद की परियों ने आकर उन्हें गोंद से चिपका दिया हो!

देखो सत्य, ज्यादा बातें मत बनाओ, अपने नाम का कुछ तो खयाल करो....कहते हुए वह उसे अन्दर ले गयी। सत्य राज की चारपाई पर बैठ गया और राज ने पास ही कुर्सी सरका ली।

राज ने सवाल किया—कहो लखनऊ कैसे आना हुआ?

सत्य ने कहा—एक ज़रूरी मीटिंग के सिलसिले में...मगर तुम्हारे सवाल का मतलब?

यही कि अगर मीटिंग न होती तो तुम भला कभी मुझे पूछते! मैं इलाहाबाद से क्या आई तुमने समझा इस दुनिया से ही दफ़ा हो गयी, इतने महीनों में एक बार खबर लेना भी ज़रूरी नहीं समझा।

तो तुम्हीं ने कौन सी खतों की झड़ी लगा दी?

मैं तो तुम्हें परख रही थी।

और अगर मैं भी यही कहूं तो ! यह राज भी खूब निकली, लखनऊ क्या गयी नये दोस्तों में ऐसी खो गयी कि एक बार मुड़कर भी नहीं देखा ! .....देखो राज, झगड़ा मत करो, झगड़ा करने में मैं तुमसे पीछे थोड़े ही हूं......और यह बराबर दोस्तों की दोस्ती का इम्तहान लेना भी ठीक नहीं। जिसे एक बार अपना बना लिया वह हो गया अपना ।

राज ने इसका मुंह से कोई जवाब नहीं दिया, जवाब दिया उसकी आँखों ने—काश ऐसा ही हुआ करता !

उदासी का एक झोंका जैसे राज पर आकर चला गया था। सत्य को देखकर खुशी की एक हलकी सी किरन जो जगमगायी थी वह कुहासे में खो गयी थी। सत्य उसी की तलाश में निकला। बोला—कहो यहाँ दिन कैसे कट रहे हैं ?

सरे शाम तुमको सोती मिली, फिर भी पूछते हो !

मगर तुमको आखिर यह हो क्या गया है ?

यह फिर वही हजार साल पुरानी बहस तुमने निकाली। छोड़ो भी। कहो अपना हाल कहो । शादी से खुश हो न ?

हाँ, शादी से तो बहुत खुश हूं, मगर शादी अब तक शादी जैसी मालूम नहीं होती।

यानी ?

यानी यही कि सिर्फ एक बिस्तर पर सोने को तो शादी नहीं कहते।

मैं अब भी तुम्हारा मतलब नहीं समझी।

राज, जिन्दगी चूल्हे की राख होकर रह गई है। मुझे तो अपनी बाहर की झंझटों से कभी फुरसत मिल भी जाय, उषा को अपने चूल्हे-चौके से कभी फुरसत नहीं मिलती। ऊपर से, अम्माँ आये दिन कोई न

कोई मुसीबत खड़ी किये रहती है। ज़िन्दगी जहन्नम होकर रह गयी है। मुझे यह भी मयस्सर नहीं कि एक वक्त उषा के संग बैठकर खाना ही खा लूं या पार्क में ही जाकर घूम आऊं। उसकी ज़िन्दगी अलग है, मेरी ज़िन्दगी अलग....इस तरह नहीं चल सकता। राज, कभी नहीं चल सकता।

फोड़ा अच्छी तरह पक गया था। ज़रा सी ही ठेस से बह चला।

राज को पहले तो सत्य से बड़ी हमदर्दी हुई लेकिन फिर हमदर्दी की चिनगारी को गम की राख ने ढंक लिया। बेचारी राज किस मुंह से हमदर्दी दिखलाये, यहाँ तो दर्द कुछ दूसरा ही है। उसका अपना दर्द मुहब्बत की मौत का ठंडा दर्द था और यहाँ इनका दर्द मुहब्बत के उबलते हुए सैलाब का गला घुंटने का दर्द था। दोनों दर्द बहुत मुख़्तलिफ़ होते हैं, दोनों का नाम भी एक साथ न लेना चाहिए। यह खयाल आते ही राज जैसे खुद अपने दुःख के समुन्दर में डूबने-उतराने लगी, उसके ज़ेहन में बात-चीत की कड़ी भी टूट गयी।

मगर ज़रा ही देर में वह जैसे सोते से जाग गयी। बोली—मगर ऐसा क्यों होता है। अम्माँ जी से मदद नहीं मिलती ?

सत्य को इस सवाल से ही इतनी तकलीफ हुई कि जवाब देने का भी उसका जी नहीं हुआ। मगर उसकी खामोशी से ही राज को जवाब मिल गया। बोली—आदमी दूसरे का सुख भी क्यों नहीं देख पाता.....

मैं समझता हूं राज। क़सूर अम्मा का नहीं है। पुराने सामंती संस्कारों के मोटे रस्से दिल को भी तो अपनी जकड़बन्दी में ले लेते हैं न, फिर कहाँ से आवे दिल में दूसरे के सुख को समझने का, उसे छाती से लगाने का माद्दा। संस्कारों की गठरी सिल की तरह दिल पर बैठ जाती है और दिल का दिल-पन मर जाता है और उसके बाद—औरत के एक टुकड़े को छोड़कर और क्या रह जाता है! भूलो मत राज कि

हमारे और अम्माँ के बीच पूरे तीस बरस चीन की दीवार की तरह खड़े हैं। उन्हें हमारी हर चीज़ हर बात बेशर्मी और बेहूदगी से भरी मालूम होती है, शायद हमारी मुहब्बत भी। मुमकिन है उन्हें यह भी बुरा लगता हो कि मैं क्यों उषा का इतना कहना मानता हूं, क्यों नहीं अच्छे मज़बूत पति की तरह उससे सदा फ़िरन्ट रहता और क्यों नहीं गाहे बगाहे उसकी थोड़ी बहुत मरम्मत करता रहता!

छिः।

फिर थोड़ी देर ख़ामोशी रही। फिर राज ने कहा—इसका इलाज भी तो कुछ होगा?

नहीं, इलाजों की बात, नश्तरों की बात हम नहीं करेंगे। गो कि मेडिकल कालेज पास है! कहकर सत्य ने मुसकराने की कोशिश की मगर उस फीकी मुसकराहट ने भी उसका साथ नहीं दिया।

राज के नज़दीक बात साफ तो नहीं हुई मगर उसे कुछ कुछ लगा कि उसका और सत्य का मर्ज़ है शायद एक ही...

राज की ज़िन्दगी में कभी मुहब्बत की बरखा नहीं हुई थी और उसकी छाती में वैसी ही दरारें पड़ गई थीं जैसी गर्मी के दिनों में सूखी हुई तलैयों की छाती में पड़ जाती हैं....कहीं से बरखा हो और अन्दर बाहर सब कुछ भीग जाये और दरारें न हों! सत्य उसकी ज़िन्दगी में ऐसा ही कुछ वरुण का सा रूप लेकर आया था। आज फिर उसने उसकी प्यास जगा दी थी।

खाना-वाना खाते-खवाते रात के क़रीब दस बज गये। बाहर सर्दी काफ़ी थी और सत्य को खासी दूर जाना था, अमीनाबाद। उस वक्त सवारियाँ भी वहां नहीं मिलतीं। सत्य जब चलने को खड़ा हुआ तब राज को जैसे एक धक्का सा लगा, गोया सत्य उससे सिर्फ मिलने नहीं उसके पास रहने के लिए आया हो। बोली—जाओगे?

सत्य बोला—हाँ अब चलना ही चाहिए, रात काफ़ी जा चुकी है ?

रात सचमुच ज्यादा जा चुकी थी। राज उसको रोकना चाहती भी थी मगर वह बात ज़बान पर लाते भी नहीं बनती थी। बोली—जाओगे ? जाना ज़रूरी हो तो जाओ, मगर मैं तो कहूँगी यहीं सो रहो, सोना ही तो है।

सत्य को इसमें भला क्या एतराज़ होता। जिस काम से वह लखनऊ आया था, वह काम सब हो ही गया था।

तुम्हें अड़चन तो नहीं होगी ?

मुझे किस बात की अड़चन, पगले ?

दिनभर की थकन के बाद सत्य की आँखें हस्बमामूल नींद के वज़न के नीचे झपी जा रही थीं। एक मिनट में ही वह गहरी नींद में सो गया। राज की आँखों में नींद नहीं थी। वह बड़ी देर तक वहीं कुर्सी पर बैठी कुछ पढ़ने की कोशिश करती रही, मगर उसकी आँखें रह रह कर सत्य के शान्त, गहरी नींद में डूबे हुए चेहरे पर पड़तीं और अनायास उसके सीने से एक हूक निकल जाती—आह कैसी गहरी नींद है। ऐसी नींद पाने के लिए पिछले जनम इस आदमी ने बड़े पुण्य किये होंगे !

वह खैर जो भी हो, अभी तो सत्य दीन दुनिया से बेखबर गहरी नींद में खर्राटे भर रहा था। पता नहीं राज कितनी देर तक बैठी रही। फिर वह भी सोने चली गयी।

अचानक सत्य की नींद खुल गयी, नींद में भी उसे लगा जैसे कोई उसे घूर रहा हो, जैसे किसी के हाथों ने उसके जिस्म को छुआ हो। उसी में उसकी आँख खुल गयी। अंधेरे में भी उसे लगा कि कोई उसकी पलंग पर बैठा है। यह कौन है देखने के लिए वह आँख मलते हुए पलंग पर उठकर बैठ गया। गौर से उसने देखा, वह

राज थी जो अब बिस्तर से उठकर खड़ी हो गयी थी। सत्य कच्ची नींद स जागा था, शरीर बेतरह काँप रहा था। उसने कहा—राज...

राज ने कोई जवाब नहीं दिया। उसकी सांस ज़ोरों से चल रही थी।

सत्य ने फिर कहा—राज....बैठो...क्या है?

राज ने फिर भी कोई जवाब नहीं दिया, उसकी सांस वैसी ही चलती रही और वह कुर्सी पर सिमट कर बैठ गयी, जैसे खुद अपने आप से जिस्म चुरा रही हो। मुशकिल से दो मिनट गुजरा होगा कि राज सत्य की गोद में गिर पड़ी। उसकी गरम गरम सांस धौंकनी की तरह चल रही थी, उसका सिर सत्य की गोद में था, और उसके कान सत्य के सीने पर यों जमे हुए थे जैसे वह उस सीने के भीतर धड़कते हुए दिल की बात को वहीं बाहर से कान लगाकर सुन लेना चाहती हो।

उसकी बाँहों ने सत्य की कमर को पूरी ताक़त से जकड़ रखा था। उसकी आँखें डूब रही थीं और उसका मुंह खुला हुआ था, अर्द्ध-संपुट कली की तरह। बरामदे में की जितनी रोशनी पर्दे में से छनकर कमरे में आ रही थी उसमें राज के चेहरे पर की याचना की लिखावट को पढ़ लेना सत्य के लिए मुशकिल न था। यन्त्रचालित की तरह सत्य के हाथ बढ़े, उसने राज के लम्बे लम्बे, खुशबूदार बालों वाले सर को बाँहों में भरा और नींद की उस अजीब बौखलायी हालत में, सभी कुछ भूलभालकर अपने होंठ राज के खुले हुए, भूखे, गरम गरम आबले जैसे होंठो पर रख दिये और पूरी ताकत से एक बार उसे छाती से लगाया। और फिर जैसे अंगारे पर पैर पड़ गया हो उसने निढाल राज को झटके से अलग किया और वैसे ही झटके से उठकर बिस्तर छोड़कर अलग जा खड़ा हुआ। ऊपर से

नीचे तक वह एकदम पसीने में नहाया हुआ था और उसके पैर यों काँप रहे थे कि अब टूटे अब टूटे। राज बिस्तर पर निढाल तकिये में सिर गाड़े पड़ी सुबुक रही थी।

सत्य बेचैनी में टहलने लगा। थोड़ी देर बाद, कुछ प्रकृतिस्थ होकर उसने सिर्फ इतना कहा—राज मुझे माफ़ करो।

राज ने कोई जवाब नहीं दिया। न तकिये में गड़े हुए अपने चेहरे को ही ऊपर उठाया। वैसी ही पड़ी सिसकती रही। धीरे धीरे इतना हुआ कि हिचकियाँ देर देर में आने लगीं।

सत्य की हिम्मत न थी कि उसके पास जाता। लिहाजा उस गुनाह के बाद, राज रात भर बिस्तर पर पड़ी सिसकती रही सिसकती रही और सत्य बराबर इधर से उधर उधर से इधर टहलता रहा टहलता रहा टहलता रहा, चींटियों की लैनडोरी की तरह खयालात का एक नातमाम सिलसिला चलता रहा चलता रहा आता रहा और गुज़रता रहा गुज़रता रहा और आता रहा, खयालात जिनमें कुछ खास तुक न थी, जो सब आपस में गडमड थे, पाप और पुण्य नेकी और बदी आदमी और औरत सत्य और राज भाई और बहन और दोस्त और दोस्त कोई नहीं और कोई नहीं, गुनाह कौन किसका.... राज राज राज...मुझे माफ़ करो, मैंने तुम्हें माफ़ कर दिया...मुझे तुमसे हमदर्दी है मगर मैं तुम्हें चूमूं क्यों? क्यों ?? क्यों नहीं क्यों नहीं ? चुप सुअर बदमाश.....

ग़रज आरे की तरह ये खयाल चलते रहे और उसके सीने को चीरते रहे और वह मुस्तक़िल टहलता रहा......और घड़ी ने छः का घंटा बजाया। सत्य ने बाहर झांककर देखा अभी अंधेरा था, मगर छँटने लगा था, पैर एकदम भरे हुए थे दिमाग़ एकदम खाली था, जिस्म टूट रहा था, आँखें नींद से जल रही थीं, अब तक काफ़ी दिमाग़ी सुकून

उसने हासिल कर लिया था और राज बेखबर सो रही थी। सत्य ने सोते में उसका चेहरा देखा जो उसे और भी सुन्दर लगा। उस पर तो कहीं किसी गुनाह की छाया तक नहीं थी, वह तो एकदम बेबाक, भोला और खुली हुई किताब की तरह खुला हुआ चेहरा था। अब वह रगों का टूटना भी उस चेहरे पर कहीं नहीं था।

सत्य ने राज के जगने का इन्तजार नहीं किया (असल में उसे कुछ डर ही लग रहा था उस चीज़ से) और वैसे ही सोता हुआ छोड़कर बाहर निकल गया और दोपहर की ही गाड़ी से इलाहाबाद चला गया।

इलाहाबाद पहुंचने के तीन दिन बाद उसे राज का यह ख़त मिला:

सत्य, तुमने अच्छा किया कि उस रोज़ मुझे सोता हुआ ही छोड़कर चले गये वर्ना मैं अगर कहीं जाग गयी होती तो फिर दिन की रोशनी में तुम्हें कैसे देखती!

मैं जानती हूं तुम्हारी आँखों में मैंने अपने आप को कितना गिरा लिया है, मगर उसकी बात करना बेकार है।

मुझे नहीं मालूम, लेकिन अगर हमसे कोई पाप हुआ है, तो उसकी सोलह आने ज़िम्मेदारी मेरी है। तुम मुझे माफ़ कर देना और अपनी नींद मत खराब करना।

तुम्हारी
अभागिन राज

सत्य ने खत पढ़ा और एक बड़ी व्यथित सी मुसकराहट उसके चेहरे पर खेल गयी।

लड़ाई खत्म हो चुकी थी। लड़ाई खत्म होने से हिन्दुस्तान के हालात कुछ भी नहीं बदले, मगर फिर भी, लड़ाई खत्म हो चुकी थी।

इन दिनों देश में आजाद हिन्द फ़ौज की धूम थी। ढिल्लन, सहगल, शाहनवाज़ और कैप्टेन लक्ष्मी और बाद में रशीदअली —ये नाम लोगों की जबान पर चढ़ रहे थे। कैसे नेताजी सुभाष यहाँ से भागे, कैसे हिटलर से मिले, तोजो से मिले, कैसे उन्होंने आजाद हिन्द फ़ौज बनायी, फिर कैसे अंग्रेजों के खिलाफ़ लड़ाई लड़ी, आजाद हिन्द फ़ौज में अनुशासन बहुत गजब का था, उसमें हिन्दू मुसलमान की भी कोई बात नहीं थी—वगैरह वगैरह बीसों बातें थीं जो हजारों लोगों के मुँह से निकलती थीं। लाल किले में उनका मुकदमा चल रहा था और अखबार उसी मुकदमे की खबरों से भरे रहते। चारों तरफ ढिल्लन-सहगल-शाहनवाज, ढिल्लन-सहगल-शाहनवाज की ही सदा थी। उनकी जान का सवाल देश की आजादी और इज्जत का सवाल बन गया था, इसीलिए सारे देश का ध्यान उसपर लगा हुआ था। सोते-जागते, उठते-बैठते, रास्ता चलते, ट्रामों और बसों का इन्तजार करते, घरों पर और आफ़िसों में और बाजारों में यही चर्चा का सबसे प्रिय विषय था। इधर एक ज़माने से कोई ऐसी चीज़ नहीं हुई थी जिसने लोगों में ऐसी गहमागहमी पैदा की हो। नेता जी का नाम जादू की तरह काम कर रहा था। यह सही है कि सोचने वालों का एक हल्का सुभाष बाबू के हिटलर और तोजो से मिलने को सख्त नफ़रत

की निगाह से देखता था और दिलोजान से महसूस करता था कि अपनी इस आखिरी हरकत से सुभाषबाबू ने अपनी शानदार जिन्दगी की सारी कमाई मिट्टी कर दी। 'सुभाषबाबू ने अपने आप को हिटलर के हाथ तोजो के हाथ बेचा। वे क्या कोई दूधपीते बच्चे हैं जो हिन्दुस्तान को आजाद करने के लिए एक आला फ़ौज खड़ी करके सुभाषबाबू के हाथ में थमा देंगे। हुं : । वह तो अपना उल्लू सीधा करना चाहते थे और सुभाषबाबू ने इस काम में उनको मदद पहुंचायी। उसका कोई खास नतीजा नहीं निकला, मगर वह और बात है, नेता जी, ने अपनी तरफ से तो कोई कोर-कसर उठा नहीं रखी, इम्फाल और कोहीमा में अगर लड़ाई का ऊंट जरा किसी और करवट बैठ जाता तो जापानियों के पौ बारह थे ही। तब शायद हिन्दुस्तान का इतिहास कुछ और हो होता—और वह सब होता नेता जी की मदद से। 'नेता जी' 'नेता जी'....जापानियों ने नाम भी क्या खूब चुनकर दिया है, जैसे मुनीम जी या पेशकार जी या बाई जी, या गुड्डे जी या भंडुए जी ! यह 'जी' भी खूब है ! नेता जी नाम से ही नफ़रत मालूम होती है और तोकियो रेडियो भी शायद काफी हिक़ारत से यह नाम लेता है :.....:.:.:

इस तरह के सोचने वाले देश में थे मगर कम थे। ज्यादातर लोग उनकी हिम्मत और नैतिक पवित्रता और समझदारी की दाद देने वाले थे और जापानियों और जर्मनों से उनके मिल जाने को बिलकुल सही मानते थे, दुश्मन का दुश्मन हमारा दोस्त। आम तौर पर उस वक्त वे लोगों को आजादी की भावना के प्रतीक बन गये थे। इसीलिए इस वक्त जब नेता जी (पता नहीं लोगों ने अपने प्रिय नेता के लिए यह लक़ब स्वीकार कैसे कर लिया ! खटका नहीं? बिलकुल मुंह चिढ़ाने जैसी बात मालूम होती है) के जिगर के टुकड़ों का मुक़-

दमा चल रहा था, जनता हजार हजार बाहुओं से उनकी हिफ़ाजत करना चाहती थी। यह सन् पैंतालिस के आखिरी दिनों और सन् छियालिस के शुरू की बात है।

धीरे धीरे इस मुक़दमे का फ़ैसला लाल क़िले में नहीं कलकत्ता और बम्बई और मद्रास और दिल्ली और लखनऊ और पटना की सड़कों पर होने लगा। जनता ने उनकी क़िस्मत का फ़ैसला अपने हाथ में लेना और उस पर अपने ताजे खून की मुहर लगाना शुरू कर दिया। जगह जगह 'न्याय और सुरक्षा' के पहरेदारों को गोली चलानी पड़ी, जगह जगह लाशें गिरीं। जितनी ही ज्यादा जमीन लाल होती उतने ही ज्यादा गुस्से और नफ़रत के बगूले हवा में काँपते। एक लम्बे जमाने के बाद हिन्दुस्तान ने इस तरह के लाखों लोगों के जुलूस देखे और रैलियाँ देखीं जो बग़ावत के सैलाब की तरह थीं, जिन पर डंडे-गोली का कोई असर नहीं था, जो डंडे खाकर उस वक्त तो तितर बितर हो जाते थे मगर फिर चार अलग अलग गलियों से होकर एक नुक्ते पर जाकर मिल जाते थे और आगे बढ़ने लगते थे। शायद दूसरी गोली की बारिश के इन्तज़ार में। जिन्दगी और मौत की यह आँखमिचौनी, सिर पर कफ़न बाँधे बहादुरों का यह मर्दाना खेल कलकत्ते ने बहुत देखा।

आजाद हिन्द फ़ौज के ही सिलसिले में आज शाम को टंडन पार्क में एक सभा है। सत्य ने सोचा उषा को भी संग ले जाऊँगा, उसे भी अच्छा लगेगा, बेचारी कहीं आ-जा नहीं पाती, घर के खूंटे से उसके आँचल का छोर कुछ ऐसा बंधा है, कि निकासी हो ही नहीं पाती। अपने पिता के घर वह बन में चहकती चिड़िया थी, चाहे जहाँ आये चाहे जहाँ जाये, कुछ रोक टोक नहीं, न घर की फिक्र न चौके चूल्हे का ग़म न सास जी की तनी भृकुटियों का डर। सत्य को यह खयाल करके तकलीफ होती थी कि बेचारी उषा को कैसा लगता होगा, वह

अपने मन में क्या सोचती होगी, कहती होगी—बुरी फँसी ! मुझे क्या पता था कि घर के कठघरे में मैं इस बुरी तरह बन्द हो जाऊँगी। और घर भी कैसा, एकदम कठघरे जैसा, कहाँ उसका जार्जटाउन वाला खुला हुआ कशादा बंगला, फूल और घास और पेड़ और खुली हवा और धूप—और कहाँ यह घुटा घुटा सा घर जिस में न तो खुली हवा का गुज़र है न खुली धूप का। दम घुटता होगा बेचारी का, उस पर से न कहीं जाना न कहीं आना। इस तरह तो मर जायगी वह। आज तो मैं ज़रूर उसको अपने संग ले जाऊंगा। अम्मा तो शायद जाना चाहेंगी भी नहीं वहाँ और जाकर करेंगी ही क्या? आज अम्मा ही दो मुट्ठी दाल चावल डालकर खिचड़ी बना देंगी, उसमें बात ही क्या है......

मुन्नी, आज टंडन पार्क में कोई मीटिंग है क्या?

सत्य का माथा ठनका। यह सब काम बिगड़ने की तैयारी है। अम्मा के इरादे ठीक नहीं नज़र आते। बात बनाने की गरज से उसने काफ़ी लापरवाही से (कुछ इस भाव से कि ऊंह, मीटिंगों का क्या मीटिंगें तो हुआ ही करती हैं, कोई कहाँ तक उनका लेखा-ड्योढ़ा रखे!) कहा—पता नहीं....है तो शायद।

फिर थोड़ा रुककर जोड़ा—हाँ है, हम लोग जाने की सोच भी रहे थे.......

हम लोग माने?

उषा और मैं।

उषा भी चली जायगी तो बाबूसाहब, आज आप रात को खाइयेगा क्या?

अरे खाने का क्या, तुम्हारे जो जी में आवे बना देना, न हो थोड़ी सी खिचड़ी ही डाल देना.....

मुझसे वह सब नहीं होता-वोता। मैं कोई तुम लोगों की जर-खरीद लौंडी नहीं हूं कि जनम भर तो तुमको पो-रींधकर खिलाया अब तुम्हारी रानियों को पो-रींध कर खिलाऊं। मैं तो चूल्हा पकड़ कर बैठूं और साहब लोग और मेम लोग लीडरी करें, सभा सोसा-यटी करें.....

तुम यह कैसी बात करती हो अम्मा ! जो कोई खाना बनाता है वह क्या जरखरीद लौंडी होता है ? उषा जरखरीद लौंडी है ?

गुस्से के मारे सत्य का बुरा हाल था। रह रह कर उसे बस यही खयाल आता था कि उषा अपने दिल में क्या कहती होगी कि कैसे जाहिल गंवारों के बीच आ गई जिनमें इन्सानियत तो दरकिनार, मामूली सी भलमनसाहत भी नहीं ? अम्मा जी का इस वक्त मीटिंग के सवाल पर अड़ना महज हम लोगों को सताने के लिए नहीं तो और क्या है ? क्यों नहीं पहले हमसे पूछा, हमसे इजाजत क्यों नहीं ली ! नहीं ली तो अब भुगतो, मैं तो लंगी लगाऊंगी, देखूंगी तुम कैसे जाते हो। बड़े मीटिंग करने चले हैं ! दूसरे किसी को मीटिंग करना थोड़े ही आता है !

सच बात तो यह है कि उषा भी अन्दर ही अन्दर जल भुनकर खाक हो गयी, मगर बात न बढ़े इस गरज से उसने कहा—तुम अम्मा जी को लेकर चले जाओ न, मैं मीटिंग में नहीं जाऊंगी। मेरे सिर में दर्द है।

सत्य जान गया कि यह महज एक बहाना है। उसे बुरा लगा कि हर मर्तबा यह उषा ही क्यों दबती है—घर में शान्ति रहे इस मारे गुलामों की तरह जा-बेजा सब हुक्म मान रहे हैं ! इस तरह कोई शान्ति नहीं हो सकती। यह तो मुर्दों की शान्ति है। लानत है ऐसी शान्ति पर। इस शान्ति के पीछे तो हम लोग पता नहीं क्या हो जायंगे। नहीं, ऐसा नहीं हो सकता।

अम्मा देखो, तुम फिजूल तंग कर रही हो।

मैं तंग कर रही हूं ?

सरासर....

तो जाओ न बाबा, मैं कब तुम्हारे रास्ते में आती हूं.....

यह रास्ते में नहीं आना तो और क्या है ?

तुम चाहते हो मैं अपनी बात भी न कहूं, मुंह भी न खोलूं, बस तुम्हारा हुकुम बजाती रहूं और पूरे वक्त डरती रहूं कि राजा साहब को कहीं कोई बात बुरी न लग जाय—

तुम जो चाहे कह सकती हो, मगर तुमको भी मालूम है कि मैं कभी किसी पर कोई हुक्म नहीं चलाता। तुम पर हुक्म चलाने का तो खैर कोई सवाल ही नहीं। तुम मुझको जो करने को कहती हो मैं सब करता हूं मगर तुमको भी तो कभी कभी मेरे मन की करनी चाहिए। मगर तुम हो कि सदा अपनी ही जिद पर अड़ी रहती हो, खुद भी दुख पाती हो दूसरे को भी दुख पहुंचाती हो।

सत्य ने बहुत काफी समझाया-बुझाया मगर उसकी माँ का फूला मुंह ठीक नहीं हुआ। उधर उषा चौके में रही आयी। एक आग पर वह रोटी सेंक रही थी और दूसरी आग पर खुद सिंक रही थी। तरह तरह के विचार उसके मन में आ रहे थे मगर वह किसी को कोई जगह नहीं दे रही थी। क्योंकि उसे पता था कि बात से बतंगड़ निकलता है। उषा अपने को बहुत जब्त किये बैठी थी मगर मन उसका बहुत खिन्न हो रहा था। उसने निश्चय ही यह नहीं जाना था कि शादी का मतलब होगा चौबीसों घंटा चूल्हे के पास बैठा रहना। यहाँ तक कि सत्य के पास भी दो मिनट बैठने की फुर्सत नहीं।

ग़रज़ उस मीटिंग में कोई नहीं गया। सब अपनी अपनी जगह पर बैठे भुनते रहे। माँ बेटे के कलजुगी होने का शोक मनाती रही,

बेटा माँ की तानाशाही के खिलाफ उबाल खाता रहा और उषा, बेचारी उषा, दो चक्की के पाट के बीच पिसती रही, कुढ़ती रही, दुखी होती रही। सत्य के भाई साहब को तो जैसे घर से कोई बहस ही नहीं थी। सारा दिन अपनी दूकान पर रहते और रात दस साढ़े दस बजे घर लौटते और जो कुछ कच्चा-पक्का मिलता खाकर पड़ रहते।

इस तरह भला कै रोज़ चलता। आये दिन इसी तरह की दुर्घटनाएं घर में हुआ करतीं, कभी किसी बात पर कभी किसी बात पर। बातों की कुछ कमी थी। जहाँ दिल न मिलता हो वहाँ बातों की भला कभी कमी होती है। और कुछ नहीं तो खाने पर से ही झगड़ा होता। उषा के हाथ के खाने में अम्मा को नुक्स ही नुक्स दिखलायी देता, कभी दाल कच्ची रह जाती तो कभी एकदम हलुआ हो जाती, दाल में कभी नमक ही न मालूम होता तो कभी इतना नमक हो जाता कि दाल मुंह में न दी जाती, रोटी कभी सेवर रह जाती तो कभी जल जाती, चावल में कनी तो जैसे सदा ही रह जाती। ग़रज़ हर रोज़ अम्मा को एक न एक रोना रहता। कहतीं—दो जून रोटी दाल का भी सहारा नहीं। पता नहीं आजकल की लड़कियाँ क्या खाक पढ़ती लिखती हैं जबकि उन्हें खाना पकाने का भी एक मामूली सा सहूर नहीं। सदा तीन कोने का मुंह बनाकर वह खाना खातीं, जैसे ज़हर खा रही हों।

सत्य को उषा के हाथ का ही खाना अच्छा लगता। माँ जब खाना पकातीं तो उसे यही लगता कि बैल की सानी उसके सामने लाकर रख दी गई है, खाने में कोई स्वाद ही नहीं, रोज़ एक ही एक तरह का खाना—

अक्सर इस खाने या नाश्ते पर से ही झगड़ा होता, दूसरी कोई चीज़ थी भी तो नहीं। यह रोज़ का कार्यक्रम था। धीरे धीरे सत्य

को अपने ही घर से नफ़रत हो गयी, यह घर भी कोई घर है जिसमें सिवाय चिखचिख के और कुछ नहीं। कोई मेल नहीं मुहब्बत नहीं। सत्य का मन घर से एकदम भागता।

इतने ज़माने से यह चीज़ चलती चली आ रही थी, कभी सतह के ऊपर कभी सतह के नीचे, और मन पर उसका बोझ इतना भारी मालूम होता कि सत्य के लिए जीना पहाड़ हो गया। उसकी हँसी खुशी सब न जानें कहाँ हवा हो गयी। वह हरदम खिझा सा रहता—चिन्तित, उदास, बुझा बुझा। उसे लगता कि न जाने कितनी सदियों से वह इस आग में भुन रहा है। अपनी इन्हीं परीशानियों के चलते उसने लोगों से मिलना-जुलना, पार्टी दफ्तर जाना, पार्टी का कुछ काम करना, सभी कुछ बन्द कर दिया। उसके दोस्त स्वभावतः उससे किनाराकश होने लगे, अमूल्य और दूसरे साथी अलग नाराज़ रहते और क्यों न रहते जब वह पार्टी के लिए कुछ भी नहीं करता था। मगर ग़लती बेचारे सत्य की भी ज्यादा न थी। अपने घरेलू झगड़ों की वजह से सचमुच उसे लकवा-सा मार गया था, न तो उसका दिमाग़ काम करता था न जिस्म। पूरे वक्त इसी एक चिन्ता में वह घुला करता। कई बार इसके लिए ज़ोर भी लगाता कि उस चीज़ को थोड़ी देर के लिए अपने दिमाग़ से निकाल दे, अरे जो होना है होगा! ख़ामखा परीशान होने से फ़ायदा? मगर यह सब कहने की ही बात थी, परीशानी तो उसे होती ही थी। दफ्तर में भी खबरों के बीच वह अपनी इन्हीं उधेड़बुनों में पड़ा रहता। एक दिन यह खबर छपेगी कि 'लीडर' के सहकारी सम्पादक सत्यवान ने अपनी बुड्ढी माँ को छोड़कर अलग अपना एक घर ले लिया है और ....यह खयाल बराबर आता था मगर वह बार-बार उसे अपने पास से ठेल देता था—दुनिया क्या कहेगी? लोग क्या कहेंगे? कहेंगे यही नई रोशनी है! अब तो अपनी माँ के संग भी लड़कों का निबाह

नहीं होता ! एक वह श्रवणकुमार था जो अपने कंधों पर अपने माँ-बाप को उठाये उठाये फिरा और एक ये हैं, उधर बाप ने आँख मूंदी नहीं कि इधर बेटे साहब ने आँख फेर ली । लानत है ऐसे कुलच्छनी बेटों पर । माँ-बाप इसी दिन के लिए बेटे को पाल पोस कर बड़ा करते हैं, खुद भूखे रहते हैं मगर बेटे के मुँह में चारा डाल देते हैं, खुद नंगे रहते हैं मगर बेटे का शरीर ढांक देते हैं, मगर बेटा है कि मौका मिलते ही अंगूठा दिखला देता है । अब क्या करेगी बेचारी सत्यवान की माँ ? रहेगी अपने बड़े लड़के को लेकर और क्या ! हाँ सत्यवान का बड़ा भाई फिर भी अच्छा है । अरे, बुड्ढों पर यों खफा नहीं हुआ जाता । उनकी कोई बात बुरी भी लगे तो आदमी को चाहिए कि कान दबाकर सुन ले, बुड्ढों के संग गम खाना ही पड़ता है—यह नहीं कि माँ की कोई बात बुरी लगी नहीं कि बेटा तिनगकर अलग जा खड़ा हुआ । अब के लड़कों में गम खाने का माद्दा बिलकुल नहीं होता.....

इन्हीं सारी दुविधाओं में सत्य के दिन आ जा रहे थे । माँ को छोड़कर चले जाने और अलग घर बसाने का खयाल इतना तकलीफदेह था कि सत्य बराबर उसको टालता रहा और मन में यह ख्वाहिश छिपाये रहा कि काश कोई रास्ता निकल आता और यह नौबत न आती क्योंकि कुछ भी कहो बात तो बुरी है ही । ....लेकिन सत्य सोच सोच कर अपने को गंजा ही क्यों न कर ले, असल बात तो वहीं की वहीं थी । बल्कि और भी बिगड़ती जा रही थी । अब और भी छोटी छोटी बातों पर माँ की त्योरियों में बल पड़ जाता था और इधर कुछ दिनों से उन्होंने और भी ज्यादा हमलावर रवैया अख्तियार कर लिया था । उषा काफी गम खाती थी, मगर गम खाने की भी एक हद होती है । माँ ने जब उषा के मैके वालों को बुरा भला कहना शुरू किया तो वह उषा के लिए असह्य हो गया । एकाध बार शायद उसने इतना

ही कहा—अम्माँ जी, आपको जो कुछ कहना हो मुझे कहा करें, मेरे घर वालों को फिजूल मत घसीटा करें। उन्होंने आपका क्या बिगाड़ा है। बिगाड़ा है तो मैंने !

माँ को उषा का इतना मुँह खोलना भी बुरा लग गया और उन्होंने जो कुछ मुँह में आया सब बक डाला।

उस दिन रात को सत्य ने अपनी डायरी में लिखा—अम्माँ अब हद से गुजरी जा रही हैं। इस तरह उनके संग मेरा निबाह नहीं हो सकता। मैं अपने ही घर में, अपनी ही माँ के हाथ से भी बेइज्जत होने को तैयार नहीं हूँ, मैं किसी के हाथ से बेइज्जत होने को तैयार नहीं हूँ। मैं किसी को कुछ नहीं कहता और न मैं बर्दाश्त कर सकता हूँ कि कोई मुझे कुछ कहे। तुम्हीं बताओ न, आज उषा की ऐसी क्या गलती थी जिससे अम्माँ इतनी ज्यादा आपे से बाहर हो गईं—यही न कि उनके इशारे पर उषा ने मुहल्ले-टोले की तमाम खुड्डूस औरतों के पैर नहीं छुए ! कितना भीषण अपराध कर दिया उसने ! मगर क्यों छुए वह किसी के पैर ? पैर छूने का रिवाज एक तो यों ही बुरा है, दूसरे अगर कभी कोई किसी का पैर छुए तो इसलिए नहीं कि इसी चीज का रिवाज है बल्कि अपनी श्रद्धा, किसी के प्रति अपना आदर-भाव दिखलाने के लिए। और जाहिर है कि उस चीज पर फिर कोई बँधा-टका नियम नहीं हो सकता। आप फिर यह नहीं कह सकते कि फलाँ के लिए मेरे मन में आदर का भाव आवे ही आवे। उसका जज तो मैं हूँ। अगर किसी को देखकर अनायास ही मन आदर से भर जाता है, और अन्दर से मेरी इच्छा होती है कि मैं उसके पैर की धूल माथे पर चढ़ाऊँ तो मैं चढ़ा सकता हूँ और अगर इच्छा नहीं होती तो नहीं चढ़ाता। बात खत्म हुई। इसमें जोर-जबरदस्ती कैसी और ठेल-ठाल क्यों ? अजब खब्त है यह अम्माँ को कि उषा हर ऐरे गैरे पँचकल्यानी के पैर पड़े। क्यों पड़े साहब, घास खा गई है वह या उसकी मत मारी गई है ! आपके पास आते तो हैं एक से एक नुमाइशी लोग,

बिलकुल काबिलेदीद, सब गन्दे और सब जाहिल और सब इधर की बात उधर लगाने वाले मगर उनकी भी साहब इज्जत कीजिए ही कीजिए और ऐसी वैसी नहीं सीधे पैर पर जा गिरिए! वाह रे, ऐसा क्या सुर्खाब का पर उनके लगा है कि आदमी खामखा उनके आगे अपने आपको जलील करे! मुझे तो यह बात फूटी आँख नहीं सुहाती। रही उषा.......सो वह तो बेचारी इतनी सीधी है कि उसे कोई बात बुरी भी लगे तब भी घर की शान्ति की खातिर वह सब कुछ करने को तैयार रहती है—मगर मुझसे तो यह बात बर्दाश्त नहीं होती। जो बात मेरे लिए ग़लत है वह है, वह फिर चाहे घर के अन्दर हो चाहे घर के बाहर, यह नहीं कि घर के बाहर तो मैं साहब बहुत बड़ा इंकलाबी हूं मगर घर के अन्दर दुनिया भर की दक़ियानूसी बातों के खिलाफ़ चूं भी नहीं करता! चिराग़ तले अंधेरा और काहे को कहते हैं! अदब.....मुलाहिज़ा? जी नहीं जनाब, अदब और मुलाहिज़े के नाम पर भी ग़लत बातों को, दक़ियानूस बातों को जगह नहीं दी जा सकती। आप दुनिया को क्या खाक बदलेंगे जब खुद अपने घर को बदलने की सकत आप में नहीं है? पहिले घर में चिराग़ जलाइये फिर मसजिद में चिराग़ जलाइयेगा। हाँ इसके लिए हिम्मत दरकार है, रूढ़ियों के मोटे मोटे रस्से काटना कोई आसान बात नहीं है। हिम्मत तो सब काम में ही दरकार है। और ये छोटी छोटी बातें नहीं हैं, पुरानी सामन्ती दुनिया इन्हीं ठियों की आड़ लेती है, पुराने संस्कारों का अंधा अनुसरण उसका सबसे बड़ा हथियार है और हर आदमी जो नया कुछ करने निकलता है उसे सबसे पहले इन्हीं से दो चार होना पड़ता है। जो लोग इनका सामना करते हैं वही आगे कुछ कर पाते हैं। जो इनसे कतराकर निकल जाना चाहते हैं, उनके पैर लाज़मी तौर पर बँधे होते हैं और वह ज़रूर कहीं न कहीं जाकर ठोकर खाते हैं और मुंह के बल गिरते हैं। मैंने बहुतों को इसी तरह मुंह के बल गिरते देखा है।

और तो और अपने साथियों को देखता हूं—कहने को हैं कम्यूनिस्ट, मगर उनके घर को जाकर देखिए परिवार के दूसरे लोगों को देखिए, सब अपने उसी पुराने रंग में रंगे हुए, और घर पर बाबा आदम के वक्त की बुढ़ियों का अखंड राज ! जी हाँ, बहुत से घरों में तो पर्दा भी अब तक क़ायम है और जहाँ पर्दे से निजात जैसे-तैसे मिल भी गई है वहाँ भी दूसरी बीसों रूढ़ियाँ, रहन-सहन रीति-रिवाज, सोचने का ढंग सब कुछ वही है जहाँ आज से एक हज़ार साल पहिले था। मैं पूछता हूं आपका कम्युनिज्म किस काम का अगर आप अपने घर में कोई तब्दीली नहीं ला पाते, लोगों के सोचने के ढंग को ज़रा भी नहीं बदल पाते ? मैं तो भइया ऐसे कम्युनिज्म का हामी नहीं। मैं तो कम्युनिज्म के बारे में इतना ही जानता हूं कि कम्युनिज्म दुनिया को बदलने का वैज्ञानिक हथियार है और दुनिया को बदलने की शुरुआत, ईमानदारी की बात है, लाज़मी तौर पर अपने आप से और अपने घर से होनी चाहिए। .....मैं क्यों सहूं अम्माँ की ज्यादतियाँ जबकि मैं देखता हूं कि उन्हीं ने नागफनी के काँटे की तरह मेरी ज़िन्दगी को बींध दिया है। मुझे अपने आपसे नफ़रत होती जा रही है। नहीं नहीं हरगिज़ नहीं। अब मैं एक दिन इस तरह नहीं चल सकता। मेरा ज़मीर बिलकुल साफ़ है, मैंने निबाह करने की हर मुमकिन कोशिश की, लेकिन निबाह नहीं होता, तो क्या फ़ायदा मरीचिका के पीछे दौड़ने से। ....अलग हो जाओगे तो लोग नाम धरेंगे। जिसे नाम धरना हो धरे, मेरे ठेंगे से ! इस नाम धरने के पीछे कोई कहाँ तक मरे। नाम धरने वाले तो नाम धरा ही करते हैं, उनका तो पेशा यही होता है, उन्हें कोई न कोई कारन भी सदा मिल जाता है। नाम धरने वालों के पीछे अपनी मट्टी पलीद कराने में कोई सार नहीं। जो लोग मुझे जानते हैं कि मैं कैसा आदमी हूं वह जानते ही हैं और जो मुझे नहीं जानते उनसे मुझे ग़रज़ नहीं। अरे हाँ, ठीक तो है,

अगर लोग मेरे चाल चलन से समझते हैं कि मैं स्वभाव से दग़ाबाज़ आदमी हूं तो ठीक है अपनी माँ के संग भी दग़ा मैं करूंगा। ही, और अगर मैं स्वभाव से दग़ाबाज़ नहीं हूं तो ज़ाहिर बात है कि जो आदमी किसी के संग भी दग़ा नहीं करता वह खुद अपनी माँ के संग दग़ा नहीं करेगा। मेरा चाल-चलन ही सबसे बड़ा गवाह होगा। अब इस दुविधे को खत्म करो और अपने लिए अलग कहीं एक मकान तलाश करो। अलग रहेंगे, आमदनी कम है, नमक रोटी खाकर बसर कर लेंगे, मानसिक शान्ति तो रहेगी, यह रोज़ की किचकिच तो न रहेगी, यह रोज़ की मुंहफुलौवल, यह रोज़ रोज़ का कोप भवन में जाकर बैठना, यह तेरी शिकायत मुझसे और मेरी शिकायत तुमसे—यह सब तो बन्द हो जायगा, इनसे तो नजात मिलेगी। इनसे नजात पाने के लिए मैं कोई भी क़ीमत देने को तैयार हूं, नमक-रोटी प्याज़-रोटी तो बहुत बड़ी नेमत है, वह अगर सदा मिलती रहे तो फिर तो शिकायत के लिए भी गुंजाइश नहीं, नमक-रोटी भी कितनों को मिलती है मियाँ! .....भर पाया यार। दुनिया खामखा संयुक्त परिवार की लाश ढो रही है, संयुक्त परिवार मर गया। इन हालतों में संयुक्त परिवार अब चल नहीं सकता। देखा तो तुमने, कितना संघर्ष मैंने उसके लिए नहीं किया, मगर कोई नतीजा निकला? खाक-पत्थर कुछ नहीं सिवाय बदमज़गी, और भी मन-मुटाव, और भी गंदगी, इतनी कि एक को दूसरे की शकल से नफ़-रत हो जाये, जैसे प्याली में कोई ज़हर घोल जाये। बस यही नतीजा निकला! मगर अब बहुत काफ़ी चख चुका इसके मज़े, अब तो अलग ही अपना घोंसला बनाऊंगा जहाँ सिर्फ तीन लोग होंगे, उषा, मैं और हमारा मुन्ना। तुम्हें पता नहीं, उषा माँ बनने वाली है, अब और तीन ही चार महीने होंगे शायद। हाँ हाँ भाई।....अलग रहेंगे तो कुछ काम भी कर पायेंगे नहीं अभी तो सारी ताक़त और सारा समय झगड़े सुलझाने में ही निकल जाता है।...:..

माँ को जब सत्य के इरादे की खबर लगी तो उन्होंने सर पीट लिया। मामला इतनी तूल खींच जायेगा यह उन्होंने नहीं समझा था। झगड़े के दौरान में वह बातें बहुत कड़वी कड़वी कह देती थीं मगर उस सब का अंजाम यह होगा इसका उन्हें सपने में भी गुमान नहीं था। उन्होंने सदा अपने मैके में और अपने टोले-पड़ोस के घरों में झगड़े होते देखे थे इसलिए अपने घर के इन झगड़ों को भी वह इस नज़र से देखती थीं कि जहाँ चार बर्तन-भांड़े साथ रखे होते हैं वह आपस में टकराते ही हैं। इसमें ऐसी कौन-सी बात है। उन्हें तो अब ज़िन्दगी में कुछ करना नहीं था, बस उमर गुज़ारनी थी, ज़िन्दगी के दिन पूरे करने थे, वह बिना लड़े-झगड़े भी पूरे हो सकते थे और लड़-झगड़ कर भी पूरे हो ही रहे थे और जहाँ कुछ करने को न हो वहाँ थोड़ा सा लड़ना-झगड़ना भी तो एक तरह से ज़रूरी ही हो जाता है! इधर सत्य के सामने पूरी ज़िन्दगी पड़ी हुई थी, उसकी आँखों के सामने कुछ आदर्श थे, कुछ काम थे जिन्हें वह करना चाहता था और इसीलिए, कर न पाने पर खीझ जाता था। दोनों की स्थितियों में ज़मीन-आसमान का अन्तर था, एक के लिए वह किचकिच जीवन की दिनचर्या हो सकती थी जैसी कि करोड़ों औरतों के लिए होती है, दूसरे के लिए वह एक अभिशाप थी जो आदमी को लक़वे की तरह मार जाती है और किसी काम का नहीं रहने देती।

रात के खाने के बाद माँ ने सत्य को अपने कमरे में बुलाया, सत्य जानता था क्या बात होगी। यह भी जानता था कि बात तो उसे करनी ही है। यह भी जानता था कि वह ग़लती पर नहीं है, कोई बुरा फ़ेल उसने नहीं किया है, मगर इस सबके बावजूद अम्माँ के सामने जाने में उसका दिल धड़क रहा था।

माँ की आवाज़ भी खुश्क थी, जैसे गले में शब्द फंस रहे हों।

चेहरे से भी फ़िक्र और परीशानी झलक रही थी, एक अजीब वह-
शत सी।

बैठो। ...यह मैं क्या सुन रही हूं, मुन्नी?

तुमने ठीक ही सुना है। रोज़ रोज़ की दाँताकिलकिल......

तो तुम्हारी डाक्टरी यही कहती है? जो अंग दुखे उसे काट फेंको, क्यों?

अंग काट फेंकना इतना आसान थोड़े ही है।

तुम यह और क्या कर रहे हो?

यह तो फोड़े की सफ़ाई है जिसमें ज़ख्म नासूर न बने।

अम्माँ कुछ बोलीं नहीं। सोचती रहीं।

सत्य ने भी अपने सोच में डूबे हुए कहा—मैंने महीनों इस चीज़ पर गौर किया है अम्माँ। बहुत सोच-विचार कर मैंने यह क़दम उठाने का फ़ैसला किया है, बहुत सोच-विचार कर। इसमें थोड़ा दर्द ज़रूर होता है शुरू शुरू में, काफ़ी दर्द होता है—मगर दूसरा कोई इलाज नहीं है।

कैसे मालूम?

देखता जो हूं।

झगड़े आखिर क्यों होते हैं?

हम दो पीढ़ियों के लोग हैं। और पुरानी पीढ़ी नयी पीढ़ी के लिए जगह बनाने को तैयार नहीं है।

मैं ऐसी कौन सी रुकावट तुम लोगों के रास्ते में डालती हूं, ज़रा मुझे भी तो मालूम हो।

वह फिर हम अपनी पुरानी बहस पर आ गये जो कभी किसी नतीजे पर नहीं पहुंचेगी।

अब तो बतला दो मुन्नी। इसके बाद तो अब पूछने और बताने का मौका नहीं आयेगा ! कहते कहते माँ रो पड़ीं।

सत्य का भी गला कुछ रुंधा रुंधा और सिर भारी भारी सा ही था। माँ के आँसू देखकर उसकी भी आँखें भर आयीं, मगर उसने अम्माँ से ज्यादा खुद अपने आप से बचाकर, कुर्ते की आस्तीन आँख की कोरों में छुआ ली। इस एक मिनट में ही सब कुछ होना है, इस वक्त कमज़ोरी दिखलायी नहीं कि सब कुछ मटियामेट हो जायगा। जी कड़ा करने का वक्त यही है। ढुलमुलाने के लिए कोई जगह नहीं है। अभी दो-एक अच्छी अच्छी बातें हो जायंगी और फिर वही सब कुछ जो इतना ज्यादा पहचाना हुआ और इतना ज्यादा भयानक है, वही आपस की दीवारें, दरारें, खाइयाँ, मनमुटाव, बुग्ज़ के पहाड़, दो आदमियों को जैसे एक दूसरे की शकल से नफ़रत हो जाये। नहीं नहीं संग संग रहने में बात कुछ बनती नहीं बन सकती नहीं, यह क्षणिक कमज़ोरी है इस पर फतेह पानी होगी। ठीक है, अम्माँ का दिल माँ का दिल है जो दुखी है और रो रहा है मगर मुमकिन है इस वक्त का यह रोना आगे चलकर हँसी की शकल ले सके, यानी अगर इस वक्त मैं अपने फैसले पर डटा रहता हूं—और कहीं फिसला तो फिर तो यह रोना, यह अन्दर ही अन्दर सुलगना यों ही चलेगा, ज़िन्दगी भर चलेगा।

सत्य ने आगे बढ़कर माँ को अपनी बाँहों में भरा। अम्माँ और भी फफक फफक कर रोने लगीं, तपते हुए गर्म गर्म सच्चे आँसू जो दुखी दिल के दर्द और बेबसी की कहानी कह रहे थे। माँ चारपाई पर बैठी थीं, सत्य भी उसी चारपाई पर बैठा हुआ था। माँ ने सत्य के सीने से सिर टिका लिया और आँसू ढलकते रहे। सत्य ने जेब से रुमाल निकालकर माँ की आँख से लगाई और बोला—छिः, यह क्या पागलपन

कर रही हो अम्माँ। तुम्हारी अगर ऐसी ही ख्वाहिश है तो मैं नहीं जाऊंगा। लेकिन मैं कहता हूं कि इससे सिवाय भले के, नुक़-सान कोई न होगा। रहूंगा तो मैं शहर में ही, लगभग रोज ही आऊंगा तुम्हें देख जाऊंगा। कभी तुम वहाँ चली आना....सब ठीक हो जायगा.....उस तरह प्रीति बनी रहती है, इस तरह हर वक्त बर्तनों के आपस में टकराने और बजते रहने से दिल फट जाते हैं। अलग रहना किसी खयाल से बुरा नहीं है—अरे जगहंसाई की बात छोड़ो, जग तो हर चीज़ पर हँसता है। आदमी को अपना भला-बुरा अच्छी तरह सोच-विचार कर काम करना चाहिए, दुनिया के हँसने रोने की ज्यादा फ़िक्र नहीं करनी चाहिए। अगर अलग हो जाने से माँ—बेटे का प्रेम-भाव बना रहता है तो बेधड़क वही रास्ता गहना चाहिए।

अम्माँ की समझ में यह बात न आती हो, ऐसा नहीं है। उन्होंने बाल धूप में थोड़े ही न सफ़ेद किये हैं। अपने अनुभव से वह जानती हैं कि इस बात में बहुत सत्य है, खुद भी कई बार इस बात को कह चुकी हैं, मगर जब वही बात अमल का जामा पहनने लगी तो खून पुकार उठा, चीख पड़ा, रो गया।

अम्माँ धीरे धीरे शान्त हो गयीं, आँसू आना बन्द हो गये। सत्य ने जिस तरह बात समझा कर कही थी उससे भी वह आश्वस्त हुईं, अलग होने से सब कुछ खत्म नहीं हो जायेगा, ऐसा उन्हें लगा।

माँ से बात करके सत्य का जी भी हलका हुआ। वह ऊपर से चाहे कितना ही कठोर दिखलायी देने की कोशिश क्यों न करता, उसके दिल पर भी यह बोझ था और ये जो दो बातें साफ़ साफ़ हो गईं इससे सत्य को भी सुख ही पहुंचा—यह सोचकर कि माँ के और उसके बीच की डोर कटेगी नहीं, वह सिर्फ सहूलियत के खयाल से अलग एक

घर में रह रहा है, उसी तरह जैसे एक ही घर में लोग अलग अलग कमरों में रहते हैं। इससे ज्यादा कुछ नहीं। हाँ अब रोज छोटी-छोटी बातों पर लोग मन मैला नहीं करेंगे, एक दूसरे को काट खाने नहीं दौड़ेंगे। ग़रज़ फ़ायदा सब, नुकसान एक नहीं, आना-जाना सब बदस्तूर बना रहेगा, बस एक छोड़ दो घर हो जायंगे अब—और दाँताकिलकिल से बचे सो अलग।

और यह एक अजीब मगर सच बात है कि आज जब सत्य माँ से अलग अपना घर बसाने के फैसले पर पक्की मुहर लगा रहा था, उसे माँ के लिए अपने दिल में सच्ची मुहब्बत का एक ऐसा कंप महसूस हुआ जैसा इधर एक ज़माने से नहीं महसूस हुआ था। सत्य के लिए यह एक नयी ही अनुभूति थी—बहुत पुरानी और बहुत ही नई।

उषा भी अपनी, बिलकुल अपनी, सोलहो आने अपनी नई गिरस्ती बनाने के खयाल से मन ही मन खुश तो थी मगर उदास भी थी। उसे बराबर यह खयाल बिच्छू की तरह डंक मारता था कि माँ बेटे को अलग करनेवाली वही है, न वह इस घर में आती न यह नौबत आती। पागल लड़की, खामखा अपने सर पर धूल उछाल रही है: वह न होती तो कोई दूसरी नयी रोशनी की लड़की इस घर में आती और उसके संग भी वही सब होता जो उषा के संग हुआ। यहाँ व्यक्तियों की तो बात ही नहीं है यह तो दो युगों दो दुनियाओं की टकराहट है। इसको बेचारी उषा क्या कर लेती और माँ भी क्या कर सकती हैं? बहरहाल बोझ उषा के मन पर भी था और अच्छा खासा बोझ। सत्य ने माँ के सङ्ग अपनी बातचीत का खुलासा सुनाया तो उसको भी चैन आया। बार बार उसके दिमाग़ में यही एक जुमला कौंध रहा था—ब्लड इज़ थिकर दैन वाटर.... और उषा को यह भला मालूम हुआ।

१८

सत्य को नये बैरहने में प्रफुल्लबाबू के घर के पास ही एक छोटा-सा मकान तीस रुपए किराये पर मिल गया। सच पूछिए तो मकान उसकी बिसात के बाहर था। डेढ़ सौ पाने वाला आदमी क़ायदे से तीस रुपए के मकान में नहीं रह सकता, मगर क़ायदे रहे कहाँ, क़ायदे तो सब बेक़ायदा हो गये न? और कैसे न हो मकानों की समस्या जब हलों के फाल नपुंसक हो गये हैं और धरती बाँझ, जब ज़मीन भूख उगलने लगी है! गाँव उजड़ रहे हैं—और शहर बस रहे हैं, इसलिए नहीं कि शहर में हुन बरसता है, बल्कि एक तो इसलिए कि आदमी कहीं से भागकर कहीं को जाता है, दूसरे इसलिए कि शहर की दुनिया ज्यादा बड़ी है। आदमी वहाँ भी भूखों मरता है मगर मरने के पहले बीसों दरवाजे तो खटखटा लेता है। गाँव में इसकी भी सुविधा नहीं! शहर में बीसों काम होते हैं, एक में नहीं तो दूसरे में, कहीं न कहीं पैर टिकाने को ज़मीन मिल ही जायगी और दूसरा चाहिए भी क्या! आदमी पूर्व जनम में पाप करता है इसीलिए तो बार बार जनम लेता है और चौरासी लाख योनियों में चक्कर खाता फिरता है! और जनम लिया, मनुष्य का शरीर पाया इसका मतलब ही है भूख-प्यास रोग-सोक सब कुछ सहना पड़ेगा। इनसे छुटकारा पाना ही तो मुकती है। मुकती सबको थोड़े ही मिलती है। उसके लिए बड़ा जप-तप करना पड़ता है। मुकती साधू-सन्यासियों को मिलती है, जो इस

दुनिया की सारी मोह-ममता छोड़कर जंगल में धूनी रमाते हैं। क्या कभी ऐसा भी दिन आयेगा जब इस दुनिया में रोग-सोक, भूख-प्यास नहीं होगी ? शायद नहीं। जिस दिन दुनिया में रोग-सोक भूख-प्यास न रहेगी उस दिन यह दुनिया सरग हो जायगी। मगर ऐसा कभी हुआ है ? चलो अभी तो रोटी की तलाश में चलो, यहाँ तो भूखों मरना है और अंधेरी कोठरी में पेट दबाकर ठिठुरते हुए पड़े रहना है, शहर में राशन तो मिलेगा, किरासन तो मिलेगा और फिर अद्धा भी तो मिलेगा। बेटा, अगर अद्धे का चस्का लगा तो कल के मरते आज ही टें बोल जाओगे ! मेरी बला से और तेरी बला से, साले, क्या झूठमूठ की हाय हाय लगा रक्खी है ! ....ज़माने के इसी रौ में, भूख और बदहाली के इसी बहाव में पड़कर गाँव वीरान हो रहे हैं और शहर आबाद हो रहे हैं, मकानों का मसला पेचीदा होता जा रहा है। बहरहाल सत्य को तीस रुपए किराए का मकान नये बैरहने में मिल गया। छोटी सी काटेज थी, किसी बंगाली की जो अब कलकत्ते रहता था।

सत्य, तुमने बहुत अच्छा किया जो अलग घर ले लिया।

अच्छा तो क्या प्रफुल्लदा, अगत्या ऐसा करना पड़ा।

यही तो मेरा भी मतलब है, दूसरी गति नहीं रहने पर तुमने यह क़दम उठाने का साहस तो किया, सौ में पंचानबे लोग तो इतने पर भी घिसटते रहते हैं। वह घुटन उनका सारा रस चूस लेती है। तब भी....

पक्का धागा भी तोड़ने के लिए झटका देना पड़ता है न ! उसी झटके से दुनिया डरती है। पर मैंने कहा—अब बस, बहुत हो चुका अब इस तरह नहीं चल सकता। जीवन बड़ी पवित्र चीज़ है, उसे रोज़ रोज़ की इन टुच्ची तकरारों और मनमुटावों के पीछे बरबाद नहीं

किया जा सकता—कहे दुनिया जो कुछ उसे कहना है। हर बात में दुनिया का मुंह जोहना भी ठीक नहीं मालूम होता, क्योंकि बहुत बार तो यही पता नहीं चलता कि तुम किस दुनिया से तसदीक़ कराना चाहते हो, नई दुनिया से या पुरानी दुनिया से! इसलिए सबसे सही कंपास यह है कि जो इन्सान को खुद सही जान पड़े उस पर अमल करे, दुनिया को उस पर तसदीक की मुहर लगानी होगी लगायेगी, भौंकना होगा भौंकेगी।

प्रफुल्लबाबू ने मज़बूती से सत्य का हाथ पकड़ते हुए कहा—बिलकुल ठीक बात। तुम्हें पता नहीं, मैं भी इसी तरह अपने घर वालों से अलग हुआ था और मुझे इसके लिए कोई अफ़सोस नहीं है।

थोड़ा दर्द तो मुझे होता है, मगर अफ़सोस नहीं। मेरा यह क़दम desperate ज़रूर था, भले वह ख़याल महीनों से मेरे दिमाग़ में चल रहा हो। मगर दूसरा कोई चारा नहीं था। मेरे दिल की आवाज़ तो यही कहती है।

प्रफुल्लबाबू हँसे। बोले—तुम बड़े पागल आदमी हो सत्य, लगता है तुम्हारे अन्तःकरण की आवाज़ धीमी है। तुमने बिलकुल सही क़दम उठाया है और अब अकारण घुलो मत।

बात ख़त्म करके प्रफुल्लबाबू मुसकराये। सत्य ने खोखली सी हँसी से प्रफुल्लबाबू की बात का जवाब दिया और कहा—कहाँ? मैं तो बहुत सोचता भी नहीं उस बात पर अब।

जितना सोच रहे हो अब उतना भी सोचने की ज़रूरत नहीं है। यह नहीं कि स्वाभाविक नहीं है यह बात। भावुक आदमी हो। बुरा लगेगा ही। अपनी बार मुझे भी बुरा लगा था। बहुत बुरा। जब शरीर का जीवित माँस काटकर अलग किया जा रहा हो तब दर्द तो होगा

ही। लेकिन मैं जो तुम्हें इस चीज़ पर दिमाग़ खपाने से रोकता हूँ वह इसलिए कि मैं अपने तजर्बे से जानता हूँ कि इस चीज़ का कोई अन्त नहीं है। फ़िज़ूल यह चीज़ तुम्हें सालती रहेगी, दुःख देती रहेगी। उसमें कुछ रक्खा नहीं है। Decision taken. Issue clinched. File. अब खत्म करो इसको। तुमने बड़े साहस का क़दम उठाया है। अगर कहीं सभी युवक ऐसा कर सकते! तो बहुत सी यह गन्दगी तो आप से आप साफ़ हो जाती.....

प्रफुल्लबाबू उठे और मज़बूत प्यार भरे हाथों से उसे झकझोरते हुए बोले—अच्छा मैं अब चलता हूँ। तुम अपना घर जमाओ, एकदम धूल में भरे खड़े हो और मुझे देखो, मुझे भी यही वक्त मिला आकर तुमको लेक्चर झाड़ने का।

सत्य जवाब में कहना चाहता था—आपने इस वक्त मुझे कितनी ताक़त पहुँचायी है इसे आप भला कैसे जान सकते हैं!

प्रफुल्लबाबू ने अपनी बात के रौ में उसे बोलने का मौका थोड़े ही दिया। नाक पर चश्मा ठीक करते हुए कहा—और हाँ वह खास बात तो भूला ही जा रहा था, जिसके लिए ही मैं आया था। अभी तुम्हारे पास खाट-वाट की शायद कमी हो और कंबल-वंबल की अगर दरकार हो तो आकर ले लेना, संकोच मत करना, वह भी तुम्हारा ही घर है। यहाँ तो तुम्हारी गिरस्ती ज़रा जमते जमते ही जमेगी न! अभी तो फरवरी है। जाड़ा अभी गया कहाँ, कहते हुए प्रफुल्लबाबू निकल गये, जैसे ताज़ी हवा का एक झोंका पूरब से आया और सबको ज़िन्दगी देता हुआ पच्छिम को निकल गया।

उस दिन सत्य ने अपनी डायरी में लिखा—कैसा खरा इन्सान है यह! और कैसा जोश—अच्छे अच्छे जवान इनके आगे पानी भरें! सचमुच प्रफुल्लदा जैसा कोई नहीं। पता नहीं उन्हें कैसे पता

चल जाता है कि कब किसे उनकी जरूरत है। छिपाने की इसमें कौन सी बात है? मुझे आज उनकी जरूरत थी और वह ठीक समय पर आ गये उसी चीज़ का खज़ाना लेकर जिसकी मुझे ज़रूरत थी—आत्मविश्वास

सत्य का सोचना बिलकुल ठीक निकला। यह अलग मकान लेकर रहना उसके और अम्माँ के आपसी संबन्धों के लिए वाक़ई बहुत बड़ा मरहम साबित हुआ। अलग होने के तीन चार दिन ही बाद जब वह पहिली बार अम्माँ के पास गया और फिर लगातार दो तीन रोज़ तक गया तो उसने महसूस किया कि बात बिलकुल बदल गई है। अब न कहीं वह खीझ है न घुटन। वह तमाम मुँहफुलौवल और बुग़ज़ सब की जैसे ज़मीन ही नीच से कट गयी हो। अब रगड़ खाने का मौका नहीं था। हाँ एक तरह का तकल्लुफ़ उसे ज़रूर माँ के बर्ताव में मिला जो पहिली बार तो उसे बुरा मालूम हुआ मगर जल्दी ही उसकी समझ में आ गया कि इस स्थिति में वह तकल्लुफ अपनी जगह पर बिलकुल स्वाभाविक है और फिर माँ और बेटे के बीच में ही सही, तकल्लुफ कोई ऐसी बुरी चीज़ भी तो नहीं। अगर तकल्लुफ न होने का मतलब यह है कि दोनों तरफ से एक से एक बेहिस और बेदर्द, फटी फटी, लगने वाली बातें कही जायं तो अच्छा है कि बातचीत में थोड़ा तकल्लुफ रहे। शायद इन्सान के सभी समाजी रिश्तों में, दाल में नमक की तरह थोड़ा तकल्लुफ़ ज़रूरी होता है, पति-पत्नी में, बाप-बेटे में, भाई-बहन में—बस थोड़ा सा तकल्लुफ़ यानी दूसरे व्यक्ति की भावनाओं का आदर, उसके व्यक्तित्व की इज्ज़त। लेकिन बस इतना ही, इससे ज्यादा नहीं। ज्यादा नमक से तो दाल चौपट हो जाती है।

उस दिन जब सत्य और उषा पहुंचे तो माँ ने सबसे पहिले उषा से उसकी तबीयत का हाल पूछा, गो साथ रहने के इतने महीनों में उन्होंने कभी इसकी जरूरत नहीं समझी। इतना ही नहीं, खुद अपने हाथों से उन्होंने हलुआ बनाया और पीछे पड़ पड़ कर दोनों को खिलाया। सभी को अच्छा मालूम हुआ, जाड़े में अंगीठी तापने की तरह। माँ को खिलाने में रस आया और उषा और सत्य को खाने में। आखिर दिली ख्वाहिश तो सबकी यही थी कि रोज़ रोज के रगड़ खाने और छिलने से जो घाव हो गया है, वह पुर जाय और उसकी जगह नई खाल आ जाय। मगर साथ साथ रहते हुए यह भला मुमकिन कैसे था। अभी घाव पर पपड़ी ठीक से पड़ने भी नहीं पाती थी कि फिर कोई ठेस लग जाती और छिला हुआ, खून की तरह सुर्ख, कच्चा ज़ख्म सामने आ जाता। अब अलग रहते हुए यह चीज़ मुमकिन हो गयी थी।

अपने घर लौटकर सत्य ने उषा से कहा: देखा तुमने अम्माँ में कैसी कायापलट हो गई? यह सब हम लोगों के अलग रहने का नतीजा है। साथ रहते तो एक दूसरे का मुंह नोचते, अब अलग अलग हैं तो खुश हैं। तुम खामखा डर रही थीं कि यह हो जायगा वह हो जायगा, लोग क्या कहेंगे, तुम अपनी माँ के बेटे हो, तुम्हारी माँ बुड्ढी है, उनकी इस उम्र में तुम्हारा ऐसा करना तुम्हारी बड़ी बदसलूकी होगी, मैं ही सारी मुसीबत की जड़ हूँ, सो मैं ही अलग हुई जाती हूँ, वग़ैरह वग़ैरह न जानें क्या क्या वाही-तबाही की बातें तुम कहती थीं। फ़िज़ूल थी न तुम्हारी परीशानी? कहीं कुछ नहीं हुआ। सब ठीक है। तब लोगों का बिगड़ा हुआ मुँह ठीक करना पड़ता था अब हलुआ खाने को मिलता है!

हलुआ तो ठीक है, मगर दुनिया क्या कहती है यह न तो तुम सुनने गये न मैं सुनने गई।

दुनिया कहीं कुछ नहीं कहती। दुनिया उन्हीं को कहती है जो उसकी सुनते हैं। अगर इधर हम लोग और उधर माँ खुश हैं तो चूल्हे भाड़ में जाने दो दुनिया को। जिसे हम दुनिया कहकर जानते हैं, उससे बड़ा इडियट कोई नहीं। लोगों ने खमिखा उसको इतना ज्यादा सर चढ़ा रक्खा है। बोरसी की आग की तरह हम जनम भर भीतर ही भीतर सुलगा करते—सिर्फ इसलिए कि दुनिया कुछ न कहे! हुँ! औंधी खोपड़ी! खुदा ग़ारत करे ऐसी दुनिया को। मैं जानता हूं कि सौ में नब्बे लोग यही ज़रा सी हिम्मत न होने के कारण ज़िन्दगी भर रोते रहते हैं, बिसूरते रहते हैं, जैसे खुद अपनी लाश घसीटते रहते हैं मगर बस यह एक हिम्मत का क़दम उनके उठाये नहीं उठता। उसकी धीमी धीमी आँच में भुनकर वह आदमी रह भी तो नहीं जाते, सीख़कबाब हो जाते हैं सीखकबाब!

इसके बाद थोड़ी देर खामोशी रही। फिर बात का रुख पलटा। उषा ने लजाते हुए, दूसरी ओर को देखते हुए कहा—उसके बारे में भी कुछ सोचा है? अब ज्यादा दिन नहीं है। यही महीना डेढ़ महीना और है।

सत्य ने प्यार में भीगे हुए, भोले, मीठे शब्दों में कहा—उसमें सोचना क्या है पागल?

उषा ने और भी अछूते भोलेपन से कहा—वाह रे उसमें सोचने की कोई बात ही नहीं?

सचमुच यह सत्य कैसा औघड़ आदमी है: उषा माँ बनने जा रही है, हाँ माँ बनने जा रही है, और वह कहता है कि इसमें सोचने की कोई बात ही नहीं! बड़े आये!

उषा के इसी कुँआरे फूल जैसे भोलेपन ने सत्य को और उकसाया कि वह उसे छेड़े। बोला—सोचने की कोई वैसी खास बात न सही मगर कुछ तो है ही, कुछ क्या बहुत कुछ। खैर मैंने सोचा है।...

फिर सत्य जानबूझकर तीस चालीस सेकेन्ड के लिए चुप हो गया, जिसमें उषा अदबदाकर पूछे—'क्या ?' वही हुआ। उषा ने पूछा—'क्या ?' सत्य ने बड़े गम्भीर अन्वेषण की मुद्रा में मुंह बनाकर कहा—तुम यहीं हैमिल्टन रोड चली जाना।

उषा ने घबराकर कहा—'कहाँ ? घर ?' जैसे साँप पर उसका पैर पड़ गया हो या किसी ने सातवीं मंज़िल से उसे नीचे ढकेल दिया हो।

सत्य ने उषा की घबराहट और परीशानी का मज़ा लेते हुए कहा—क्यों ? कोई बुराई है उसमें ?

उषा ने कहा—कितने बुरे हो तुम ! तुम्हें लाज भी नहीं आती ऐसी बात कहते !

सत्य—इसमें बुरा क्या है ? बच्चा होना बुरी बात है ? तुम भी तो पैदा ही हुई होगी, आखिर कोई आसमान से फट तो पड़ी नहीं होगी।

उषा—उससे क्या ? जिस घर में मैं पैदा हुई अब वहीं मैं इस हालत में जाऊँ ? न बाबा, मैं मर जाऊँगी मगर अपने घर न जाऊँगी। अम्माँ को तो छोड़ो मगर बाबू जी के सामने यह पेट लेकर मैं भला कैसे जाऊँगी !

तब तक दरवाज़े पर आवाज़ सुनायी दी—सत्य....सत्य...

सत्य ने बाहर जाकर देखा तो उषा के पिता जी खड़े थे। बोले—मैं तुम्हारा इन्तज़ार करता रहा। मगर तुम लोग आये नहीं। फिर

मेरा जी नहीं माना तो मैं चल पड़ा। थोड़ा भटकना जरूर पड़ा।

सत्य के पास अभी न तो बैठने का कमरा था न कुर्सियाँ। अजब कुछ परीशान सा खड़ा था। उससे भी उषा के पिता जी ने ही उसका उद्धार किया। बोले—घर तो तुम्हें अच्छा मिल गया है। है तो छोटा मगर आरामदेह, धूप भी बरामदे में बड़ी अच्छी आती है। मकान बना बहुत क़ायदे से है। जगह भी अच्छी है, सड़क से हटकर, इक्का-गाड़ी का डर नहीं। बालबच्चों वाले घर में इस बात का भी बहुत खयाल रखना पड़ता है, कहते कहते वह अन्दर दाखिल हो गये। दूसरे ही कमरे में उषा मिली। पिता जी ने उसे बाँहों में लेकर सीने से लगाते हुए कहा—तू यहाँ कैसी खड़ी है उषी? तूने घर तो अच्छा खासा पा लिया। तुमने बहुत अच्छा किया सत्य जो यहाँ रहने चले आये। मन न मेल खाता हो तो साथ साथ रहने से बड़ी सज़ा नहीं, ज़िन्दगी पहाड़ हो जाती है।......उषी, आज-कल तुझे मेहनत थोड़ी कम करनी चाहिए। दो चार महीने को घर क्यों नहीं आ जाती? .....नहीं नहीं, सत्यबाबू को भी खाने पीने की कोई तकलीफ़ नहीं होगी, उधर ही से खाते हुए अपने दफ्तर चले जाया करेंगे। तुम दोनों वहीं रहो तो फिर कहना ही क्या, पहाड़ जैसा घर पड़ा है, कोई रहने वाला नहीं।...तुमने मुझको उजाड़ दिया सत्य......

मगर इसके पहले कि सत्य, बात को समझे और कोई जवाब दे, पिता जी ने कहा—ज़िन्दगी बरक़रार रहे इसके लिए यह उजड़ना भी ज़रूरी है, कुछ उजड़े न तो नया कुछ बसे न, मैं इस बात को जानता हूँ। मगर फिर भी कहता हूं, कि तुमने मुझसे उषी को छीनकर मुझ पर बड़ा जुल्म किया। उषी मेरी लड़की ही न थी, उषी मेरी प्रेयसी थी

और हूँ, कहकर पिता जी ने और भी ज़ोर से उषी को अपने सीने से लगाया।

उषी भी पिता जी की बाँहों में और सिमट गई। उस क्षण घने सुख और प्यार से उसकी आँखें गीली हो गईं।

१६

आगे चलकर कोई गड़बड़ी न हो, इसलिए उषा हर हफ़्ते अपने आप को दिखाने कमला नेहरू अस्पताल में जाती थी। अकसर इंतज़ार करना पड़ता—नम्बरवार ही बुलावा आता।

उषा बैठी बुनाई कर रही थी। उसके पास ही में एक काफी ऊँची-पूरी, गोरी-चिट्टी पंजाबी स्त्री बैठी हुई थी। उषा अकसर उसे देखती थी। मगर उनमें परिचय नहीं था आपस में। परिचय की इच्छा दोनों ओर थी, मगर पहल कोई नहीं करता था। आखिरकार उस पंजाबी स्त्री ने ही पहल की : डाक्टरनी कोई खराबी तो नहीं बतलातीं भैनजी!

इस चीज़ के बारे में बात करना उषी के नज़दीक ऐन बेशर्मी थी, और सो भी एक अनजान स्त्री से। यह एक ही रही, जान न पहचान बड़ी बीबी सलाम। खैर, वह जो भी हो, जवाब तो बहरसूरत देना ही था। उषा ने सिर हिला कर बतला दिया—जी नहीं, कोई ख़राबी नहीं है।

उस स्त्री ने पूछा—अब दिन भी तो पूरे होने आते होंगे आपके?

उषी ने अपने मन में कहा—भगवान बचाये इन पंजाबी औरतों से। खुद जैसा बेशरम होती हैं वैसी ही सबको समझती हैं। क्या बात पूछने की है और क्या बात नहीं, इस सबका कुछ विचार उनको नहीं होता। अब इसी सवाल को देखो न! अब मैं इनको बतलाऊँ कि अभी मेरा सातवाँ महीना चल रहा है!

उषा ने फिर सिर हिला दिया। मतलब था : नहीं, अभी नहीं।

उसका सातवाँ महीना चल रहा है कि चौदहवाँ यह सब कुछ भी बतलाने की जरूरत उषा ने नहीं समझी !

उधर वह पंजाबिन परीशान थी कि आखिर माजरा क्या है, वह मुँह क्यों नहीं खोलती ? लगता है यह अभी इसका पहला बच्चा है, इसीलिए इतना लजाती है। एक ही बच्चे के बाद सब लाज-शरम हवा हो जाती है। मुझी को देखो न। पहली बार मैं भी कितना शरमाती थी।

बोली—यह आपका पहला ही बच्चा है न ?

इस बार उषा ने धीमे से कहा—हाँ।

पंजाबिन हँसी : बड़ी सरल निष्कपट हँसी थी। उषा को अच्छी लगी। इसी से, बोलने की भी थोड़ी हिम्मत उसे हुई। उषा भी मुस-करायी और बोली—आप हँसीं क्यों ?

पंजाबिन ने कहा—भैन जी, हँसी मैं यूं कि आप किसी तर बोलीं तो !

अब की उषा भी हँस दी, और दोनों की जान पहचान हो गई।

तब उस स्त्री ने पूछा—आप कहाँ से आती हैं ?

उषा ने अपने घर का पता उसे बतलाया। इस पर तो वह स्त्री उछल-सी पड़ी और बोली—यह तो ग़ज़ब हो गया भैन जी ! आप तो मेरे बग़ल में रहती हैं। मैं भी वहीं रहती हूं। आपके घर के पास ही जो पानवाला है न, उसके बगल से जो रास्ता दाहिनी तरफ़ को गया है उस पर पहला घर, वह लाल वाला बंगला, मेरा है—आपके यहाँ से मुश्किल से एक मिनट का रास्ता होगा। भैन जी, तो फिर अब किसी रोज़ दर्शन दीजिएगा। आइयेगा न !

उषा ने फिर सिर हिलाकर हामी भरी। इस पर पंजाबिन हँसी और बोली—मैं तो कुर्बान गई आपके इस सिर हिलाने पर! कितना भला मालूम होता है जब आप यों से सिर हिला देती हैं।

पंजाबिन का नाम था दमयन्ती। उसके पति बिशन साहनी खासे बड़े कारोबारी थे, कई चीज़ों का बिज़नेस करते थे, कैनिंग-रोड पर उनकी दूकानें थी, साहनी एन्ड साहनी। पास की ही बिल्डिंग में कोई पचास हज़ार लागत का एक प्रेस भी खोल रक्खा था उन्होंने। जिधर, जिस लाइन में पैसा हो, साहनी साहब उधर उस लाइन मे बढ़ने के लिए हर वक्त तैयार रहते हैं।

अब उस रोज़ जब दोनों उषा के घर पहुंच गये तो बेचारी सख्त मुसीबत में पड़ गयी। कोठरी के बराबर तो वह घर। उसी में, बैठने-उठने के लिए वह नन्हीं सी कोठरी जिसमें दो-चार कुर्सियाँ डाल दी गई थीं ताकि सनद रहे और वक्त ज़रूरत काम आये! वही वक्त ज़रूरत आन पहुंचा था। उस वक्त सत्य तो घर पर था ही नहीं। बेचारी उषा ने, अकेले उषा ने, सब खातिर-तवाज़ो की गो ऐसा करने में उसकी जान पर बन आई क्योंकि एक तो अकेले दूसरे घर में एक नौकर भी नहीं। पहली बार ये लोग उसके यहाँ आये थे। उन्हें कैसे सूखे-साखे लौटा दे? वह तो कहो, घर में नीबू थे वर्ना होती कसकर भद। दमयन्ती ने भी उसे काफ़ी उबार लिया। जैसे ही वह अन्दर जाने को हुई, दमयन्ती भी 'चलो ज़रा तुम्हारा घर देखें' कहकर उसके संग हो ली।

खैर बात बिगड़ने नहीं पाई, जैसे तैसे निभ गया। लेकिन जब वे चले गये तो उषा को बात अखरने लगी। उसने अपने दिल में कहा—

इतनी बेसरोसामानी ठीक नहीं। घर में एकाध नौकर तो होना ही चाहिए......

रात जब सत्य दफ्तर से आया तो खाना पीना खत्म होने पर उषा ने यही बात छेड़ी। सत्य ने कहा—बात तो तुम ठीक कहती हो उषी मगर आजकल नौकर रखना कोई हँसी-खेल नहीं है, पचासे का मामला है और पचास नहीं तो चालीस में तो कोई कसर ही नहीं !

उषा ने कहा—भई, मामला चाहे चालिस का हो चाहे पचास का मगर है जरूरी।

बात जिस तरह उठी थी बहुत कुछ उसी तरह फाइल भी कर दी गई। उषा ने इससे ज्यादा आग्रह नहीं किया।

दमयन्ती उसके घर आई तो उषा का भी हौसला बढ़ा, दमयन्ती के घर जाने के लिए। होली भी पास ही थी। सत्य और उषा ने यही तय किया कि होली मिलने चलेंगे। अपनी वर्तमान स्थिति में उषा को कहीं आना-जाना बहुत अच्छा नहीं लगता था, बड़ी शर्म लगती। लेकिन एक तो दमयन्ती बारबार इतने आग्रह से उसे बुला रही थी दूसरे उषा के मन में दमयन्ती का घर, उसका साज-सामान देखने की उत्कंठा भी थी।

होली के दिन तो खैर जाना हो नहीं सका। सबेरे से होली का हुड़दंग ऐसा रहा कि घर से निकलना ही मुशकिल था। दोपहर बारह बजे के आस-पास रंग-वंग का सिलसिला कुछ कम हुआ तो सबसे पहले अम्माँ के पास जाने का खयाल पैदा हुआ। सत्य और उषा दोनों के जी में। गोकि उषा के लिए यह सोचना ही सोचना था, जा तो सकती नहीं थी। त्योहार के रोज आदमी को अपने घर के लोगों की सबसे ज्यादा तलाश होती है, उस दिन और दिनों से भी कहीं ज्यादा यह

आकांक्षा होती है कि घर के सब लोग इकट्ठा हों और किसी कारण से अगर ऐसा न हो पाये तो बात बहुत खलती है।

यही सोचकर सत्य मुट्ठीगंज पहुंचा। अम्माँ भी जैसे उसकी राह ही देख रही थीं। खिल उठीं। उन्होंने अपने हाथ से त्योहार का खाना बनाया था।

सत्य ने सबसे पहले अम्माँ के संग होली खेली। थोड़ी अबीर लेकर माँ के पैर छुए। अम्माँ ने उसे उठाकर छाती से लगाते हुए आशीर्वाद दिया। उनकी आँखें छलछला आईं।

फिर सत्य ने अपने बड़े भाई के टीका लगाया और गले मिला। फिर अम्माँ ने खुद ही परोस-परोस कर खिलाया। होली सार्थक हो गई थी, सत्य को भी बहुत भला मालूम हो रहा था। और क्यों न होता? माँ बेटे के बीच अगर कोई दीवार न खड़ी हो तो किसी भी उम्र में माँ को बेटे से और बेटे को माँ से मिलकर जो सुख होता है वह और किसी से मिलकर नहीं होता। हाँ दीवार खड़ी हो जाय तो उसकी बात अलग है। तब तो सचमुच एक दूसरे की शकल से नफ़रत हो जाती है। और सत्य इस बात को अच्छी तरह जानता है कि अगर वह माँ के संग रहा आता तो सचमुच यही नौबत आ जाती और शायद आज होली के रोज़ भी लोग नाराज़ और खिन्न होकर एक कोने में पड़े होते और चूल्हा भी ठंडा पड़ा होता। लेकिन अब अलग थे तो सब ठीक था, प्यार भी बना हुआ था।

उषा के पिता जी पास-पड़ोस से होली मिलकर अभी लौटे ही थे जब ये दोनों पहुंचे। गले-वले मिले, पान-इलाइची पास ही रखा हुआ था। पिता जी ने अपने हाथ से सत्य को बीड़ा दिया। फिर सब लोग अन्दर पहुंचे। सत्य ने अब तक अपनी सास का हृदय जीत लिया था। दूसरे अब तो वह नाती खिलाने के सपने देख रही थीं।

उन्होंने सत्य से पूछा—बेटा, उषी को हर हफ्ते डाक्टर के पास ले जाते हो न? सत्य ने कहा—हाँ, हर हफ्ते वह कमला नेहरू अस्पताल जाती है। वह डाक्टरनी बड़ी अच्छी है।

उषा की माँ को और कुछ पूछने की जरूरत न थी। आखिर को उषा उन्हीं की लड़की तो थी, उसके कोई गड़बड़ हो भी कैसे सकती है? उषा की माँ के सात बच्चे हुए और सब अच्छे हट्टे-कट्टे और किसी बार कोई गड़बड़ी नहीं हुई, कभी आपरेशन की जरूरत नहीं हुई। अरे दर्द उठा। दर्द उठते ही अस्पताल चले गये या डाक्टरनी को घर बुला लिया। घंटे भर दर्द रहा, फिर सब मामला साफ़। चाँद सा बच्चा पालने में खेलने लगा!

उषा की माँ ने जिस बात को अनुभवी खिलाड़ी की तरह यों इतनी आसानी से बतला दिया उसके डर के मारे उषा का बुरा हाल था और इस वक्त माँ ने उसकी चर्चा जो छेड़ दी तो बेचारी शर्माकर भाग गई और दूसरे कमरे में अपने छोटे भाई-बहनों के संग बैठी रही।

उषा भी अपनी माँ की बेटी निकली। बिना किसी झंझट के वहीं कमलानेहरू अस्पताल में उसकी डिलिवरी हुई। बड़ा खूबसूरत सा लड़का हुआ, खूब गोरा और नाक-नक्शा भी बहुत ही खूब। सत्य ने एक बार कमरा खाली पाकर उषा को बधाई दी, ऐसे खूबसूरत बच्चे के लिए। उषा ने लजाकर अपनी फांक जैसी आँखें नीची कर लीं और बहुत हलके हाथ से रुमाल आँख में लगाकर हटा ली। सुख का अतिरेक भी आँखों में आँसू लाता है.....उसका बच्चा उसका नौनिहाल उसके रक्त-मांस से तैयार एक जीव पास ही झूले में पड़ा था और उसका पति उसका सुहाग उसकी माँग का सेंदुर उसकी प्यार

और सुख से डबडबाई हुई आँखों की छांव में वहीं बैठा था। उसका परिवार.....अब और क्या चाहिए उसे ?

२०

'अरे, यह दस बजे रात तुम कहाँ से टपक पड़ीं ?' सत्य ने कुछ मुसकराते और कुछ परीशान होते हुए पूछा।

राज ने मुसकराहट का जवाब देते हुए कहा—तो इसमें तुम्हारे घबराने की कौन सी बात है ? आई मैं, हाल बेहाल हुआ जाता है आपका।

लखनऊ से कब आईं ?

कल ही आई थी, डिपार्टमेंट के एक काम से और आज अभी ही वापस जा रही हूं।

अभी ही ? क्या मतलब ? न न, वह न होगा, आज तो तुम्हें अब रुकना होगा।

राज ने रूठने के अंदाज़ में ओंठ निकालते हुए कहा—रहने दीजिए अब प्रीत दिखाने को। फिसल पड़े की हर गंगा। घर में बच्चा हुआ, तीन पैसे का एक कार्ड तक डाला नहीं गया, अब आये हैं प्यार दरसाने।

उषा ने कहा—इन्होंने आपको खबर नहीं दी थी ?

राज ने उंगली से इशारा करते हुए कहा—पूछिए न इन्हीं से, खड़े तो हैं सामने।

सत्य अपराधी की सी मुद्रा में खड़ा था, बोला—तुमने कहा था उषी और मैंने भी सोचा था कि लिखूंगा, फिर पता नहीं क्या हुआ—

राज ने कुछ तो सत्य को परीशान करने और कुछ वाकई अपने दिल का बुग्ज़ निकालने के लिए कहा—मुझसे पूछो न फिर क्या हुआ... फिर तुमने अपने दिल में कहा—अरे छोड़ो भी किस मनहूस औरत का नाम लिया जिसका आना भी असगुन....

तुम अपनी बेहूदगी से बाज़ नहीं आओगी राज ? तुमने यह आते ही कहाँ का पुराण छेड़ दिया ?

'आते ही नहीं छेड़ूंगी तो क्या पचास बरस बाद छेड़ूंगी ! ऐसा चाँद-सा बच्चा घर में हुआ जैसे हज़ारों दिए जगमगा उठे, घर में उजाला हो गया, मगर आपसे क़लम उठाकर चार सतरें न खेंचाते बनीं...तुम्हें तो मुंह खोलने की हिम्मत न होनी चाहिए, बड़ा चबर-चबर बात कर रहे हो !' राज ने बच्चे को झूले में से गोद में उठाते और छाती से लगाते हुए कहा।

सत्य ने बिगड़ी बात बनाने की ग़रज़ से कहा—अच्छा तो अब तुम रुको और मुझे इसका प्रायश्चित करने दो। कल तुम्हारी दावत होगी।

राज ने सुनी को अनसुनी करते हुए और बच्चे के चेहरे का माँ के चेहरे के संग ग़ौर से मिलान करते हुए कहा—बिलकुल माँ पर गया है, आँख नाक मुंह पेशानी सभी कुछ—

सत्य ने कहा—बड़ा भाग्यवान है !

राज क्यों नहीं, उषा का बेटा है न।

थोड़ी देर की खामोशी के बाद राज ने कहा—अच्छा तो अब मैं चलती हूं, मेरी गाड़ी का वक्त हो गया है। दावत अगली बार खाऊँगी।

राज ने प्यार से उषा को सहलाया और बाहर आई। सत्य उसे सवारी तक पहुंचाने के लिए उसके संग संग बाहर आया। राज के संग अकेले पड़ते ही सत्य को बड़ी उलझन महसूस हुई, जैसे किसी ने उसकी जबान पर ताला जड़ दिया हो। उससे कुछ कहते नहीं बना। चुप चुप चलने लगा। खुदा का लाख लाख शुक्र कि रिक्शा जल्दी ही मिल गया।

राज ने मिलाने के लिए हाथ बढ़ाया और उदास सी मुसकराहट के संग कहा—बड़ा खूबसूरत बेटा है तुम्हारा, कैसा प्यारा मुखड़ा है, तुमसे ज्यादा....मेरे आशीर्वाद में कोई शक्ति नहीं है सत्य, मैं जानती हूं मगर फिर भी मेरे दिल से यही एक आवाज निकल रही है: तुम्हारा सुख अमर हो तुम्हारा सुख अमर हो,....मगर वह शायद झूठ है, अमर तो केवल दुःख होता है.....

फिर बड़ी ही भोली जिज्ञासा के स्वर में राज ने पूछा—बच्चे से घर में बड़ा उजियाला हो जाता है न!

सत्य का जी मसोस उठा। उसने लैंपपोस्ट की रोशनी में राज के चेहरे को आँख भरकर देखा—यह ललक, यह उमंग, यह भूख! मगर राज किशोरी तो नहीं जिसने केवल चौदह बसंत देखे हैं, राज ने इकतीस पतझर देखे हैं, इकती SSS स.....पतझर.....मिट्टी की प्रतिमा उदासिनी—

उसने कहा—राज, तुम्हें देर हो रही है।

राज ने कहा—हाँ।

रिक्शा मुड़ा और चलता चला गया दूर दूर दूर अंधेरे में और फिर बायें को मुड़ा और आँख से ओझल हो गया।

खूब मस्त चाँदनी छिटकी हुई थी। गेहूँ और जौ और मटर और ईख के खेत तैयार या क़रीब क़रीब तैयार खड़े थे और उनका गहरा हरा रंग चाँदनी में काला काला दिखलाई देता था। चैत की ठंडी ठंडी, पागल कर देने वाली हवा, चाँदनी में नहाई हुई हवा उसी चांदनी के पंखों पर सवार सेकेन्ड क्लास के उस एकाकी डिब्बे में भी आ रही थी जिसमें राज चली जा रही थी। लेटती, फिर उठ बैठती, शिक्षण पद्धति पर कोई किताब खोल लेती, फिर बाहर मीलों तक फैले हुए चाँदनी के उस निस्तब्ध कुहासे को देखने लगती, फिर लेट जाती, फिर उठ बैठती....डिब्बे में भी वह बिलकुल अकेली थी, किसी से बात करने का भी सहारा नहीं था। यह निगोड़ी चाँदनी और यह बेहया चैती बयार—किसी को उघाड़े बिना नहीं छोड़ते!

रीती बाँहें, सूनी गोद, बियाबान दिल, वीरान उमंगें—खाली नहीं तो बस एक चीज़, दिमाग़, रेंगते हुए किलबिल करते हुए कचोटते हुए ख़यालात की एक भीड़....मेरा घर कहाँ है? मेरा घर कहाँ है? क्यों नहीं है? मैंने कौन सा गुनाह किया था? पूर्व जन्म? सारा पूर्वजन्म मेरे लिए ही है? मैं ही सबसे बड़ी पापिन हूँ? कैसा प्यारा बच्चा है उषा का और सत्य का, अरुण। नाम भी कैसा अच्छा है। अरुण उषा की गोद में ही तो खेलता है! मेरा अरुण कहाँ है? मैं भी तो जवान हूँ मैं भी तो भूखी हूँ मैं भी तो .....मेरी कोख को जलाया किसने? मैंने बहुत सहा, अब न सहूँगी। मैं कुछ नहीं जानती। यह कोई न्याय नहीं है। क्यों सहूँ मैं? समाज। समाज? बस सताने के लिए है समाज? अभी कहाँ मर गया है समाज? मैं ठोकर मारती हूँ ऐसे समाज को....

अनजान में ही, राज का पैर सचमुच उठ गया और सामने की सीट से जा टकराया। हलकी सी चोट लगी।

....हाँ मैं ठोकर मारती हूँ ऐसे समाज को। समाज बदला लेगा ? ले। बहुत करेगा फांसी ही तो लटका देगा, अभी ही कौन बड़ा मोती रोले दे रहा है।....नहीं राज, फांसी नहीं लटकायेगा, चौराहे पर खड़ा करके थूकेगा तुम्हारे मुँह पर, तुम्हें बछियाँ मारेगा और बछियों से ज्यादा भयानक चीज़ पिनें चुभोयेगा। उंह वह भी एक बार हो ले। जिसे करना होता है वह कर गुज़रता है, पिन चुभोने वाले पिन चुभोते ही रह जाते हैं। इसी पद्‌मा ने जब लतीफ से शादी की थी, कितना वावेला मचा था ! जिसके जो मुँह में आया, क्या नहीं कहा लोगों ने। वह जब किसी पार्टी में आती औरतों की टोलियों में फुसुर फुसुर शुरू हो जाती..मगर साल ही भर में सब ठंडा पड़ गया। अब मज़े में रहती है अपने आदमी को लेकर। अभी पिछले महीने ही तो उसके भी लड़का हुआ है...

राज को रिक्शे पर चढ़ाकर सत्य लौटा तो गहरे सोच में डूबा हुआ था। उषा बिस्तर पर लेट चुकी थी। उषा ने कहा—आओ। सत्य बिना कुछ बोले आकर लेट गया। उषा ने उसके बालों से खेलते हुए कहा—कैसी प्यारी चाँदनी छिटकी हुई है। मन करता है उसे उठाकर खा जायँ।

सत्य ने अपने खयाल में डूबे डूबे कहा—हाँ।

उषा की कोशिश बेकार गई। सत्य के जवाब से उसका मन भी नहीं भरा। उसने दुलराते हुए कहा—मेरी तरफ मुंह तो करो, उधर छत को क्या देख रहे हो !

सत्य उसकी ओर मुंह करके लेट गया। उसने उषा के प्यार में नहाए हुए, ताज़े, खिले फूल जैसे चेहरे को देखा, आँखों ही आँखों

से जैसे पिया और अपने मन में कहा—प्यार ही असली चीज़ है। वह भी एक तरह की चाँदनी है जो फैल जाती है तो दुनिया का रूप सँवर जाता है। सारी खूबसूरती की रगों में दौड़ने वाला खून वह प्यार ही है और इसी के न रहने पर हसीन से हसीन चेहरा भी गर्मी की सूखी हुई तलैया जैसा हो जाता है, खबीस, भूखा, मुर्दा, छाती प्यास से दरकी हुई। इस खयाल के साथ ही राज का चेहरा एकदम जीता जागता उसकी आँखों के आगे आ खड़ा हुआ।

सत्य धीरे से चौंक गया। उषा की उंगलियाँ उसके बालों में चल रही थीं, वैसे ही शान्त पर उद्ग्रीव प्यार से। सत्य ने उषा का सिर अपने हाथों में लेकर उसकी आँखों को और फिर होंठों को चूम लिया और कहा—राज बड़ी दुखी है।

उषा ने कुछ नहीं कहा।

स्वेच्छा से वरण किये गये दुख से विवेक जागता है और परवश दुःख से मर जाता है। राज अब उस जगह पर खड़ी है जहाँ उसका भटक जाना ही स्वाभाविक होगा। और इसमें उसका कोई दोष नहीं होगा। राज के कगार ढह रहे हैं। आज मैंने उसकी आँखों में देखा और उसकी ठुड्डी में। मुझे डर लगता है उषा।

उषा ने फिर कुछ नहीं कहा। उसने और जोर से सत्य को अपनी बाँहों में कसकर छाती से लगा लिया। पन्द्रह दिन का अरुण झूले में पड़ा खर्राटे भर रहा था।

गर्मी आ तो गई है, मगर अभी ठीक से नहीं आई है, जैसे ठिठकी हुई देहलीज़ पर खड़ी हो। अप्रैल का यह दूसरा हफ़्ता चल रहा है। सुबह-शाम हवा में अभी गर्मी नहीं आई है, अभी वह जिस्म को छूती है तो कुछ गुदगुदी मालूम होती है।

बिशन साहनी के घर का कम्पाउन्ड काफ़ी बड़ा है। घर के सामने ही अच्छी सी लॉन, जिसके सूखने के दिन महीने भर बाद आयेंगे। अभी तो हरी हरी लॉन बिछी हुई है। लॉन पर बेंत की पाँच छः कुर्सियाँ पड़ी हुई हैं, बीच में एक चाय की मेज़ भी रखी हुई है। सत्य और उषा, दमयन्ती और बिशन साहनी बैठे हुए हैं। साहनी साहब का लड़का अजीत जो तीन साल का है पास में अपने बड़े से लकड़ी के घोड़े की पीठ पर सवार है। चाय और बातचीत का दौर चल रहा है। सत्य का नन्हाँ बेटा अरुण वहीं एक कुर्सी पर सो रहा है।

दमयन्ती ने अपने मधुर कंठ से आवाज़ लगायी—बैरा...

बैरा 'आया मेमसाहब,' कहता हुआ हाज़िर हुआ।

दमयन्ती ने कहा—चाय रक्खी रक्खी ख़राब हुई जा रही है (सत्य और उषा ने एक दूसरे को देखा और जैसे आँखों आँखों में ही बात हो गयी : अभी पाँच मिनट भी तो हुआ न होगा इसको आये) और खाने के लिए किसी चीज़ का पता ही नहीं—

बैरे ने कहा—'हुजूर, बेसन घोल लिया हैं', और बावर्चीखाने में वापस पहुंचने की जल्दी की।

दमयन्ती ने कहा—नहीं, उसमें देर लग जायगी। पहले अभी थोड़े से सूखे मेवे दे जाओ।

कोई तीन मिनट बाद एक बड़ी सी रकाबी में काफ़ी ढेर से सूखे मेवे आ गये, काजू, किशमिश, अखरोट। एक और रकाबी में थोड़े से, तले हुए नमकीन काजू।

सत्य ने एक नमकीन काजू उठाकर मुंह में रखते और चाय की चुस्की लेते हुए कहा—वाह, क्या फ्लेवर है। आप कौन सी चाय पीते हैं साहनी साहब?

वैभव का सारा मजा दूसरे की प्रशंसा में होता है। साहनी साहब को ऐसी खुशी हुई जैसे इनाम मिला हो। बोले—दार्जिलिंग में ही गार्डेन्स में एक दोस्त है। वही अकसर भेज दिया करते हैं। कभी नहीं भी भेजते, तो मैं तो साहब, लॉपचू के गोल्डेन आरेंज पीको ही को सबसे ज्यादा पसन्द करता हूं।

इतने में पकौड़ियों का दौर शुरू हो गया। प्याज की, आलू की, पूरी पूरी मिर्चों की पकौड़ियां यके बाद दीगरे आने लगीं।

अजीत इत्मीनान से खेल रहा था—कभी अपने काठ के घोड़े को दौड़ाता और कभी खुद काठ का घोड़ा बनकर दौड़ लगाता।

इधर चाय के संग दुनियां-जहान की बातें हो गईं। सारा काम यंत्रचालित सा होता रहा: गृहलक्ष्मी दमयन्ती को एक बार उठने की भी जरूरत नहीं हुई, एक केतली के बाद दूसरी केतली चाय, एक पकौड़ी के बाद दूसरी पकौड़ी। चाय चलती रही, बात चलती रही।

जिन्ना, पाकिस्तान, माउंटबैटेन योजना, बम्बई के जहाजियों की बगावत, ब्लैकमार्केट, मंहगी, बेकारी, सोवियत रूस, चीन, सिनेमा—सभी पर हलके-फुलके ढंग से रायजनी हुई। बिशन साहनी के किसी भी मसले पर अपने कोई खास विचार नहीं थे। सच बात यह थी कि साहनी साहब को अपने विचार बनाने का अवकाश ही नहीं मिलता था और कुछ खास चाव भी नहीं था। सोलहो आने बिजनेस-मैन थे और अपने बिज़नेस में ही उनके प्राण रमते थे। उसी की गुट्टियाँ लाल करने की फ़िक्र में लगे रहते थे। हाँ, अखबार रोज़ पढ़ते थे, इसलिए जानकारी थोड़ी-बहुत सभी चीजों की थी--वही जो अखबारी बातों को बिना सोचे-समझे हजम करने से मिल जाती है। इससे ज्यादा की जरूरत भी उन्होंने कभी महसूस नहीं की। ठाट से ज़िन्दगी बसर करना ही उनकी जिन्दगी का मक़सद था। उस सिलसिले में जितनी राजनीति आ जाय उतनी राजनीति भी ठीक है, लेकिन उससे ज्यादा नहीं, उसे लेकर माथापच्ची करना बेसूद।

बैठे बैठे डेढ़ घंटा निकल गया। शाम होने आई।

दमयन्ती ने आवाज़ लगायी—आ ऽ या ऽ

अजीत की आया वहीं डार्इंनिया की झाड़ी के पीछे गयी हुई थी, अजीत का गेंद ढूंढ़ने। कान में अपना नाम पड़ा तो 'आई मेम साहब' कहती हुई हाज़िर हुई। जवाब तलब हुआ—कहाँ थीं?

आया ने जवाब दिया—वहीं तो, झाड़ी के पीछे, बाबा की गेंद ढूंढ़ रही थी।

दमयन्ती ने कहा—गेंद बाद में ढूंढ़ना, पहले जाओ हाथ पैर गरम पानी से धुलाकर बाबा के कपड़े बदला दो।

आया अजीत को लेकर चली गई।

तभी अरुण कुनमुनाया और जाग पड़ा और रोने लगा। उषा को मजबूरन उठकर उसे गोद में लेकर टहलाना पड़ा। नागवार तो उसे बहुत मालूम हुई अरुण की इस वक्त की यह पिपिहिरी मगर करती भी क्या। बच्चे ने भी ठीक ही किया—आखिर जब उसकी नींद खुली तो वह मक्कर किये तो पड़ा नहीं रहेगा, अपने अस्तित्व की घोषणा तो करेगा ही करेगा और इससे ज्यादा कुछ कर भी तो नहीं रहा था बेचारा अरुण!

तो उसमें बुरी लगने वाली तो कोई बात न थी, मगर फिर भी बुरी लगी ही, सबसे ज्यादा उषा को। उसने मन ही मन संकल्प किया कि अब मैं घर से बाहर निकलूंगी ही नहीं, इस छीछालेदर से तो बची रहूंगी—

तभी दमयन्ती ने बहुत ऊंचाई पर से नसीहत दी : भैन जी, कोई औरत रख लीजिए न अरुण बाबा के लिए।

घर पहुंचते ही उषा बरस पड़ी—मुझे कहीं आने जाने को न कहा करो।

सत्य बात ठीक से नहीं समझ पाया, बोला—क्यों? क्या हुआ?

उषा ने वैसे ही कसे हुए मृदंग के से स्वर में कहा—मुझे अपनी छीछालेदर नहीं करवानी!

क्या बात है? किसका बच्चा नहीं रोता?

उषा ने कहा—भुगतना तो मुझको पड़ता है।

उषा ने तो मारे खीझ के, बिना उसके सत्यासत्य पर विचार किए यह बात कही थी, मगर बात चाहे जैसे भी कही गई हो, सत्य के घाव कर गयी। सत्य के घाव न भी लगता मगर इस बात से लगा

क्योंकि यह उसका मर्मस्थल था। इसलिए कि सत्य को मन ही मन इस बात का गर्व था कि उषा के संग उसका आचरण वैसा नहीं जैसा कि सौ में निन्यानबे पतियों का होता है यानी यह कि वे बस बच्चा पैदा करने के हक़दार होते हैं, उसके बाद उन्हें बच्चे से ज्यादा कुछ नहीं लेना-देना रहता, वह तो औरत का डिपार्टमेंट है! बापजान तो बस इतने के रवादार हैं कि बच्चा खेल रहा है तो वह भी घड़ी भर उसके संग खेल लिए, गोद में उठा लिया, चूमा-चाटा और जी भर गया तो उठाकर रख दिया, वैसे ही जैसे बच्चा भी कोई मिट्टी का खिलौना हो! सत्य इस बात को बुनियादी तौर पर ग़लत समझता था। उसका पक्का ख़याल था कि जब माँ-बाप दोनों मिलकर बच्चे को दुनिया में लाते हैं तो बच्चे के लालन-पालन की, देखभाल की ज़िम्मेदारी भी समान रूप से दोनों ही पर आयद होती है—उन्निस-बीस की बात और है—लेकिन यह कि बाप जान पल्ला झाड़कर अलग जा खड़े हुए, अब बेचारी औरत ही सब कुछ करे, यह औरत के संग बहुत बड़ा अन्याय है जिसे पुरुष समाज हजारों साल से करता चला आया है, मगर अब इसका अन्त होना चाहिए। ज़िन्दगी की रोकड़-बही में बच्चे को स्त्री के नाम लिख कर छुट्टी पा लेना ग़लत है, सरासर ग़लत, सख़्त बेइंसाफ़ी। यह बिलकुल सामंती ढर्रा है सोचने का कि रसोई और बच्चा (या बच्चे!) बीबी के डिपार्टमेंट की चीज़ है! यह सब बेहूदगी अब नहीं चलेगी। बच्चा मिलकियत तो बापजान की, नाम भी वह रखेगा तो बापजान पर, जाना भी जायगा तो इस तरह कि फलाँ साहब का लड़का है, भगवान न करे अगर मियाँ-बीबी में बिगाड़ हुआ और अलग होने की नौबत आ गयी तो लड़के पर हक़ भी जतलावेंगे मियाँ साहब....लेकिन उसे मांस के एक लोथड़े से एक अच्छा पूरा आदमी बनाने के लिए करेंगे-धरेंगे कुछ नहीं, वह

औरत का डिपार्टमेंट है! बहुत अच्छे! मीठा मीठा गप्प, कड़वा कड़वा थू! सबसे सयाने आप ही तो हैं! बड़े आये! इसीलिए तो नारी जाति कोई तरक्की नहीं कर सकी। पुरुषों ने उसे मौका ही कब दिया? इत्मीनान से उसे एक तो चौका थमा दिया, अब वह ज़िन्दगी भर सुबह-शाम उसी में फुंका करे। चौके से उसका छुटकारा नहीं। मगर इतनी क़ैद शायद काफी न हो इसलिए चार-छः दस-बीस सौ-पचास लड़कों-बच्चों से उसकी गोद और भर दी (बच्चों पर अपना क्या बस, बच्चे तो भगवान की देन हैं और शास्त्रोक्त भी यही है कि पुरुष सन्तानोत्पत्ति के लिए ही स्त्री के पास जाये!) बस, अब ठीक है, ! अब हुई क़ैद पूरी, ये पड़ीं असली मोटी बेड़ियाँ पैरों में।.....

सत्य को औरत की इस गुलामी का शदीद एहसास है, माँ को छोड़कर अलग अपना घर बसाने की पीछे यह एहसास भी एक कारण था। सत्य चाहता है कि उषा की शक्तियों को घर के बाहर की नई ज़िन्दगी के लिए आज़ाद कर सके। वह नहीं चाहता कि उषा जैसी पढ़ी-लिखी, समझदार, लगन वाली लड़की घर के भीतर घुटकर मर जाय। यह बात उसे हरदम सालती रहती है कि चौका उषा को खाए जा रहा है। बहुत बार उसके जी में आता है कि खाना बनाने के लिए कोई नौकर रख ले मगर हिम्मत नहीं पड़ती, पैसे कहाँ हैं? सब मुंह भी तो कितना लम्बा खोलते हैं, पैंतिस-चालिस से कम पर कोई बात नहीं करता और इतना देने में तो यहाँ बर्तन-भांड़े सब बिक जायंगे। खाना बनेगा काहे में!

सत्य का यह मर्मस्थल था इसीलिए उषा के इन शब्दों ने 'भुगतना तो मुझको पड़ता है' उसे तीर की तरह बींध दिया। यों ऐसी कुछ

बहुत कठोर बात उषा ने नहीं कही थी, ठीक ही बात कही थी। पर सत्य का जी उदास हो गया। उसे एक तो यह लगा कि उषा मेरे साथ अन्याय कर रही है, मैं उसका भार हलका करने की कितनी कोशिश करता हूं उस सब की कोई क़ीमत नहीं है इसकी निगाहों में ! मगर इसके साथ ही वह दूसरी चीज़ जिसने उसे चोट पहुंचायी, यह थी कि उषा के अभियोग में सच्चाई थी। सत्य के दिल में उषा के लिए मुहब्बत और हमदर्दी का सागर ही क्यों न लहर मार रहा हो, मगर यह तो हक़ीक़त है कि गई उषा के ही सिर और सदा जाती है उषा ही के सिर। आखिरकार अरुण को पूरे वक्त किसने टहलाया ?

उषा ने इस बात को लक्ष्य कर लिया कि किसी बात से इनको चोट लगी है, मगर इस वक्त वह किसी को मनाने-वनाने के मूड में बिलकुल नहीं थी। साहनी साहब का घर उसकी आँखों में ना रहा था, उसकी एक से एक खूबसूरत चीज़ें जो बरसों उन्हीं के पीछे लगे रहने के बाद इकट्ठी हुई हैं और नाच रही थी उसकी आँखों में उस घर की व्यवस्था। रह रहकर यही एक बात उसके सिर में चक्कर काट रही थी : अपनी कुर्सी से एक दफ़ा उठी भी नहीं दमयन्ती और सा SSS रा काम मज़े में होता रहा, बिलकुल उसी तरह जैसे आदमी दम देकर घड़ी को छोड़ दे और घड़ी बिना रुके टिक् टिक् टिक् टिक् अपना काम करती रहे। इन्तजाम हो तो ऐसा हो। नौकर भी सब सिखे-सिखाये हैं, सारा काम जानते हैं, बस कहने भर की देर है। खानसामा है वह अपना काम जानता है, आया है वह अपना काम जानती है। सारा काम इशारों से होता है। ऐसे में आदमी कुछ पढ़-लिख भी सकता है, कुछ गुन-सहूर भी सीख सकता है, कुछ काढ़ सकता है, कुछ सी सकता है, अपने घर को कुछ सँवार सकता है—इस तरह नहीं कि चौबीस घंटे चूल्हे-चक्की से ही छुट्टी

नहीं, दूसरा कोई काम इन्सान करना भी चाहे तो कब करे? क्या करे चूल्हे में सर दे दे? वह तो दिया ही हुआ है मगर उससे कहाँ काम बनता है।....देखो न, उनका ड्राइंगरूम कितनी खूबसूरती से सजा हुआ था। कैसा अच्छा फ़र्नीचर, सोफों का कुशन कितना अच्छा था और क़ालीन? एक से एक अच्छी तसवीरें। थीं तो कम मगर एकदम चुनी हुई। ऐसा ही होना चाहिए। मुझे वह तसवीर सबसे अच्छी लगी, वह काश्मीर वाली....नाम भूल रही हूं...हाँ 'गुलमर्ग' 'गुलमर्ग'...पता नहीं किस चित्रकार ने बनायी है मगर भाई, बड़ी खूब बनायी है। पहाड़ों की गोद में वह झील, कैसी अच्छी लगती है! फूल भी गुलदान में कितनी अच्छी तरह सजाए हुए थे। दोनों को बागबानी का शौक़ भी बहुत है....उनके डेलिए और क्रिसेन्थेमम कैसे बड़े बड़े हुए हैं और क्या ऊंची ऊंची स्वीटपी है, सारी जगह उसी से गमकती रहती है। बहुत तरह के फूल लगाये हैं, खुशबू वाले भी और बग़ैर खुशबू वाले भी....इतना तो मानना पड़ेगा कि आदमी शौक़ीन हैं। आदमी के पास रुचि हो और लगन हो तो क्या नहीं किया जा सकता।

उषा को जैसे जवाब देते हुए सत्य ने उसी रात अपनी डायरी में लिखा, मगर सच बात यह है कि सत्य उषा को नहीं अपने मन को जवाब दे रहा था :...नहीं उनसे भी बड़ी एक चीज़ है जिसकी डिक्टेटरी इन मामलों में चलती है—पैसा। पैसा ही तो कोयला-पानी है, जिससे समाज का इंजन आगे बढ़ता है, पैसा न हो तो सब चीज़ जहाँ की तहाँ ठप। ठीक है, बहुत से पैसेवाले लोग अकूत पैसा रखकर भी उसका इस्तेमाल करना नहीं जानते, ढंग से रहना नहीं जानते, किसी भी तरह की सुरुचि से जिनका दूर का भी संबन्ध नहीं होता। मगर ऐसे लोग होंगे ही कितने, पैसे वाले आखिर कितने होंगे? उनको

तो आप उंगलियों पर गिन सकते हैं। विशाल जनसंख्या तो उनकी है जिनके दिल में नयी ज़िन्दगी की भूख है और आँखों में नयी खूबसूरत ज़िन्दगी की तसवीर, जिनको सुरुचि का टोटा नहीं है, जिनके पास पैसा हो और अवकाश हो (जो कि एक ही चीज़ है) तो वह ज़िन्दगी को ऐसा संवारकर दिखला दें कि यही धरती जन्नत बन जाये। पूँजी की गुलामी से आज़ाद मुल्कों में इस बात की सच्चाई को प्रत्यक्ष देखा भी जा सकता है और हमारे यहाँ भी वह चीज़ एक न एक दिन मुमकिन हो सकेगी। यहाँ भी वह दिन आएगा और ज़रूर आएगा। मगर अभी? अभी तो ज़मीन तैयार करनी होगी, गोड़नी होगी, उसमें खाद डालनी होगी, झाड़ियाँ साफ करनी होंगी, अच्छे मज़बूत बीज डालने होंगे तब तो आगे चलकर फूल उगेंगे। लालच करने से काम नहीं चलेगा। अधीर होने से भी काम नहीं चलेगा। फूल भला किसे अच्छे नहीं लगते? कौन ऐसा बदशौक़ आदमी होगा जिसे फूलों से मुहब्बत न हो, जो स्वीटपी की या गुलाब और चमेली और जुही की फुलवारी अपने दिल में लगाना न चाहता हो! मगर लगाना चाहने से तो फुलवारी लग नहीं जायगी, उसके लिए ओंठ भींचकर इन्तज़ार करना होगा, थकान और खीझ और ताबड़तोड़ बेचैनी को बालाये ताक़ रखकर तेली के बैल की तरह काम करना होगा, आँख पर पट्टी बाँधकर, धीरे धीरे, सुबह और शाम और दिन और रात, जाड़ा गर्मी बरसात—आँख पर पट्टी बाँध लेने में कोई बुराई नहीं है, रस्ता तो पैरों का अभ्यास है—और आँख पर पट्टी बाँध लेने से फुलवारियाँ मिट थोड़े ही जाती हैं, उन्हीं फुलवारियों की रविशें अन्दर सीने में भी तो बिछी हुई हैं! काश कि फुलवारियों के बुलावे में इतनी कशिश न होती! काश कि लंबी छरहरी छबीली स्वीटपी झूम झूमकर तुम्हारे सीने से लिपट जाने के इशारे न करती! और काश कि उसकी अलकों में यह भीनी भीनी, पागल

कर देने वाली सुगंध न होती ! काश कि जुही कनखियाँ न मारती ! काश कि गुलाब का मुखड़ा इतना हसीन न होता और उसकी त्वचा इतनी गुलाबी न होती ! काश कि हुस्न और रानाई के ये सब झरने न फूटते। तब शायद जिन्दगी एक तरह से कुछ आसान होती, खून में कम से कम यह खलबली यह बेचैनी न होती ! नहीं, ग़लत कहते हो, हजार एहसान मानो खून की इस खलबली के क्योंकि इसी से फूल फूटेंगे। न सही फूल आज, मगर कल ?.....आशा और विश्वास की इसी सुनहरी किरन से इंसान जिन्दा है। इसी से उसकी आँखें चमक रही हैं। इसी से उसकी हिम्मतें पस्त नहीं होतीं। इसी से उसके क़दमों में जोश है।

साहनी साहब के यहाँ से निकलते ही मुझे एक लड़का दिखाई दिया, टाँगे सींक की तरह, पेट निकला हुआ, बस एक चीकट सी चिथड़ा कमीज़ पहने जिससे उसका पेट भी नहीं ढंकता था, आबनूस की तरह काला, पास ही चमारों और मेहतरों की बस्ती है। उसी डाल का फूल होगा वह। हाँ वह भी एक फूल है आज कितना ही बेडौल वह क्यों न हो और अगर वह बेडौल है तो इसमें भी उसका कोई दोष नहीं है और न वह सदा अब ऐसा बेडौल रहने वाला है। उसमें भी अब कुनमुनाहट आ रही है, अभी कोई चाहे कितना ही हँस ले उस पर। मगर ऐसा बेदर्द कौन होगा। मुझे तो उसको देखकर रोना आता है। बच्चा (चाहे वह गोरा हो चाहे काला) फूल से कम प्यारी चीज़ नहीं होता। अब इसी लड़के के माँ बाप अगर पढ़े-लिखे होते, उनके शिक्षित संस्कार होते, उन्हें खाने-पीने कपड़े-लत्ते रहने-सहने तौर-तरीक़े के बारे में कुछ जानकारी होती और इसकी सुविधाएं होतीं तो क्यों इस लड़के की टाँगें सींक-जैसी होतीं और क्यों उसका पेट निकला हुआ होता ? तब भला क्यों वह आँख में कीचड़ भरे और नाक

सुड़कता हुआ नंग-धड़ंग घूमता फिरता ! तब शायद उसका जिस्म हट्टा-कट्टा होता, उसकी पिंडलियों और बाँहों की मछलियां शिल्पी की छेनी और हथौड़ी से तराशी हुई नजर आतीं, वह साफ़ सुथरा, नहाया हुआ होता, उसका चेहरा सेहत से और ताजगी से चमक रहा होता, उसके शरीर पर ढंग के कपड़े होते, धुले हुए और अच्छी तरह इस्तरी किए हुए। तब क्या यह लड़का वैसा ही दिखता जैसा कि आज दिख रहा था, तब क्या वह भी फूल जैसा ही दिखाई न देता ? फूल हजार रंगों के होते हैं। सौन्दर्य का कोई एक रंग नहीं होता। काले से काला चेहरा भी बेहद हसीन हो सकता है और होता है, सारी बात सेहत और ताजगी और सफ़ाई और चेहरे के परिष्कृत भाव की होती है।

या छोड़ो उस लड़के को। मैं अपनी महरी की बात लेता हूं जो मेरे यहाँ टहल करने आती है। ओफ़, कितनी भयानक बात है ! थाली-बटुली, तवा-कड़ाही घिसते-घिसते वह बुड्ढी हो गयी है, कमर दोहर गई है। उसे देखकर अनायास ऐसा लगता है कि जैसे आदिमकाल से वह इसी तरह इसी एक ही मुद्रा में बैठी मूंज से बर्तनों को घिस रही है। काश कोई मूर्त्तिकार काले पत्थर या काँसे में उसकी इस मुद्रा को ढाल सकता, इस तरह कि उसकी थकान और मुर्दापन और बुझी हुई आँखें और बर्तन घिसने के अभ्यासी खुरदुरे हाथ सब कुछ उसमें आ जाय—खास करके उसकी थकान और यांत्रिक ढंग से उसके हाथों का चलना। आसान नहीं होगा पत्थर के आलिंगन में इस गति को पकड़ना जो गति है भी और नहीं भी क्योंकि हजारों साल से वह हाथ इसी तरह चल रहे हैं मगर पहुंचते कहीं नहीं, बस उसी जूठी कड़ाही और जूठी बटुली पर रहे आते हैं !

कड़ाके का जाड़ा पड़ रहा हो, दाँत से दाँत बजते हों, उंगलियाँ

ठंड के मारे कटकर गिरी पड़ती हों, पैर अकड़े जाते हों (अभी दो महीना पहले यही हालत थी) मगर रमिया की माई नंगे पैर, किसी मेहरबान की उतारन एक फटही पुलोवर पहने, ठिठुरती काँपती काम पर चली आ रही है, और फिर चाहे कितनी ही ठंडक हो दो घंटे तक उसकी जल-क्रीड़ा चलेगी !

उसी तरह गर्मी में (महीने भर बाद) चाहे आसमान से आग ही बरस रही हो, हवा से लपटें निकल रही हों, लू अपनी भयानक जवानी के करिश्मे दिखला रही हो, कमरे के बाहर सिर निकालते ही शरीर झुलस-सा जाता हो और कमरे के अन्दर भी आदमी को किसी पहलू चैन न आता हो, जिस्म फुंका जाता हो—ऐसे में भी रमिया की माई तीन बजे की धूप और लू में आयेगी ही आयेगी। मई जून में तीन बजे दोपहर ! मगर क्यों आती है उस वक्त ? इसलिए कि और कोई चारा नहीं है—एक घर और भी तो पकड़े हुए है न, यहाँ से काम करके वहाँ जाती है, वहाँ पर पहुंचने में देर न हो जाय इसलिए यहाँ जल्दी आती है।....जी हाँ सत्यबाबू, यही ज़िन्दगी की मजबूरियाँ कहलाती हैं—

बरसात में जब झमाझम पानी बरसता होता है, कई कई रोज़ तक झड़ी लगी रहती है और सूर्यदेवता के दर्शन नहीं होते, जब इतनी तबीयत घबरा उठती है झड़ी से कि इंसान सूखी ज़मीन और सूखे आसमान और सूखी हवा और सूखे कपड़ों के लिए तरसता है, ऐसे में भी रमिया की माई बेजान मशीन की तरह बैठी बर्तन घिसती रहती है। उसकी ज़िन्दगी में कहीं आराम नहीं है, रत्ती भर चैन नहीं है, बस सिर्फ बर्त्तन घिसना है या कहो एड़ियाँ घिसना है ! झौवा भर तो बच्चे हैं रमिया की माई के—रमिया तो पूरे दस भाई बहनों में एक है। अभी तक तो उसके बच्चे होते जा रहे हैं, बकरियों के जैसे

और वैसे ही रामआसरे उनकी परिवरिश भी होती है। पैदाइश से पहले से उनकी और भूख की जान-पहचान हो जाती है। और यह जान-पहचान उम्र के साथ साथ गहरी ही होती चली जाती है।

माना कि आज रमिया की माई की ज़िन्दगी में कोई उमंग या हौसला बाक़ी नहीं रहा, लेकिन कभी तो रहा होगा? मोटर और हवेली के उसके सपने न सही मगर कुछ तो सपने रहे होंगे उसके भी आखिर? जैसे यही कि उसकी अपनी एक मड़ैया हो (यह तीन रूपए किराये वाली टपरिया नहीं) चार, हाँ बस चार खूब मोटे तगड़े, कालियादह के फन पर नाचते हुए कन्हैया जी जैसे गोलगुथने से लड़के हों, जिन्हें टोले पड़ोस की और माँएं देखें तो बस देखती रह जायं। चाहे सेर-डेढ़ सेर दूध की ही मगर अपनी एक छोटी सी गैया हो जिसकी सानी वह बोरे, जिसका दूध वह दुहे, जिसके कंडे वह थापे। घर के बच्चे इसी गैया का दूध पियें और मोटायं। भले दो ही बीघा हो मगर थोड़ी सी अपनी ज़मीन भी ज़रूरी है। ज़रूरी तो दो बरधे भी हैं, लेकिन बरधे न भी हों तो न सही, माँग जाँच कर काम चला लेंगे और फिर आगे पीछे अपने भी बरधे हो ही जायंगे—खेती में बड़ी बरक्कत होती है। बहरहाल असल चीज है ज़मीन। थोड़ी सी ज़मीन भी अपने पास हो.... रमिया के बाबू के लिए वह खुद घुघनी और रस लेकर जायेगी।..... रात को सब संग बैठकर आगी तापेंगे, खूब बड़ी सी आग तैयार करेंगे और फिर घर भर के लोग उसके चौगिर्द बैठेंगे और बड़ी रात तक तापते रहेंगे। लड़कों के लिए कोठरी भर में पुआल बिछी रहेगी, खूब मोटी पुआल और सबके पास अपनी रजाई रहेगी। हम लोग दूसरी कोठरी में सोया करेंगे और हमारे पास भी खूब मोटी खूब भारी रजाई रहेगी। ...फिर लड़के बड़े होंगे, फिर उनका बियाह होगा, घर में पतोह

आयेगी। फिर, पतोह ऐसी होगी वैसी होगी...उनमें और कुछ हो न हो जाँगर जरूर हो। फिर बियाह में मैं किसके लिए कंगन बनवाऊंगी किसके लिए करधनी, किसके लिए नाक की झुलनी, किसके लिए हमेल.....और फिर घर में पोते खेलेंगे, मैं उनकी मालिश खुद किया करूँगी, घर का काम-काज तो पतोहें देख लेंगी, मैं बुढ़ापा हो जाऊंगी, मेरा जाँगर तो ज्यादा चलेगा नहीं, मगर कुछ तो मुझे करना ही चाहिए तो बच्चों के उबटन मैं ही लगाया करूंगी, फिर ये बच्चे बड़े होंगे, फिर उनका बियाह होगा, फिर ....

दरिद्र अकिंचन स्वप्नों की एक अनन्त शृंखला.....ये सारे सपने कभी उसके जवान दिल में भी कसमसाए होंगे, जो कि जमाने की रौंद में पड़कर धूल हो गये। करोड़ों जिन्दगियाँ इसी तरह धूल हो जाती हैं। इसमें भला उनका कोई क़सूर है कि वह धूल हो जाती हैं ? ....

साहनी साहब के यहाँ जो जिन्दगी फूल की तरह मुसकरा रही है, उसकी जड़ में की खाद है वह मेहतर का लड़का और यह रमिया की माई जो कि अब इंसान नहीं एक मशीन है, बर्त्तन घिसने और बच्चे पैदा करने की एक मशीन, जो दोनों ही काम वह बिलकुल बेदिली से, निरे दैनिक अभ्यास वश करती है। रमिया की माई.......

२२

विपिन इस समय अपने काव्यलोक में है। छत पर एक कमरा है उसके पास, वही उसका कमरा है, उसका काव्यलोक। उसी के कपाट चारों ओर से रुद्ध करके कवि विपिन ध्यानावस्थित होते हैं। कविता भी उनके लिए एक तरह की तुरीयावस्था ही है। अपने बंद कमरे में वह आँख मूंद कर लेटते हैं, टहलते हैं, अपनी और दूसरों की पंक्तियाँ गुनगुनाते हैं। दिन भर की थकन के बाद यही उनका चित्तविनोदन है और यह बात बिलकुल सच है कि यह चीज़ उनको तरोताज़ा कर देती है। बाहर से अगर कोई आदमी उनके यहाँ जाय तो पहली बात तो यह कि उसको शायद ही उस कमरे में प्रवेश मिले और अगर, हरि इच्छा बलवान, प्रवेश उसको मिल गया तो वह देखेगा कि ज़मीन पर चाँदनी बिछी हुई है, कपड़े वाले सूटकेस पर ही कपड़ा डालकर उसे डेस्क की शकल दे दी गई है, बैठने या सिकुड़-सिकुड़ाकर लेटने भर की जगह छोड़कर बाकी पूरी चाँदनी पर नाना रूप रंगों की किताबें बिखरी रहती हैं—नयी यानी जिनके वरक़ अभी सफ़ेद हैं, और पुरानी यानी जिनके वरक़ भूरे या बादामी हो गये हैं और मोड़ने से टूट जाते हैं। विपिन को गुदड़ी बाजार का चक्कर लगाने का भी तो शौक़ है। लिहाज़ा अक्सर बहुत सी अच्छी अच्छी किताबें उसको गुदड़ी की क़ीमत पर मिल जाती हैं, एक आने में दो आने में छः पैसे में, चार आने में। इसी तरह। लिहाज़ा कमरा ढेरों 'अच्छी अच्छी' किताबों से गँज उठा

हैं और लगती हैं कि कुछ ही रोज में गुदड़ी बाजार की सब 'अच्छी अच्छी' किताबें उठकर विपिन के कमरे में चली आयेंगी और खुद विपिन को कमरे से निर्वासित होना पड़ेगा। क्या नहीं है विपिन के पास? मीर, ग़ालिब, मोमिन, सौदा के दीवान, हाली का मुसद्दस और उस सब के साथ साथ बहुत सा खटराग भी। टेनिसन, वर्डसवर्थ, स्विनबर्न, बायरन, शेली, कीट्स की संपूर्ण रचनाएं—और उसके साथ साथ ऐगाथा क्रिस्टी के जासूसी उपन्यास। गीता का भी एक बहुत पुराना संस्करण उसके पास है जिसके निष्काम कर्मयोग वाले सिद्धान्त का इस प्रकार भावानुवाद करके विपिन ने दीवार पर लाल पेंसिल से लिख रखा है:

> कर्म किये जा कर्म किये जा कर्म किये जा।
> फल की चिन्ता मत कर मूरख,
> बस जिये जा बस जिये जा बस जिये जा।
> कर्म किये जा कर्म किये जा कर्म किये जा।

'गीतांजलि' की तो उसके पास दो तीन प्रतियाँ थीं और वह अकसर ही उनका पारायण किया करता। रवीन्द्रनाथ ने जिस सौन्दर्य का आवाहन किया है, वह उसको अपनी जिन्दगी में कहीं नहीं दिखाई देता था। लेकिन उसकी प्यास तो थी। लिहाज़ा विपिन ने बग़ैर किसी संघर्ष के, नियति के लेख के रूप में अपनी स्थिति को स्वीकार कर लिया था और स्वीकार कर लिया था कि सौन्दर्य की सुन्दरता भी उसके हाथ में न आने में ही है, उस प्यास में जो कि बुझती नहीं, उस दूर क्षितिज पर से टेरती हुई रूप छवि में जिसे छू सकना उसके भाग्य में नहीं है और जीवन की सिद्धि शायद इसी में है कि रूप गंध की तिलोत्तमा उसे अपनी ओर बुलाती रहे, और वह चिरकाल उसके पास पहुंचने के लिए छटपटाता रहे और क्षितिज

दूर सरकता जाय और वह क्रूर तिलोत्तमा वह सितमगर माशूक़ इसी तरह इशारे करता रहे और उसके दिल में दर्द जगाता रहे वही दर्द जिसका स्वाद मीर में है और ग़ालिब में है...और शेली ने भी कैसी प्यारी बात कही है :

द लांगिग ऑव् द मथ फॉर द स्टार
ऑव् द नाइट फॉर द मॉरो
द डिवोशन टु समथिंग अफार
फ्रॉम द स्फेयर ऑव आवर सॉरो

यह सॉरो, यह दुःख, यह वेदना ही असल चीज़ है, जमुना की वेदना, माँ की वेदना, विपिन की अपनी वेदना, सब की अलग अलग वेदना और सब को मिलाकर एक वेदना।

जमुना की शादी नहीं हुई, नहीं होती और अब तो धीरे धीरे वह नौबत आती जा रही है जब शायद कहना होगा, नहीं होगी, सब कुछ करके हार गये, सारी कोशिश बेकार हुई, हाथ एकदम भर गए, पतवार अब छोड़ दो, नाव को अब डूबने दो! दहेज के लिए जब पैसे आज तक नहीं जुटे तो अब क्या जुटेंगे और बिना पैसे के क्या कहीं लड़की का ब्याह होता है? रूप जवानी गुन सहूर कला कविता—पैसे के बिना सब वृथा है। सौ बात की एक बात यह है कि बिना दहेज के कन्या-दान नहीं होता, पहले कभी नहीं हुआ तो अभी ही कैसे होगा? 'दहेज़ लेना पाप है: लड़की का घोरतर अपमान है', कुछ ऐसी नई हवा चली है, मगर वह चल नहीं सकती इस देश में। बहुत देखे हैं ऐसे समाज सुधारक—मंच पर से लम्बी चौड़ी बातें बघारेंगे और जब अपनी बात आयेगी तो भाड़ की तरह लंबा मुंह खोलेंगे और हाथ पीछे ले जाकर थैली को गपक लेंगे और ऐसी

सफाई से निगल ले जायंगे कि फिर देखते ही बनता है। और उसके बाद फिर वही अपनी लंबी चौड़ी बघारेंगे, खून का एक हलका सा छींटा भी तो आप पा नहीं सकेंगे उनके मुंह के आस-पास! जी, यह हिन्दुस्तान है, कोई ऐसा वैसा देश नहीं है हिन्दुस्तान, जादू का देश, बंगाल का जादू, कामरूप का जादू।.....

दरवाजे पर दस्तक पड़ी। विपिन चौंक गया। भैया, चलो खाना खा लो। जमुना का स्वर था यह। कितनी सीधी लड़की है यह जमुना और कितनी सुन्दर। रंग भले बहुत साफ़ न हो मगर कैसी लुनाई है चेहरे पर। लंबी, छरहरी, खूबसूरत मुंह, अच्छी सी नाक, बड़ी बड़ी आँखें और असाधारण लंबे बाल जैसे कम से कम उत्तर भारत में तो नहीं पाये जाते।....विपिन उसको देखता है और उसका मन एक अव्यक्त पीड़ा से भर उठता है। किसके शाप का बोझ ढो रही है बेचारी? घर के काम काज में अपने को बहुत भुलाये रहती है मगर....कुछ ऐसा भी तो होता है जिसे भुलाया नहीं जा सकता, उसके जवान दिल के जो दर्द हैं जिन्हें कोई भी उसकी आँखों में झांककर पढ़ सकता है क्योंकि आँख ही दिल की खिड़कियां हैं। कीट्स कहता है—ए ड्राउजी नम्नेस पेन्स। काश कि यह दर्द ड्राउजी होता, काश कि इस दर्द को नींद आ जाती! दर्द तो पहरेदार की तरह जागता रहता है सदा.....विपिन देखता है माँ को जो जमुना की ही चिन्ता में घुलती चली जा रही है। घर में जवान ड़की बिठाल रखने से ज्यादा फिक्र और परेशानी की बात दूसरी नहीं हो सकती। यह चोर-उचक्कों का पड़ोस, उनकी ताक-झांक, बोली-ठिठोली—इधर बरसों से एक रात उन्हें चैन की नींद नहीं आयी। और सब....सब इसलिए कि उनके पास सात आठ हजार रुपए नहीं हैं जो शायद कभी नहीं होंगे और इसलिए शायद कभी जमुना

की शादी नहीं होगी, माँ इसी तरह घुलती घुलती चली जायेंगी और जमुना......

विपिन इसके आगे सोच नहीं पाता, उसका सिर चक्कर खाने लगता है। विपिन खामोशी से नीचे गया और झट झट खाना निगल कर अपने कमरे में आ गया। यही उसका किला है, उसका शीश महल, उसका आइवरी टावर—जो चाहे कह लीजिए। यहाँ आकर उसे राहत महसूस होती है या कम से कम विपिन को ऐसा महसूस होती है लेकिन ये आँखें तो उसका कहीं पीछा नहीं छोड़तीं, जमुना की आँखें, माँ की आँखें जो हवा में दीवार पर सब जगह सलमा सितारे से टंकी हुई दिखाई देती हैं! ज़िन्दगी की चादर पर क्या ख़ूब डिज़ाइन छपा है यह....जमुना की सुलगती हुई आँखें माँ की बुझी हुई आँखें....

मगर कोई इलाज है इसका? यह टनेल जिसमें से ज़िन्दगी की गाड़ी गुज़र रही है कभी ख़त्म होगी? लगता तो नहीं। शायद इस घुप अंधेरी टनेल का कहीं ओर छोर नहीं है। तो फिर घबराने से फ़ायदा? झूठमूठ छटपटाकर जान देने से फ़ायदा? बिलकुल बेकार। समझदारी इसमें है कि इसे मान लिया जाय, कि ऐसा ही है यह, कि इससे अलग कुछ मुमकिन नहीं है, कि यही भाग्य है अपना। तो फिर आओ कुछ जुगनू ही छोड़े जायें हवा में ताकि अंधियारी कुछ तो छँटे......

और विपिन अपनी कविता की कापी लेकर बैठ गया। बीड़ी का कश खींचकर होल्डर हाथ में लेते ही सारी चिन्ताएं (पीले पत्तों की तरह) झर गयीं। हाँ चिन्ताएं यानी वही पुरनूर और बेनूर, ज़िन्दा और बुझी हुई आँखों का हुजूम, वही हवा में चक्कर काटती हुआ आँखों का जलूस, आँखें जो शमशीर की तरह खिंचे हुए सवाल हैं, सवाल जिनका जवाब पैसा और सिर्फ़ पैसा है, पैसा जो ज़िन्दगी की बहुत बड़ी

नमत है जिससे मुलाक़ात बड़ी मुश्किल से बड़ी तलाश के बाद होती है, तलाश जिसमें ज़िन्दगी का दिया अकसर बुझ जाया करता है—ज़िन्दगी का दिया, बुझा हुआ दिया, बुझता हुआ दिया...

जमुना अपने एक प्रेमी के संग भाग गई। नहीं वह फ़ाहिशा नहीं थी, इसके संग या उसके संग भागना उसका पेशा नहीं था, इस तरह रात के अंधेरे में चोरी चोरी चले जाना उसे अच्छा भी नहीं लगा होगा। सभी कुमारियों की तरह उसने भी डंके की चोट पर अग्नि को और सूरज को साक्षी देकर और सब बड़े जनों के आशीर्वाद का टीका माथे लगाकर अपने मौर वाले दूल्हे के संग जाने की कल्पना की थी....लेकिन कल्पना और यथार्थ के बीच पैसे की खाई होती है, पैसे पर खड़ा हुआ यह समाज होता है—

और यहाँ पैसा नहीं था। जमुना के घर वालों के पास पैसा नहीं था कि वे बाक़ायदा अपनी बेटी की माँग में सेंदुर भरकर उसे अपने ब्याहता के संग भेज सकें कि वह जाकर अपनी नयी ज़िन्दगी शुरू करे, अपना घर-संसार बसाये। अब यह किसका कसूर था कि घर में पैसे नहीं थे? यह विपिन का कसूर नहीं था कि उसके पास पैसे नहीं थे। यह विपिन की माँ का कसूर नहीं था कि उसके पास पैसे नहीं थे। यह जमुना का क़सूर नहीं था कि उसके पास पैसे नहीं थे। और न यही क़सूर था जमुना का कि उसका पिता दस बरस पहले मर गया था और नहीं ही मरा होता तो इसकी क्या गारंटी है कि उसके पास पैसा होता क्योंकि जब वह मरा तब मृतक भोज भी तो क़र्ज़ लेकर ही कराया गया था! और एक युवक और एक युवती के प्रेम के बीच यह जो ग़लीज़ मनहूस पैसे की दीवार खड़ी है, यह भी तो जमुना ने नहीं खड़ी की, उसकी माँ ने नहीं खड़ी की, विपिन ने नहीं खड़ी की। तब? और फिर यह भी तो जमुना

का कसूर नहीं था कि उसके सीने में कुछ उमंगें मचल रही थीं, कि उसके खून में किसी ने कच्चा पारा घोल दिया था, कि आदम और हव्वा मनु और इड़ा के वक्त से पीढ़ी दर पीढ़ी चली आती हुई एक भूख, एक मासूम सपने की दीप्ति से उसका हृदय भी उजागर था? वह भी क्या जमुना का दोष है? तुम कहते हो उसने इन्तजार क्यों नहीं किया, रास्ता जब ढूंढ़ा जा रहा था तो मिलता ही। लेकिन इंतज़ार कब तक? धीरज कब तक? और इसका क्या भरोसा कि धीरज से कोंपल फूटेगी ही, कि यह धीरज बाँझ नहीं साबित होगा! और जमुना बदमाशी की ग़रज़ से किसी चोर या उचक्के या लुच्चे लफंगे के साथ तो भागी नहीं। वह तो बस चली गयी एक गरीब नेकदिल आदमी के संग जिसने उसे प्यार दिया, प्यार का आश्वासन दिया। तुम कहोगे, जमुना को उस आदमी की असलियत का क्या पता? वह आदमी बदमाश भी हो सकता है जो सिर्फ उसकी जवानी का भूखा है और चार दिन बाद उसे लात लगाकर घर से बाहर कर देगा। हाँ, यह खतरा तो है, मगर यह खतरा तो सब जगह है, अग्नि के फेरों के बाद भी तो यह खतरा बना ही रहता है। ठीक है, घर से निकालना तब शायद इतना आसान न हो (गो वह भी बहुत मुश्किल नहीं है) मगर इसके लिए औरत के पास क्या बचाव है अगर आदमी उसकी छाती पर मूंग दले, उसकी आँखों के सामने फाहिशा बाजारू औरतों के साथ अपना मुंह काला करे? क्या यह चीज़ होती नहीं? खूब होती है, खुले खजाने होती है। ब्याहता कहीं किसी कोठरी में पड़ी सिसकती रहती है और मर्द का बच्चा किसी रूपए दो रूपए चार रूपए दस रूपए पचास रूपए पाँच सौ रूपए वाली रंडी-बेसवा को लिये मौज उड़ाता रहता है! बहुत बार इस बेचारी ब्याहता को (हे भगवान तुम मर गये क्या?) खुद ही अपने हाथों पतिदेव की इन केलियों के लिए बिस्तर लगाना पड़ता है! स्त्री

की आँख से खून के क़तरे गिरते रहते हैं और वह बिस्तर की सलें ठीक करती रहती है, सिसकियाँ उसके पेट से उठकर उसके सारे जिस्म को झकझोरती रहती हैं और वह रोटियाँ बेलती बैठी रहती है, और आँख से गिरे हुए क़तरों को राख सोख जाती है। और मर्द के ठेंगे की वजह से ब्याहता को यह जुरअत भी नहीं होती कि उस रंडी को झोंटा पकड़कर घर से बाहर कर दे। किसी ने अगर कभी इतनी हिम्मत की तो ऐसी वारदातें भी अक्सर हो ही जाया करती हैं कि पतिदेव और उस औरत ने मिलकर ब्याहता पर मट्टी का तेल छिड़क कर आग लगा दी या अकेले पतिदेवता ने निशीथ की निस्तब्ध बेला में ब्याहता का गला घोंट दिया (ओथेलो की कैसी अनोखी आवृत्ति!) या अगर पतिदेवता इतनी हिंसा नहीं करना चाहते तो बड़े इत्मीनान से खुद उस ब्याहता को कलंक का टीका लगाकर और दस बीस लात-घूंसा जूता-चप्पल छड़ी-छाता बिदाई में देकर घर से बाहर कर देते हैं, और समाज उनकी इस हरकत पर भी अपनी तसदीक की मुहर लगा देता है क्योंकि द किंग कैन डू नो रांग—पुरुष राजा तो है ही!

तो यह खतरा तो आज के इस समाज में सदा ही बना रहता है जिसमें पुरुष देवता है और स्त्री दासी, पुरुष राजा है और स्त्री बांदी, पुरुष हीरा है और स्त्री धूल। इस खतरे से तो कहीं नजात नहीं। लिहाजा यह तो बिलकुल जुए की बात है, पाँसा फेंकने की बात है पाँसा चित भी पड़ सकता है और पट भी। जमुना ने भी हार कर मजबूर होकर पाँसा ही फेंका है। फ़र्क बस इतना है कि यह पाँसा उसकी ओर से उसकी माँ या भाई विपिन ने नहीं फेंका बल्कि अपनी जिन्दगी का पाँसा खुद उसने फेंका है जो मौजूदा रीति रिवाज के नुक्ते से थोड़ा अनहोना भले हो मगर है ज्यादा सही। दूसरा फ़र्क शायद यह है कि

कायदे से अग्नि के फेरे पहले लगवाये जाते हैं और पाँसा बाद में फेंका जाता है और यहाँ जमुना ने पाँसा पहले फेंक दिया और अग्नि के फेरे बाद में लगायेगी.....

जाते समय जमुना विपिन के नाम यह खत छोड़ गयी :

भैया,

खान्दान को कलंक लगाकर मैं जा रही हूं। हाँ, घर से। सदा के लिए। तुम लोग सुबह उठोगे तो अपनी जमुना को चौके में चाय बनाते नहीं पाओगे। सोचोगे, अरे यह जमुना आज सबेरे कहाँ चली गई, वह तो कभी किसी के यहाँ आती जाती नहीं। तुम लोग कहीं यह न सोच लो कि जमुना डूब मरी और आस पास के कुएं झंकवाने लग जाओ इसीलिए ये चार अच्छर लिख रही हूं नहीं तो भला क्या ज़रूरत थी इस चिट्ठी की। झूठमूठ जले पर नमक छिड़कने से फ़ायदा। जलते तवे पर पानी की बूंद गिरते ही कैसे छुन्न से गायब हो जाती है, देखा है? मैं भी उसी तरह गायब हो जाती तो कुछ बुरा होता?

मैं तुम लोगों के माथे कलंक का टीका लगाकर जा रही हूं। तुमने कभी सपने में भी न सोचा होगा कि तुम्हारी जमुना ऐसा करेगी! मैं जानती हूं कल सबेरे जब सबको पता चलेगा तो अम्माँ अपना सिर पीट लेंगी और मुंह में घृणा भरकर कहेंगी, कुल-च्छिनी, कलंकिनी, तुझे यही करना था तो तूने ज़हर क्यों नहीं खा लिया डूब क्यों नहीं मरी! मेरे इन सफ़ेद बालों पर भी तुझे तरस नहीं आया! मेरा रँडापा क्या कुछ कम दुख था मेरे लिए! इसी दिन के लिए मैंने तुझे अपना खून पिला पिलाकर बड़ा किया था। मुझे पता होता कि तू सयानी होकर ऐसे मुंह काला करेगी तो मैंने

सौरी में ही तेरा गला घोंट दिया होता।....घोंट क्यों न दिया माँ! व्यर्थ जिन्दगी का बोझ ढोकर मुझे ही क्या मिल गया? कौन से मोती रोल दिए तुमने, माँ? कौन सा आराम कौन सा सुख मैंने जाना? खाने का सुख कि पहनने का सुख कि ब्याह का सुख बाल बच्चों का सुख...तुम्हीं बताओ माँ कौन सा सुख जाना मैंने? काश, तुमने सौरी में ही मेरा गला टीप दिया होता! न मैं होती न मुझ पर यह सब बीतती न मेरे अंग अंग में इतना दर्द होता न मुझे आज यह दिन देखना पड़ता।

भैया, तुम जानते हो मैंने सदा तुम्हारी सलाह से काम किया है। लेकिन आज जीवन का सबसे खतरनाक क़दम उठाते हुए मैंने तुम्हारी सलाह नहीं ली और नैया मँझधार में डाल दी। अब डूबे चाहे पार लगे। तुम्हारी सलाह मैंने क्यों नहीं ली?

भैया, सच्ची सच्ची कहूं? मेरी हिम्मत नहीं हुई तुम्हारे पास आने की। मैं कैसे जाऊंगी तुम्हारे सामने, बात कैसे शुरू करूँगी, पहला शब्द कैसे निकलेगा मेरे मुंह से और फिर मेरी बात सुनकर तुम अपने दिल में क्या कहोगे! कहोगे, बड़ी छिपी रुस्तम निकली, इसके तो पेट में दांत है, महीनों से चल रही है यह प्रेम कहानी, अपना ब्याह तक रचा बैठी पट्ठी और किसी को कानों कान खबर भी नहीं हुई!!!! तुम यही कहोगे अपने दिल में! मैं कैसे समझाऊंगी अपनी बात तुमको, तुम्हें कहीं मेरी बात पर विश्वास न आया तो फिर मैं क्या करूँगी? इसी से मैं नहीं गई तुम्हारे सामने। पर भैया, छोड़ो इसको, अब तो यह बीती बात हो गई। अब तो मैं जा रही हूं और वह आते ही होंगे। अभी रात का एक बजा है। मैं जा तो रही हूं चोरों की तरह, बिना किसी को कुछ बतलाये, लेकिन भैया अगर तुम अपनी जमुना का विश्वास कर सको तो यह बात अच्छी

तरह समझ लो कि मैं चोरी बदमाशी करने नहीं जा रही हूं, मैं ब्याह करने जा रही हूं।

लो वह आ भी गए। मैं जा रही हूं। मेरी भूल-चूक छिमा करना, माँ को समझाना। तुम्हारी—जमुना।

...

चिट्ठी पढ़कर विपिन के मुँह से बस इतना निकला—यही होना था!

विपिन की माँ को एकदम गश आ गया और वह गिर पड़ीं। संयोग से विपिन पास ही था, उसने पकड़ लिया नहीं तो बड़े ज़ोर से गिरतीं। तूने मेरे संग यह कबका बदला चुकाया—विपिन की माँ के मुंह से निकला हुआ यह टुकड़ा, उलाहने का यह व्यथित सुर पराजित झंडे की तरह हवा में काँपता रहा।

ऐसी खबर फैलते देर कितनी लगती है। देखते-देखते टोले पड़ोस की औरतों से विपिन का आँगन भर उठा। तीस पैंतिस की अधेड़ औरतों की ही बहुतायत थी, कुछेक किशोरियाँ भी कुतूहल के मारे मगर सहमी सहमी सी आकर आँगन में खड़ी हो गयी थीं। खबर मिलते ही घर की जवान लड़कियों और बहुओं के यहाँ आने पर रोक लग गई थी, कहीं इस घर की मनहूस छाया उन पर भी न पड़ जाय, बुरा असर पड़ने में देर थोड़े ही लगती है! कहीं दूसरे घरों को भी यही हवा लग गयी तो फिर समाज का बेड़ा पार समझो!

जमुना के किसी के संग भागने की दिलचस्प खबर ने सबसे ज्यादा बिजली दौड़ायी थी घर की इन्हीं जवान लड़कियों और बहुओं में: किसके संग भागी? कब भागी? कैसे भागी? घर के लोगों को कुछ पता भी नहीं था? जरूर भाई को मिला लिया होगा! बड़ी छत्तीसी थी यह जमुना! मगर कैसी मिठबोली थी! मीठी छुरी ही तो

ज्यादा घाव करती हैं! ऐसी लड़कियाँ सदा बड़ी मिठबोली होती हैं! उसके पेट में बात पचती भी खूब होगी, रे दैया! महीनों से खिचड़ी पक रही होगी और किसी को कानों कान खबर नहीं हुई! देखने में कैसी गऊ जैसी और ढंग छिनालों के!

इधर ये लोग राह देख रही थीं छोटी छोटी लड़कियों का कि सब आकर कुछ हाल-चाल बतायेंगी, उधर वह एक से एक अधेड़, जमाना देखी हुई, खुर्राट औरतें जमुना की माँ के मुँह पर पानी के छींटे मार रही थीं कि वह होश में आये तो समवेदना के खोल में लिपटे हुए व्यंग बाणों से उसके दिल को और छलनी किया जाय—

कैसा नायाब शग़ल है?

विपिन की माँ उस वक्त होश में तो आ गई मगर फिर कभी दूसरी औरतों से निगाह नहीं मिला सकी और जहर में बुझे हुए पड़ोसी तीरों से आहत होकर बराबर घुलने लगी और घुलते घुलते कोई छः महीने बाद एक रोज़ वह मर गयी।

२३

अमूल्य के घर पर तलाशी हो रही थी। एक इन्सपेक्टर और तीन कानिस्टिबिल तलाशी लेने आए थे। अमूल्य तो एक मीटिंग के सिलसिले में अभी दो घंटे पहले पकड़ा जा चुका था। उसका भाषण आपत्तिजनक था तो ज़रूर उसके घर में आपत्तिजनक सामग्री भी होगी! कुछ ज़ब्त किताबें अख़बार वग़ैरह। शाम घनी हो गयी थी, कमरे में रोशनी थी, तलाशी चल रही थी। प्रफुल्लबाबू एक किनारे खड़े थे और इन्सपेक्टर साहब और उनके लायक़ कानिस्टिबिल इस तरह किताबों को उठा और पटक रहे थे जिस तरह बैल खड़ी हुई फ़सल में मुँह मारते हैं। उनके आने के पहले किताबें क़रीने से सजी हुई थीं, आलमारियों में और एक बड़ी सी मेज़ पर जो दीवार से टिकाकर रखी हुई थी। उनकी आमद के इन पन्द्रह बीस मिनटों में उन किताबों का वही हाल हो गया था, जो पागल साँड़ के सींगों के हमले से कच्ची दीवार का हो जाता है। इन्सपेक्टर साहब एक किताब उठाते थे और पटक देते थे, दूसरी किताब उठाते थे और पटक देते थे, तीसरी किताब उठाते थे और पटक देते थे। धीरे धीरे आलमारी की तमाम किताबें तीसरे दर्जे के मुसाफ़िरख़ाने के सामान की तरह ज़मीन पर और उसी मेज़ पर छितरा गईं। इन्सपेक्टर साहब किताबें उठाते बड़े अंदाज़ से थे, उनका नाम पढ़ते थे, इधर-उधर से दो चार वर्क़ उलटते थे और वहीं अपने पैरों के पास डालते जाते थे। इल्मो-दानिश की वही

मौकूल जगह भी थी, उनके क़दमों में, उनके बूटों की ज़द में ! भगवान् जाने यह कैसी तलाशी थी और वह क्या चीज थी जिसकी उन्हें तलाश थी। किताब का नाम भी वह पढ़ पाते थे या नहीं... हर्फ़ लेकर कहना मुश्किल होगा। ये मरदूद किताबें अंग्रेजी हरूफ़ में हैं या बंगला या रूसी या फ़ारसी या चीनी या मिस्री यह भी बतलाना शायद इन्सपेक्टर साहब के लिए मुशकिल होता। और क्यों न हो, बड़ी बड़ी मुशकिलों से, बड़ी बड़ी मान-मनौतियों से, बहुत बहुत जाल-बट्टा करके तो बेचारे एन्ट्रैन्स पास हुए थे ! अब खामखा तलाशी की यह ढोल उनके गले पड़ गयी थी तो बेचारे बजा रहे थे ! वर्ना यह भी कोई पुलिस इन्सपेक्टर का काम है ? किसी क़त्ल के सिलसिले में किसी रंडी के घर पर छापा मारना हो, किसी बदनाम जुए के अड्डे पर छापा मारना हो, किसी को थाने पर बुलाकर मुर्गा बनाना हो, अपनी हिरासत के किसी मशकूक आदमी से कोई बात क़बुलवानी हो, डंडों और जूतों से पीट पीट कर उसका हलुआ बनाना हो, एक मिनट में एक सौ बीस गालियों को अपनी बातचीत की माला में गूंथना हो, रिक्शेवाले की माँ-बहन को याद करना हो, किसी से रिशवत की मोटी रक़म उड़ानी हो—ये हैं असल काम पुलिस इन्सपेक्टर के और किसी को अगर देखना ही है तो इनमें उनके कमाल को देखें ! यह क्या फ़िजूल की अलसेट लग गई। इन्सपेक्टर साहब अलग रोते हैं अपनी क़िस्मत को और किताबें भी अलग रोती होंगी अपनी क़िस्मत को, कि किस जानवर के पल्ले पड़ीं !

आखिरकार इन्सपेक्टर साहब ने इतनी सारी किताबों के चारे में मुंह मार कर, हार थककर कांधे डाल दिये और बोले—आपही बता दीजिए न अगर आपके यहाँ हो वैसी कोई चीज ?

प्रफुल्लबाबू पत्थर के बुत की तरह एक कोने में खड़े बड़े इत्मीनान (और शायद मन ही मन बेपनाह गुस्से से काँपते और नफ़रत से हँसते हुए) इस दृश्य को देख रहे थे, जैसे यह खुद उनकी नहीं किसी दूसरे की फ़सल हो जिसे वे बैल चर रहे हों। ज्योती अलग खड़ा तैश खा रहा था। अगर उसका बस चलता यानी अगर उसे पिता जी का डर न होता तो वह ज़रूर इन्सपेक्टर साहब पर वार कर बैठता। उसका नतीजा फिर चाहे जो निकलता। मगर पिता जी के डर के मारे उसकी हिम्मत न थी कि इन्सपेक्टर साहब पर हाथ छोड़ दे। और पिता जी, प्रफुल्लबाबू, बेहद इत्मीनान से खड़े हुए थे, जैसे यह कोई बात ही न हो। ज्योती को इन्सपेक्टर से ज्यादा गुस्सा पिता जी पर आ रहा था कि क्यों नहीं कुछ कहते, क्यों नहीं कुछ करते। और प्रफुल्लबाबू की ख़ामोशी का यह आलम था कि उन्होंने इन्सपेक्टर की बात का भी कोई जवाब नहीं दिया। बात उनके कान में पड़ी भी या नहीं कहना मुशकिल है।

इन्सपेक्टर ने फिर कहा—आपही बतला दीजिए न साहब, क्यों परीशान करते हैं, अगर हो वैसी कोई चीज़।

प्रफुल्लबाबू ने पूछा—कैसी चीज़?

बड़ा टेढ़ा सवाल था। इन्सपेक्टर साहब को बड़ी बौखलाहट हुई। तलाशी लेने वह ज़रूर आये थे, मगर उन्हें किस चीज़ की तलाश थी यही उन्हें मालूम नहीं था। यकायक उनसे कोई जवाब नहीं बन पड़ा। ज़रा रुककर बोले—आप भी कैसी बात करते हैं! कैसी चीज़ क्या? अरे, यही कोई ज़ब्तशुदा लिटरेचर, कोई बाग़ी किताब, और क्या!

प्रफुल्लबाबू के लिए अब हँसी रोकना मुशकिल हो रहा था। बोले—अब आप मुझी से पूछियेगा यह बात? और हँस पड़े।

इन्सपेक्टर खिसिया गया।

प्रफुल्लबाबू ने दूसरा रद्दा दिया—आप तो तलाशी लेने आये हैं, कुछ मुझसे बात करने तो आये नहीं ! तो फिर लीजिए तलाशी।

इन्सपेक्टर ने अपनी खिसियाहट छिपाते हुए कहा—वह तो लेंगे ही, ले ही रहे हैं, नहीं तो क्या आपके भरोसे बैठे हैं।

प्रफुल्लबाबू ने स्थिति का मजा लेते हुए, जैसे चटखारा मारकर हलके व्यंग के स्वर में कहा—तो फिर मुझसे आप किस क़िस्म की मदद चाहते हैं ?

इन्सपेक्टर ने कुत्ते के भूंकने के से स्वर में कहा—कुछ नहीं।

और और भी ज्यादा खीझ और परीशानी और गुस्से से किताबों को खोलने और मूंदने और पटकने लगा। खिसियान बिलैया खम्भा नोचै।

इंस्पेक्टर साहब के साथ के कानिस्टिबिल भी तलाशी के सिलसिले में कुछ कम मग़ज़पच्ची नहीं कर रहे थे। जिन खोजा तिन पाइयाँ—और किसी के लिए हो न हो, तलाशी लेने वालों के लिए तो यही उसूल ठीक है ! एक खोजी कानिस्टिबिल ने अपनी खोज के आवेश से अभिभूत होते हुए कहा—हुजूर, यह देखिए, यह तो बड़ी खतरनाक किताब है, मैंने भी इसकी बाबत सुना था—

वह कम्युनिस्ट घोषणापत्र था—कानिस्टिबिल ग़लत नहीं कहता, करोड़ों बमगोलों से भी ज्यादा खतरनाक किताब है वह !

तभी दूसरे कानिस्टिबिल ने मास्को से छपी हुई दो किताबें हुजूर के सामने पेश कीं। एक थी स्तालिन की जीवनी और दूसरी, गृहयुद्ध का इतिहास।

तीसरे कानिस्टिबिल ने भी इस खयाल से कि मैं फिसड्डी न रह जाऊं और इंस्पेक्टर साहब कहीं मुझको सबसे बोदा, सबसे नाका-

बिल न समझ बैठें, बड़ी मुस्तैदी से दो किताबें इंस्पेक्टर साहब के हुजूर में पेश कीं—एक था मार्क्स की कृतियों का मोटा सा संकलन और दूसरी चीज थी एक पुस्तिका, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति की ओर से प्रकाशित—माउंटबैटेन योजना : मुल्क की आज़ादी के खिलाफ़ एक भयानक साजिश।

कानिस्टिबिल ने मार्क्स की फ़ोटो खोलकर इंस्पेक्टर साहब के सामने रखते हुए कहा—हुजूर यह दढ़ियल ही असल आफ़त का परकाला है।....और यह देखिए हुजूर, इसमें बड़े लाट माउंट-बैटेन साहब के खिलाफ़ जहर उगला गया है !

इंस्पेक्टर साहब ने बहुत माकूल संजीदगी के साथ और आवाज़ में ज्यादा से ज्यादा रोब भरते हुए कहा—जी . . .तो आपका मकान बग़ावत का अच्छा खासा अड्डा है !

यह कहकर इंस्पेक्टर साहब अपने कारकुनों की पेश की हुई बाग़ी किताबों पर ग़ौर फ़रमाने लगे। इंस्पेक्टर साहब ग़ौर फरमाते जाते थे और किताबें ज़ब्त होकर उनकी हिरासत में पहुंचती जाती थीं।

अब प्रफुल्लबाबू से नहीं रहा गया। बोले—यह आप क्या कर रहे हैं ? इनमें से एक भी किताब ज़ब्त नहीं है।

इंस्पेक्टर साहब ने दलील को खारिज करते हुए कहा—न होंगी, मगर बग़ावत तो फैलाती हैं, लोगों का दिमाग़ तो खराब करती हैं—

ज्योती ने इंस्पेक्टर की बात काटते हुए बिफरकर कहा—आप लोगों के दिमाग के ठेकेदार हैं ?

इंस्पेक्टर साहब को बड़ा ताव आया। इस सरकश लौंडे की यह मजाल कि पुलिस इंस्पेक्टर हरबंस सिंह से बदज़बानी करता है।

बोले—हम तलाशी ले रहे हैं। लड़के को मना कर दीजिए वर्ना ठीक न होगा।

तैश तो प्रफुल्लबाबू को भी बहुत आ रहा था। उनके मुँह पर बात आते आते रुक गई—चढ़ा दीजिए न फांसी पर! लेकिन बात खामखा बढ़ जायगी, इसलिए उन्होंने जब्त करके ज्योती से कहा—खोका, तुइ एखानथेके जा। एंदेर जा खुशी करते दे।

ज्योती बहुत बेमन से बाहर चला गया।

फिर प्रफुल्लबाबू ने इंस्पेक्टर से कहा—ये सभी किताबें जो आप ले जा रहे हैं खुले आम बाजार में बिकती हैं। अच्छा हो कि आप एक बैलगाड़ी लेकर निकलें और शहर की तमाम दूकानों से इन किताबों को बटोर लें—खुले आम, आपकी नाक तले बग़ावत फैला रही हैं ये किताबें! ....

इंस्पेक्टर साहब पर इस व्यंग का कोई असर नहीं हुआ। तब प्रफुल्लबाबू ने कहा—इन किताबों को ले जाने का आपको कोई हक़ नहीं है। ......

इस बात से इंस्पेक्टर साहब की शान पर हर्फ़ आता था, ब्रिटिश सल्तनत का सारा जलाल उनके चेहरे पर रौशन था।

प्रफुल्लबाबू की इस बात को वह हज़म नहीं कर सके। बोले—हमको सबकुछ ले जाने का हक़ है। हम चाहें तो आपकी तमाम किताबें उठा ले जा सकते हैं। आपको एतराज़ करना हो तो सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस के यहाँ एतराज कर सकते हैं। सरकार जिन किताबों को ठीक समझेगी आपको वापस कर देगी।

इतनी झड़प के बाद इंस्पेक्टर साहब ने अपना काम हो गया समझा और जो किताबें वह अपने साथ ले जा रहे थे, उनकी फ़ेहरिस्त पर दस्तखत करके वह चले गये।

उनके चले जाने पर प्रफुल्लबाबू के चेहरे पर सच्ची मुस्कराहट आयी।

इंस्पेक्टर साहब को असल में जिन चीज़ों की तलाश थी, वह सब गुप्त कागज़-पत्तर गश्ती चिट्ठियाँ लोगों के नाम वग़ैरह बड़ी देर के जलकर राख हो चुके थे।

अमूल्य की गिरफ्तारी की खबर मिलते ही प्रफुल्लबाबू ने सबसे पहले इस क़िस्म के तमाम कागज़ात को आग के हवाले कर दिया था। और गो गिरफ्तारी के घंटे भर के अंदर ही तलाशी आई थी मगर तब तक हर चीज़ यथास्थान पहुंच चुकी थी।

अमूल्य की गिरफ्तारी की सबसे पहली चोट पड़ी उसकी माँ पर।

पुरुषोत्तमदास टंडन पार्क की मीटिंग के ठीक बाद अमूल्य को गिरफ्तार किया गया। वह अचानक गिरफ्तारी नहीं थी। काफ़ी पुलिस फ़ोर्स मौक़े पर मौजूद था।

यह मीटिंग माउंटबेटेन योजना का विरोध करने के लिए बुलाई गई थी। जैसा कि अमूल्य ने अपने भाषण में कहा—माउंट-बैटेन योजना वाक़ई मनबाँटन योजना है—ब्रिटिश साम्राज्य की आखरी साजिश, हिन्दुस्तान में अपने पैर टिकाये रखने की।

दोस्तो, ब्रिटेन का शासक वर्ग दुनिया का सबसे चालाक सबसे धूर्त शासक वर्ग है, वक्त की नब्ज़ पहचानने में और उसके मुताबिक नये नये जाल रचने में उसका कोई जोड़ नहीं है। ब्रिटिश शासन का इतिहास गवाह है कि जब जब उसके ताज पर कोई संकट आया है, उसने अपनी हुकूमत के असली तत्व को पूरी तरह बचाते हुए कुछ ऊपरी रद-बदल करके, आए हुए संकट को टाल दिया है।

और दोस्तो, यही इस बार हो रहा है। हिन्दोस्तान इस वक्त बगावत की लहरों पर खेल रहा है। यह तूफानों का युग है जिसके बीच से हम गुज़र रहे हैं। हमारे इस अग्नियुग की कहानी हमारी अगली पीढ़ियाँ गर्व के साथ सुनायेंगी। भविष्य बतलायेगा कि कैसे हिन्दोस्तान की इंक़लाबी जनता ने सर पर कफ़न बाँध कर अपनी आज़ादी की लड़ाई लड़ी, कैसे उसने अपने गर्म ताज़े जवान खून से अपनी स्वाधीनता देवी की चूनर को लाल किया, उसके माथे पर रक्त-कुंकुम का जयतिलक लगाया, अपनी आज़ादी की राह को अपने खून से नहलाया, किस बेमिसाल बहादुरी से ब्रिटिश गोलियों और संगीनों के सामने अपने सीने ताने। चीज़ आँख के बहुत पास होती है तो दिखाई नहीं देती। इसलिए मुमकिन है कि इस वक्त हमारी आँखों के सामने हमारे देश में जो कुछ हो रहा है, दुनिया की क्रान्ति के इतिहास में जो खून में भीगे हुए और गोलियों से छिदे हुए नये वर्क़ जुड़ रहे हैं, उनका ठीक ठीक मतलब हमारी समझ में न आये, उनका ठीक ठीक रंग हमारी आँखों की पुतलियों पर न उतरे। मगर भविष्य ठीक ठीक कहानी कह सकेगा क्योंकि वह ज़रा दूर से इन चीज़ों को देखेगा। जुलूस में चलने वाला आदमी नहीं जान पाता कि जुलूस कितना बड़ा है, उसके हौसले कितने बुलन्द हैं। हम सब तो जुलूस के अन्दर हैं इस-लिए हमारे लिए कुछ कह पाना मुश्किल है। मगर मैं फिर कहता हूं कि भविष्य कहेगा क्योंकि उसने इतिहास के टीले पर खड़े होकर इस जुलूस को नयी ज़िन्दगी के सैलाब की तरह बहते हुए देखा होगा।

दोस्तो, सदियों से आग को अपने सीने में दबाए यह ज्वालामुखी अब फट रहा है क्योंकि अब यह आग सीने में दबाए से नहीं दबती। सदियों से गुलामी का तौक़ गले में डाले डाले अब हिन्दुस्तान की

आज़ाद रूह उस हालत को पहुंच गई है जब वह या तो इस मनहूस तौक़ को काटकर अलग कर देगी या अपनी गर्दन ही काट देगी, जिसमें वह तौक़ न रहे, और अगर हम नहीं तो हमारी सन्तानें आज़ाद इन्सानों की तरह साँस ले सकें। हम वीरों की सन्तान हैं, अर्जुन और भीम, राणा प्रताप और शिवाजी, सिराज और हैदर और टीपू, झांसी की रानी लक्ष्मीबाई और तात्या टोपे, भगतसिंह और आज़ाद और सूर्यसेन का खून हमारी रगों में बह रहा है। जगे हुए स्वाभिमान के देश का भविष्य भी सोता नहीं रहता, वह एक न एक रोज़ जागता है और काँटों से बिंधा हुआ अपना लहूलुहान सिर उठाता है और निहारता है रणक्षत्र को, बलिभूमि को, अपनी वीरप्रसविनी धरती के आक्षितिज प्रसार को। उसकी बोटी बोटी अलग की जा सकती है मगर उसे गुलाम नहीं रखा जा सकता। वीरों के रक्त में सनी हुई हमारी मिट्टी भी आज इसी पुरानी कहानी को फिर से कह रही है।

अमूल्य को इस तरह अपना गिरफ्तार हो जाना बहुत खला। वह रह रह कर दिल ही दिल में अपने ऊपर हज़ार हज़ार लानतें भेज रहा था—यह भी कोई बात हुई, चूहेदानी में चूहे की तरह फंसकर रह गये! वाह, यह तो कोई इंकलाबियों के तरीके नहीं हैं, इस तरह से कान पूंछ दबाकर जेल चले जाना, यह तो काँग्रेसी लीडरों का तरीक़ा है। उहुंक् अमूल्य स्वीकार करो जे तुमि भीतू (स्वीकार करो कि तुम डरपोक हो।)

यह ख़याल आते ही इसके साथ साथ एक इरादा उसके दिल में बिजली की तरह चमक गया। बरसात की अंधेरी रात में जैसे एक बार बिजली के चमक जाने से राही को आगे का रास्ता काफ़ी दूर तक दिख जाता है, वैसे ही अमूल्य को भी आगे का रास्ता

काफ़ी दूर तक दिख गया। उसके आगे घनघोर अंधेरा था मगर अभी से उसकी चिन्ता क्यों करे? अभी फिर बिजली चमकेगी और फिर और आगे का रास्ता दिख जायेगा। अभी तो जो रास्ता दिख गया है, उसी पर चलना है।

पुलिस की हिरासत से निकल भागने का खयाल अपने आप में खासा बेवकूफ़ी और पागलपन से भरा हुआ खयाल था। लेकिन इतना ही कहकर इससे छुट्टी ले लेना ठीक न होगा। दुनिया में ज्यादा-तर बड़े कामों की तह में कोई न कोई ऐसा ही खयाल रहा है जिसे ज़माने ने बेवकूफ़ी और पागलपन से भरा हुआ तसव्वुर किया था, मगर जब वो नया खयाल या इरादा कारगर हुआ तो सबको राय बदलनी पड़ी। वह तो वही बात है, कामयाब बग़ावत को इंक़लाब कहते हैं, नाकामयाब इंकलाब को बग़ावत कहते हैं! वह तो खैर कोई बात नहीं। असल चीज़ यह है कि साले वैन नहीं लाये हैं और पैदल ही ले जायंगे और सूरजकुंड के पुल के बाद मार भीड़ ही भीड़ मिलेगी चौक की कोतवाली तक। वहीं तो रक्खेंगे शायद रात को, कहीं कल दोपहर तक नैनी-वैनी भेजेंगे। तो दोस्त उस भीड़ में लापता हो जाने की गुंजाइश तो है, बस थोड़ी हिम्मत दरकार है!

ये सारे खयाल आँधी की तरह अमूल्य के दिमाग़ में चल रहे थे।

बच्चू, निकल गये तो ठीक वर्ना वह करारी पिटाई पड़ेगी कि छठी का दूध याद आ जायेगा। ऊंह।

अपने भीतर के उस परमज्ञानी कायर व्यक्ति को अमूल्य ने इससे ज्यादा जवाब देना ज़रूरी न समझा।

इरादा अब पक्का था। कोशिश तो की ही जाय, आगे जो होगा देखा जायगा।

पुरुषोत्तमदास पार्क से चौक कोतवाली तक की कैदी की मार्च शुरू हुई। अमूल्य ने अपने आप को हथकड़ी नहीं लगाने दी। पुलिस की तरफ से यह प्रस्ताव काफ़ी कमज़ोर गले से आया था, लिहाज़ा जब अमूल्य ने डटकर उसका विरोध किया तो वह जल्दी ही गिर गया। अमूल्य को आगे पीछे अगल बगल से घेर कर पुलिसमैन चलने लगे, खासे चौकन्ने होकर। कोई सौ गज़ गये होंगे कि अमूल्य ने कहा—मुझे पेशाब करना है।

अमूल्य ने शंका निवारण के लिए बैठे बैठे अपने मन में कहा—वह ऐतिहासिक क्षण आ गया, निश्चय का क्षण, संकल्प का क्षण, कर्म का क्षण। जो होगा इसी क्षण होगा वर्ना..... नहीं होगा, दूसरा क्षण नहीं आयेगा।

अमूल्य को कमज़ोरी सी महसूस हुई, जैसे किसी ने शीशे की नली लगाकर यकबयक उसका सारा खून खींच लिया हो। दिल ज़ोर से धड़कने लगा, पैर में हलकी सी कंपकंपी भी मालूम हुई और ऐसा भी लगा कि जैसे उसके शरीर से घड़ों पसीना जा रहा है। बातें तो बहुत हो चुकीं, यह संकल्प और कर्म का क्षण था, उसकी परीक्षा का क्षण जब उसे अपने पौरुष का प्रमाण देना था, दूसरे किसी को नहीं खुद अपने आप को। और उसी परीक्षा के क्षण में उसके दिमाग़ के अन्दर धुंध छाने लगी, पैर के तलुए में गुदगुदी सी महसूस होने लगी, नाना संशयों और विकल्पों की छलनी में से हृदय का साहस तेज़ी से चू चू कर खत्म होने लगा, कमज़ोर चित्त भ्रमित होने लगा। उस समय उसके मन ने उसे परामर्श दिया—भाग सकोगे? देखो दो डग पर भी तो नहीं हैं सब? और कितने हैं! इनके चंगुल से निकल पाना मुश्किल है! और भागकर जाओगे कहाँ? कौन ठहरायेगा तुमको अपने घर में? सब दुतकार देंगे! लोग बड़े

बुज़दिल हूँ! गिरफ्तारी के लिए इनाम घोषित हो जायगा...भागते राह न मिलेगी....और नतीजा भी क्या, कुछ काम भी तो नहीं कर सकोगे बस अपनी जान बचाने में ही तुम्हारी सारी ताक़त खर्च हो जायगी.....जेल में आदमी लिखने पढ़ने का काम ढंग से कर सकता है और लिखे पढ़े बग़ैर आदमी की कहीं पूछ नहीं होती....हाँ हाँ, इंक़लाबी तहरीक में भी नहीं....कहीं भागे और पैजामे में टाँग फंस गई तो....कहीं घबराकर इंस्पेक्टर ने पिस्तौल ही चला दी तो....

इन संशयों दुविधाओं ने अमूल्य के अंग अंग को जैसे मोटे मोटे रस्सों से लेकर जकड़ दिया, जैसे अपने ही अंगों पर उसका कोई बस न हो। ....सच बात है ताक़त से ज्यादा कमज़ोर और कमज़ोरी से ज्यादा ताक़तवर कोई चीज़ नहीं होती—ताक़त है कि मिनटों में हवा हो जाती है और कमज़ोरी है कि उसका ज़ोर प्रतिपल बढ़ता ही जाता है। अमूल्य की इस वक्त वह हालत थी जो दहशत खाए हुए आदमी की होती है जिसको अपने ऊपर इतना क़ाबू भी नहीं रह जाता कि भाग ही जाय। सारे तर्क उसे भागने की व्यर्थता ही सुझा रहे थे।

लेकिन अमूल्य का मन हारते हारते भी इतनी जल्दी हारने वाला नहीं था। इंकलाबी तहरीक का उसका बरसों का अनुभव उसकी मदद को आया। जितने क्रान्तिकारियों की कहानियाँ उसने पढ़ी थीं, उन सब के चेहरे उसकी आँखों के आगे क़तार बाँधकर आने लगे, जितने साहसी हिम्मतवर लोगों के सम्पर्क में वह इतने बरसों में आया था, उन सब की आवाज़ें जैसे उसके कानों में बजने लगीं और वो सब आवाज़ें उसकी कमज़ोरी के लिए उसको धिक्कार रही थीं—छी छी, यही हौसला लेकर इंक़लाब करने निकले हो! किसने

बुलाया था तुम्हें, दुबके पड़े रहते माँ की गोद में, जोरू के आँचल में! लाल झंडे पर यूं तो दाग न लगाओ! तुम तो लड़कियों से भी गये गुज़रे निकले! हमको तुमसे यह उम्मीद नहीं थी! बातें तुम बड़ी गरम गरम करते थे! बातें करना आसान है हज़रत! बस ज़बानी जमा खर्च! पहले ही इम्तहान में चीं बोल गये.... जब फ़ायरिंग स्क्वाड का सामना करना पड़ेगा, उस वक्त क्या हश्र होगा बेचारे का! ऐसे भी लोग होते हैं जिनके पैर फांसी के तख्ते पर भी नहीं काँपते। मगर वो दूसरी घात के लोग होते हैं। मध्यवर्ग के आदमी से और क्या उम्मींद की जा सकती है! हिम्मत ने जवाब दे दिया तो बहाने ढूंढ़ता है, बेहया, डूब मर चुल्लू भर पानी में! कहता है भागने से क्या फ़ायदा! फ़ायदा तो जेल में जाकर खटिया तोड़ने में है, इसमें क्या, इसमें तो सिवाय मुसीबत के और क्या हासिल! जेल जायेगा तो खायेगा-पियेगा आराम करेगा। बाहर फ़रारी की ज़िन्दगी बितायेगा तो पुलिस की आँख भी बचाना पड़ेगी और काम भी करना पड़ेगा। किसी ने ठीक कहा है—आराम बड़ी चीज़ है मुंह ढंक कर सोइये!

फिर अमूल्य की आँखों के सामने मज़दूरों की टोलियां घूम गईं, तकलीफ़ज़दा मजदूरों की, पिटे हुए, थके हुए, चुसे हुए, मस्ख चेहरे, फिर बिफरे हुए मज़दूरों की, उबलते हुए, तैश खाए हुए, लड़ने के लिए बेचैन चेहरे और सब उस आदमी की तलाश में जो उन्हें बताये कि किससे लड़ना है और कैसे लड़ना है? ये सब उसके पास आये थे और कितने विश्वास के साथ आये थे। वह क्या अपनी बुज़दिली से इस विश्वास के मुँह पर थूकेगा, कीचड़ पोतेगा? यह तो खुद अपने मुंह पर थूकना हुआ, कीचड़ पोतना हुआ! वह क्या फिर किसी को मुँह दिखाने क़ाबिल रह जायेगा, किसी से आँख मिला सकेगा, खुद अपने आपसे आँख मिला सकेगा, यह कमज़ोरी क्या

ज़िन्दगी भर उसको कोंचती नहीं रहेगी ? ऐसा ही था तो इंक़लाबी तहरीक में फिर आये ही क्यों थे ? कहीं नौकरी करते खाते-पीते मौज से पड़े रहते ! आग और काँटों की राह चुनी तो फिर यह पहली ही लपट से कैसे झुलस गये, पहले ही काँटे से ऐसे कैसे लंगड़े हो गये ! कि पैर उठते ही नहीं कि जैसे किसी ने उन्हें बाँध दिया हो कि जैसे आदमी में इतनी ताक़त न हो कि झटक कर अपने पैरों को आज़ाद कर ले और दिमाग़ की आँखें निकालकर पैरों को लगा दे और बस भाग चले, बेफ़िक्री से. बेतहाशा....आगे जो होना हो हो .....मेरी ज़रूरत बाहर है मुझे जेल में नहीं सड़ना है...हाँ तो फिर अब देर काहे की ....बहुत दूर खड़े हैं पुलिसवाले....दो छलांग में तो तुम पुल पार हो जाओगे फिर भीड़...गलियाँ... मकान.......लोग ..... और फिर चांस, इत्तफ़ाक, जिसने न जाने कितनों को बचाया है !

हथकड़ी भरकर अमूल्य को कोतवाली पहुंचाया गया। इंस्पेक्टर ने कोतवाल को रिपोर्ट दी : हुजूर, बड़ा खतरनाक आदमी है और बहुत धोखेबाज़। बैठा हाजत रफ़ा करने के लिए और भाग निकला। वह तो कहिये हुजूर बड़ी खैर हुई कि हमारे जवान खुसूसन् कान्स्टिेबिल रामइक़बाल और वलीउल्ला ने बड़ी मुस्तैदी दिखलायी वर्ना यह बदमाश निकल गया था। यह जा, वह जा....मगर हमारे सिपाहियों ने भी तो कच्ची गोलियाँ नहीं खेली हैं, पलक मारते जा पकड़ा और फिर वहाँ से हम लोग इसे हथकड़ी भरकर ला रहे हैं। बड़ा ज़ोर लगाया इसने कि हथकड़ी न लगे मगर क्या करते हमने हथकड़ी लगा ही दी। कहता था मैं सियासी कैदी हूं, मुझे हथकड़ी नहीं लग सकती....सियासी कैदी हूं। यह सियासी कैदी है, ज़रा

इनकी शकल देखिए, गुंडे, बदमाश....अभी मरम्मत होगी तो आटे दाल का भाव मालूम होगा !

कोतवाल साहब ने कहा—अलग ले जाकर जरा इनकी मिजाज-पुर्सी करो !

शाम का वक्त था। अंधेरा घना हो आया था जब एक आदमी ने प्रफुल्लबाबू के यहाँ दस्तक दी। यह अमूल्य की गिरफ्तारी के चौथे रोज की बात है। ज्योती कहीं बाहर गया हुआ था। टुटु तो इधर महीनों से नौकरी के चक्कर में इधर-उधर मारा मारा घूम रहा था। प्रफुल्लबाबू ने ही आकर दरवाजा खोला।

उस आदमी ने पूछा—प्रफुल्लकांति बैनर्जी का मकान यही है ?

प्रफुल्लबाबू उसे ऊपर से नीचे तक देखकर अंदाज लगाने की कोशिश कर रहे थे कि यह कहाँ का आदमी हो सकता है। बोले—कहिए क्या काम है ? मैं ही प्रफुल्ल बैनर्जी हूं।

उस आदमी ने इधर-उधर सतर्क निगाहें दौड़ाकर कहा—मैं नैनी सेन्ट्रल जेल से आ रहा हूं। आपके लड़के ने यह चिट्ठी दी है।...कहकर उसने बड़ी होशियारी से अपनी टेंट में से एक दस परत किया हुआ छोटा सा पुरजा निकाला और प्रफुल्लबाबू के हाथ में दिया।

प्रफुल्लबाबू ने उसे अन्दर आने के लिए कहा और उसको तखत पर बैठने के लिए इशारा करते हुए पुरजे की परतों को खोलना शुरू किया। पुरजे में अमूल्य ने बंगला में लिखा था—

बाबा, यह आदमी जो तुम्हारे पास यह चिट्ठी लेकर जा रहा है, हमारा पुराना हमदर्द है और बहुत विश्वसनीय आदमी है। यह हमारी बारिक का एक सिपाही है। इसे दो रुपया दे देना। इस आदमी के जरिये बाहर के संग हमारा सम्पर्क बना रह सकता है।

बाबा, उस दिन मैंने भागने की कोशिश की थी, लेकिन सफल नहीं हुआ। मेरी ही ग़लती थी। एक तो बड़ी देर में मैंने भागने का निश्चय किया, दूसरे ऐन मौक़े पर जब निश्चय को कर्म में बदल डालने का वह अंतिम मुहूर्तांश आया, जब नाना विचारों और कल्पनाओं और विकल्पों, ऐषणाओं और संदेहों की अनेकानेक चादरें झर गयीं और कर्म की नंगी चमचमाती हुई तलवार मेरे सामने आयी कि लो अब इस पर चलो तो उसकी धार देखकर मेरे पैर काँप गये, आतंक ने मेरे पैरों में जंजीरें डाल दीं.....जैसे कर्म पवित्र अग्निशिखा हो और मैं फूस का एक तिनका और तिनके को अग्नि-शिखा के आलिंगन से डर लग रहा हो, वह आलिंगन जो सब मिलावट को क्षार कर देता है....पर तभी मुझे तुम अपने सामने खड़े दिखाई दिये, आँखों में ग्लानि और रोष और ओठों की उस थोड़ी सी बंकिम आकृति में, धिक्कार....मैंने शैथिल्य और आतंक की उन जंजीरों को अपने मन की सारी शक्ति लगाकर एक जोर का झटका दिया और एकदम भाग निकला मगर वह कच्चा धक्धक् करता हुआ मन था जो बहुत देर तक मेरा साथ नहीं दे सकता था, छेदों वाली गगरी में कहीं पानी टिकता है ? मैं भागा तो लेकिन फिर एक गली में पहुंच कर मेरी अक़ल गुम हो गयी और मेरी समझ में नहीं आया कि कहाँ जाऊं क्या करूं। दुबिधा और कर्म कभी साथ साथ नहीं जाते इसलिए जैसे ही मैं दुबिधा में पड़ा मेरे पैर रुक गये एकदम, जैसे दलदल में फँस गये और उसी हालत में पुलिस वालों ने मुझे आ पकड़ा। फिर सब हथकड़ी लगाकर मुझे कोत-वाली ले गये और वहाँ मेरी खासी मरम्मत की। मगर घबराना नहीं हाथ पैर नहीं टूटे और न कहीं कटा फटा। सब ठीक है। हाँ रह रह कर एक यही कीड़ा मुझे कुतर रहा है कि हमारे अन्दर जो पेटी बुर्जुआ है वह कितना ताकतवर है कि किसी तरह नहीं मरता। यह

दुबिधा यह संशय, यही तो खास पहचान है पेती बुर्जुआ की।...

प्रफुल्लबाबू ने अमूल्य की चिट्ठी पढ़ी। एक लम्बी साँस ली। रूमाल से नाक साफ की। और उसी वक्त चिट्ठी के टुकड़े टुकड़े कर दिये। एक तो इसलिए कि ऐसी चिट्ठियां यों भी कभी घर में नहीं रखनी चाहिए दूसरे इसलिए कि उन्हें अमूल्य की माँ से डर था कि अगर वह कहीं चिट्ठी देख लेगी तो रो-रोकर जान दे देगी। उनको अब भी बदस्तूर दिल के दौरे पड़ते थे। प्रफुल्लबाबू हमेशा बड़ी सावधानी बरतते थे कि ऐसी कोई बात न हो जाय जिससे उनकी पत्नी के दिल को धक्का लगे।

मगर हुकूमत ऐसी कोई सावधानी क्यों बरतने लगी और उसे भला अमूल्य की माँ की क्या फिक्र। मरनी हो मर जाय, कल की मरती आज ही मर जाय! हुकूमत तो अपनी राह चलेगी। लिहाजा नौ रोज बाद ज्योती भी पकड़ लिया गया—रात को पोस्टर चिपका रहा था।

ज्योती अपनी माँ की आँख का तारा था, उनका दुलारा लाड़ला। सबसे छोटा था और सबसे छोटे लड़के पर माँ का विशेष प्यार होता ही है।

उधर ज्योती का पकड़ा जाना था कि इधर माँ ने खाट पकड़ ली, दिल के भयानक दौरे पड़ने लगे। उस हालत में खाने पीने की विशेष सावधानी बरतने की जरूरत होती है लेकिन ज्योती की माँ ने तो खाना पीना एक तरह से छोड़ ही दिया—कभी बड़ी जोर-जबरदस्ती करने पर पाव भर दूध पी लिया तो कभी चाय पर ही काट दिया। कभी दाल छुला छुलाकर थोड़ा सा भात जहर की तरह गले के नीचे उतार लिया तो कभी वह भी नहीं। उनकी हालत रोज बरोज गिरती जा रही थी मगर उन्हें इसकी कोई परवाह नहीं

थी। वह तो तिल तिल करके आत्मघात की ओर बढ़ रही थीं। उनकी तो हालत पागलों जैसी थी जिसे अपने तन बदन की कोई सुध नहीं होती। मगर इसमें असल मरन थी प्रफुल्लबाबू की जिन्हें सबकी संभाल करनी पड़ती थी। अब इन दिनों उनका बस एक प्रोग्राम रह गया था—कालेज जाना और कालेज से लौटकर पत्नी के पास बैठे रहना और उनका दिल बहलाने की कोशिश करना ताकि वह ज्योती की बातों को याद करके रोने न लगें। प्रफुल्लबाबू ने सब जगह आना जाना छोड़ दिया—घर से कालेज, कालेज से घर। कभी कभी उन्हें खुद अपनी जिन्दगी पर बहुत झुँझलाहट आती, जिसे चौबिस में अठारह घंटे किसी मरीज़ की तीमारदारी करनी पड़ेगी, वही पागल हो जायगा।......मगर तब भी प्रफुल्लबाबू के माथे पर एक शिकन किसी ने न देखी होगी।

ज्योती की एक काले रंग की बिल्ली है चंचला जिसे वह बहुत प्यार करता था। अब ज्योती के जेल चले जाने पर माँ ने ज्योती के प्रति अपनी अशेष ममता को पूरा पूरा चंचला पर बिखेर दिया। वह उसको बड़े प्यार से अपनी गोद में लिटा लेतीं और दूध-भात खिलातीं जैसे चंचला के रूप में वह खुद ज्योती ही हो। जरा देर को भी अगर चंचला कहीं बाहर चली जाती तो ज्योती की माँ परेशान हो जातीं। चंचला के रूप में ज्योती का जो अंश उनके पास बच रहा था, उसको वह अपनी ममता की घनी छांव के बाहर छन भर के लिए भी नहीं जाने देना चाहती थीं, मगर चंचला तो चंचला, वह भला कैसे कोई अनुशासन मानती। यों ज्योती के वियोग का असर उस पर भी स्पष्ट था। चंचला काफ़ी अनमनी रहती, घर में उसे अच्छा न लगती, इसलिए वह अक्सर बाहर निकल जाती, लेकिन ज्योती की माँ के लिए अब वही चीज़ असह्य थी। अपनी तकलीफ़ को भूलने का उनके पास अब वही एक सहारा था। चंचला को प्यार से आराम

से रखकर उनको लगता था कि जैसे वह ज्योती को ही परोक्ष में सुख पहुंचा रही हैं। लिहाजा जब तक वह चंचला से खेलती रहतीं या उसका कोई काम करती रहतीं तब तक तो उनकी तबीयत ठीक रहती वर्ना उनकी आँखों के आगे बस वही नक्शा नाचता रहता कि पुलिस वालों ने ज्योती को कैसे पकड़ा होगा, कैसे ज्योती ने विरोध किया होगा, फिर कैसे पुलिस वालों ने ज्योती को पीटा होगा, फिर ले जाकर कोठरी में बन्द किया होगा। पता नहीं क्या खाने को दिया होगा। ज्योती जो खाने में इतने हजार नखरे करता है उससे भला वह खाना खाया जायगा? फिर वहाँ भला कौन होगा जो उसे मनाये-फुसलाये, भूखा सो रहता होगा, कोई एक बात भी न पूछता होगा। कैसे हत्यारे हैं ये पुलिस वाले जो नन्हें से बच्चे को पकड़ ले गये, वह पता नहीं कहाँ उनका राज उलटे दे रहा था।...अमूल्य की बात अलग है। अमूल्य बड़ा हुआ। उस पर जो पड़ेगी सब सह लेगा। मगर ज्योती तो अभी बच्चा है......

और बस जहाँ इन सब खयालों की भीड़ बढ़ी नहीं कि उनका दिल धड़ धड़ धड़ धड़ धड़कने लगता, चेहरा एकदम जर्द हो जाता, आँखें मुँदने लग जातीं और वह निश्चेष्ट होकर बिस्तर पर लेट जातीं और उसी तरह लेटी रहतीं और प्रफुल्लबाबू उनके सिरहाने बैठे पंखा झलते रहते। और यूं ही घंटों गुज़र जाते। बड़ा कठिन इम्तहान था जिसके बीच से प्रफुल्लबाबू को गुजरना पड़ रहा था लेकिन इस असाधारण विषम स्थिति में भी उनके जीवन में कोई व्यतिक्रम नहीं आने पाया था और न कोई रोना-कलपना। दो दो लड़के जेल में हैं तो हों, बीबी को दिल के भयानक दौरे पड़ रहे हों तो पड़ें, एक लड़का बेकार इधर-उधर टक्कर खाता घूम रहा हो तो घूमे, खर्च के मामले में तंगी हो रही हो तो हो। बहरहाल मुझसे जो कुछ भी करते बन पड़ रहा है, मैं कर ही रहा हूं, घबराकर

जान दे देने से तो कुछ हासिल नहीं। जीवन जो कुछ है इन सारी चीज़ों को ले-देकर ही तो है। इसलिए इन्सान पर जो पड़े उसे हँसते हँसते झेलना चाहिए और जीवन को सही माने में जीना चाहिए, झींखझींखकर जीना भी किस काम का, उससे तो अच्छा है संखिया खाकर सो रहे। यह बिलकुल सच बात है कि एक व्यावहारिक तरह की स्थितप्रज्ञता प्रफुल्लबाबू ने पा ली थी। इसलिए जीवन के उस गाढ़े कर्दमयुक्त जल में उनकी स्थिति रक्त कमल जैसी थी। अमूल्य की चिट्ठी पढ़कर उनको लगा कि जैसे किसी ने अचानक हुमककर एक घूंसा उनकी पीठ पर जड़ दिया और उनकी कमर तोड़ दी। उनका दिल भी भर आया यहाँ तक कि उनको नाक साफ़ करने की ज़रूरत पड़ी। लेकिन वह कैफ़ियत बहुत देर तक नहीं रही। जल्दी ही उन्होंने अपनी इस नयी तकलीफ़ पर भी क़ाबू पा लिया, ज्यादा देर नहीं लगी, उन्हें खुद अपनी जवानी के दिन याद आ गये जब वह बायें हाथ की हथेली पर अपना सर और दाहिने हाथ में रिवालवर लेकर आतंकवादी आन्दोलन में काम करते थे। उस वक्त उनको महसूस हुआ कि ज़िन्दगी की यह सदाबहार बेल सदा इसी तरह हरी होती चलती है और कभी नहीं मुरझाती, एक के हाथ में दूसरे का हाथ, जीवन्त परम्पराओं की श्रृंखला यही है। अमूल्य नया कुछ नहीं कर रहा है, वह सब कुछ हो चुका है और आगे भी होगा, अमूल्य की सन्तानें भी करेंगी और यह सिलसिला चलता रहेगा चलता रहेगा जब तक ...

तभी ज्योती की माँ कराहीं और प्रफुल्लबाबू पानी का गिलास लेकर उनकी ओर लपके। यही ज़िन्दगी के पंक्चुएशन मार्क्स हैं!

सत्य की राह देखते देखते उषा हार कर बिस्तर में लेट चुकी थी। दस का घंटा न जानें कब बजा था !

तभी सत्य दबे पाँव दाखिल हुआ। सत्य को आया जान उषा और भी करवट बदल कर लेट रही, कुछ इस तरह कि जैसे बहुत पक्की नींद में सो रही हो।

उषा को सोता देख सत्य सबसे पहले रसोई घर में गया। खाना सब ज्यों का त्यों ढँका-मुंदा रखा था। अब सत्य को बड़ी उलझन मालूम हुई कि खाना सब का सब रखा है और उषा बग़ैर कुछ खाये पिये सो गई। मगर वह उषा को जगाये तो कैसे, बहुत चिढ़कर सोई होगी और आँख खोलते ही सबसे पहले जंग होगी! देर से घर आने के कारण सत्य को अपनी जगह डर तो मालूम ही हो रहा था। तो भी यों ही आजमाने के लिए उसने डरते डरते हवा में यह जुमला फेंका—सो गईं उषी ?

उधर उषा दम साधे, सोने का नाटक किये पड़ी तो थी मगर उसे चैन कहाँ, वह तो लड़ने के लिए, जली-कटी सुनाने के लिए तिल-मिला रही थी। लिहाजा सत्य के मुँह से बात का निकलना था कि उषा भी चुप न रह सकी और पट से बोल पड़ी—नहीं, मुझे भला नींद कहाँ आती है ? और क्यों आये !

—लाख किया मगर देर हो ही गई आज, उषा......

—अभी बजा ही क्या जो देर हो गई! मुश्किल से दस बजा होगा, न बारह न एक। दस बजे तो आजकल शाम होती है!

—जितने ताने चाहे दे लो उषी!

—मेरी मजाल कि मैं तुमको ताने दूं! स्त्री का तो धर्म ही है पति-सेवा। पति रात के चाहे किसी पहर में घर लौटे पत्नी को कभी सोते हुए नहीं मिलना चाहिए, पाप पड़ता है!

—बहुत भरी बैठी हो आज उषी?

—भरी कहाँ बैठी हूँ, उसके लिए भी फ़ुरसत चाहिए। मैं तो थककर चूर सो रही थी, नाहक़ जगा दिया तुमने, खाना खुद ही निकालकर खा लेते!

—मैं तो खा लेता मगर तुमको नहीं खाना है?

—नहीं, मुझे भूख नहीं है।

झूठ बोलती हो। भूख-वूख तुम्हें सब है, तुम गुस्से के मारे नहीं खा रही हो।

—अच्छा वही सही।

—वही सही के क्या माने? यह तो अच्छी रही कि तुम मुझसे मुँह फुलाकर बैठो और मैं तुमसे मुँह फुलाकर बैठूं! बात भी तो मालूम हो—एक दिन किसी को देर हो गई तो उसपर यह तूफ़ान?

—नहीं, आज की ही बात नहीं है। मैं इधर महीनों से देख रही हूं कि तुम्हें घर से बहुत कम सरोकार रह गया है। एक लौंडी तुमने खरीदकर घर में डाल दी है, वह तुम्हारे खाने-पीने की फिक्र करे, तुम्हारे बच्चे की देख-भाल करे और तुम ठाट से लीडरी करो—

—क्यों ऐसी झूठी झूठी बातें करती हो उषी, मैं कब और कहाँ जाता हूं लौंडरी करने जरा सुनूं तो !

—मैं क्या जानूं !

—तो जब जानतीं नहीं तो फिर किसी को लांछन क्यों लगाती हो ?

—मैं लांछन तो लगाती नहीं, सच्ची बात कहती हूं। रही जानने की बात, तो यह मुझे भले न मालूम हो कि आप कहाँ कहाँ जाते हैं मगर यह तो मैं रोज़ ही देखती हूं कि आप घर कै बजे लौटते हैं......

—आज एक रोज़ देर क्या हो गई तुम तो रोज़ रोज़ के लिए नाम धरने लगीं ?

—देखो अब इतना झूठ तो न बोलो, आसमान फट पड़ेगा। इसी हफ्ते बतलाओ तुम कै रोज़ वक्त से घर लौटे हो ?

—तुम्हीं बतलाओ न कब कब मुझे देर हुई ? मेरा रोज़नामचा तुम रखती हो न !

—दूसरा काम भी तो नहीं है मेरे पास ? लौंडरी का माद्दा मैं कहाँ से लाऊं !

सत्य ने बहुत झुंझलाकर कहा—यह क्या तुमने लौंडरी लौंडरी की रट लगायी है ?

—सच बात ऐसी ज़हर क्यों लगती है ?

—सच बात ! तुम तो मेरे पीछे डंडा लेकर पड़ गयी हो !

—मैं तो बिलकुल पत्थर हूं न ! मुझे कुछ बुरा भला थोड़े ही लगना चाहिए !.....पुरुष शायद शापग्रस्ता अहल्या के ही रूप

में स्त्री को प्यार दे सकता हूं, पाषाणी के रूप में, मानवी के रूप में नहीं !

सत्य ने खीझ के स्वर में कहा—मैं तुम्हारी बात समझ नहीं पा रहा हूं उषा। तुम क्या कहना चाहती हो ? तुम क्या यह कहना चाहती हो कि मैं अब तुम्हें प्यार नहीं करता ?

उषा ने दूसरी ओर ताकते हुए कहा—यह तो तुम्हीं बता सकते हो।

—मगर उषी, तुम सच सच कहो तुम्हें ऐसा तो नहीं लगता कि मैं अब तुम्हारी ओर से सर्द होता जा रहा हूं, कि मेरे प्यार में अब वह गर्मी बाक़ी नहीं रही ! ...मुझे लगता है कि ज़रूर तुम्हारे अन्दर कुछ टूट रहा है.....

अब उषी की आँखें छलछला आईं। उसने सिर्फ़ इतना कहा—मैं भी इंसान हूं सत्य.....

कहते कहते वह फफक कर रो पड़ी। सत्य पल भर हक्का-बक्का होकर खड़ा रहा। सहसा उसकी समझ में नहीं आया कि यह हो क्या रहा है।

उसने जवाब दिया—मैं तुम्हें क्या समझता हूं और क्या नहीं समझता उषा, यह मेरे दिल से पूछो।..... बहरहाल अभी तो चलो हम लोग खाना खा लें।

सत्य लगभग रात भर पड़ा पड़ा आसमान के तारे गिनता रहा, किसी तरह उसे नींद नहीं आती थी। अप्रैल के दिन थे, उन दिनों उमस यों ही बहुत होती है, और उस दिन तो खास तौर पर

बुरा हाल था। अंधेरे पाख की रात, एक पत्ता डोले नहीं और मच्छरों की भरमार। नींद कहाँ से आये। मच्छरदानी गिरा लीजिए तो गर्मी चौबाला हो गयी, रही सही हवा भी गई, मारे उमस के आदमी मर जाय, और मच्छरदानी उठा दीजिए तो मच्छर आपको उठा ले जायँ। अजीब आलम होता है। सत्य को मगर इतने सब पर भी नींद आ जाया करती है, आज अगर उसको नींद नहीं आ रही है तो उसकी वजह शायद यह बाहर की उमस ही नहीं बल्कि उसके भीतर की भी उमस है! क्या मतलब था उषा का कि पुरुष स्त्री को केवल पाषाणी के रूप में ही प्यार दे सकता है मानवी के रूप में नहीं? क्या उषा के प्रति मेरा प्यार ठंडा पड़ रहा है? मैं अपने अंतस् को टटोल कर देखता हूं, नहीं ऐसी बात नहीं है शायद। फिर? उषा ऐसी बात क्यों कहती है, उसका क्या आशय है? उषा की इस पहेली का क्या मतलब है? कहीं मेरे बर्ताव में तो कोई चूक नहीं हुई?

—क्यों, तुम्हारे दिल में कभी यह बात नहीं आती कि तुम घर हम लोगों के पास रहो, हम लोग साथ साथ बैठकर चाय पियें, फिर अरुण को छोटी सी एक प्रैम में डाल कर हम लोग पार्क में या किसी सूनी सड़क पर हवाखोरी के लिए निकल जायं?

—क्यों नहीं। किसे नहीं अच्छा लगेगा हवाखोरी के लिए जाना और फिर उषी के संग ....

उषा ने कहा—देखो, बातें मत बनाओ। मैंने तुमसे चिकनी-चुपड़ी सुनने के लिए नहीं सच्ची सच्ची बात सुनने के लिए यह सवाल किया है। मेरे दिल में कई बार यह सवाल उठा क्योंकि मुझे लगता है, बारबार लगता है कि तुम हम लोगों की तरफ से उदासीन हो, यह नहीं कि नाराज हो या ऐसी कोई बात है, बस, उदासीन हो,

हम लोगों के संग-साथ का कुछ खास मूल्य नहीं है तुम्हारी आँखों में।

सत्य ने कहा—नहीं, ऐसी बात नहीं है उषा ! .....बात असल यह है कि मैं खुद ऐसी शामों के लिए तरसता हूं जब मैं खामोशी से तुम लोगों के संग रह सकूं, कहीं आना-जाना न हो और आना-जाना भी हो तो यों ही कहीं घूमने-फिरने बस हमीं लोग, किसी सूनी दिशा में। मगर कहाँ है प्रेम ? और मान लो प्रेम किसी भांति जोड़े-बटोरे हो भी जाय, तुम्हारे पिता जी ही दे दें, तो कहाँ है फ़ुरसत ?

उषा ने कहा—कवियों की तरह बहकी बहकी बातें मत करो, सीधी सच्ची बात कहो।

—वही तो कह रहा हूं। सीधी सच्ची बात ही तो है यह कि मैं ऐसी शामों के लिए ललकता हूं, मगर ये शामें अपने लिए हैं कहाँ ? इन शामों पर अपना क्या अधिकार है ? जिनके लिए ये शामें हैं वे उनका इस्तेमाल करते हैं, बाक़ी जिनके लिए ये शामें हैं ही नहीं वे अगर नाहक़ उन शामों पर अपनी लालसा भरी आँखें गड़ायें तो फ़ायदा ? बाज़ार जाओ तो कैसी कैसी खूबसूरत चीजें शोकेस में रखी दिखाई देती हैं मगर जब गिरह में पैसे न हों तो फिर ललचाई निगाहों से उन चीज़ों को बारबार देखने से क्या हासिल ? यही बात इन शामों की भी है। उषी ये शामें हमारी नहीं हैं। ये शामें उनकी हैं जो भाग्यशाली हैं, जिनके पास पैसा है जिनके पास फ़ुरसत है।

उषा ने कहा—एकदम ऐसी बात नहीं है। तुम चाहो तो ये शामें तुम्हारी भी हो सकती हैं।

—उषी, बात मेरे चाहने की नहीं है, यथार्थ की है। चाहने को मैं चाह सकता हूं कि आसमान के तारे तोड़ लूं और उन्हें फूलों की तरह

तुम्हारे बिस्तर पर बिखेर दूं मगर यथार्थ तो यह है कि उन तारों तक पहुंचने की कोई डोर मेरे पास नहीं है। और न मेरे हाथ में उनको तोड़ने की ताकत। मैं लाख चाहूं कि शामें घर पर गुज़रें मगर वह हो कैसे? पहले तो ड्यूटी है। महीने में पन्द्रह रोज़ तो यों ही निकल जाते हैं जब मुझे पाँच बजे शाम से बारह-एक बजे रात तक ड्यूटी करनी पड़ती है। बाक़ी रोज़ जब दिन की ड्यूटी होती है तब भी शामों को अक्सर काम निकल आता है, उसका किया क्या जाय?

—करने को सब किया जा सकता है अगर आदमी में लगन हो। मगर तुमको तो अपने दूसरे टंटों से फ़ुरसत नहीं, आज पार्टी की मीटिंग है तो कल कोई पब्लिक मीटिंग है तो परसों कोई जुलूस है तो उसके अगले रोज़ कोई हड़ताल है तो फिर कभी और कुछ है....गोया हम लोग बिलकुल फोकट की चीज़ हैं जिनका तुम्हारे दिल दिमाग़ पर कोई अधिकार नहीं! अच्छा है, तुम जो करते हो समझबूझकर करते हो, ठीक ही करते होगे, मैं कोई शिकायत नहीं करती....

झूठ क्यों बोलती हो उषी, शिकायतें तो तुम्हारे चेहरे पर मोटी कूंची से लिखी हुई है......

—होगी, पता नहीं। तुम्हें इस लिखावट के पढ़ने का अवकाश तो मिला, मेरे लिए यही बहुत है!

—नहीं, तुम दिल से मुझे गुनहगार समझ रही हो....

उषी ने बात काटते हुए कहा—तो फिर?

ऐसे अप्रत्याशित रूप में अपनी बात कट जाने से थोड़ा अचकचाते हुए सत्य ने कहा—तो फिर यही कि तुम मुझे पर अन्याय कर रही हो!

तुम मुझ पर बड़ा न्याय कर रहे हो न कि घर की चारदिवारी के अन्दर लाकर बन्द कर दिया, अब मैं हँसूं चाहे रोऊं, कोई बात पूछने वाला भी नहीं !

—उषा, तुम यह क्यों नहीं देखतीं कि हम सब मजबूर हैं।

उषा ने कुछ कुछ ऊबते हुए कहा—देखो वह सब बातें मुझे मत बतलाओ। मैं यह जानती हूं कि आदमी अगर जी जान से किसी चीज़ के लिए इच्छा करे तो उसकी राह निकल ही आती है।

—तुम बिलकुल हवा में बात कर रही हो उषा। तुम बताओ कि मैं क्या करूँ ? काम पर न जाया करूं ? घुटने तोड़कर घर बैठूं ? कै दिन निबाह होगा ? सबसे पहले तो पेट का चक्कर। उसके लिए सात आठ घंटे गुलामी करो, इससे मिलो, उससे मिलो, महीने में ज्यादा नहीं तो चार छः लेख घसीटो—तब तो जाकर कहीं जैसे-तैसे पेट का मसला हल होता है। मदद मैं किसी की लेना नहीं चाहता...फिर यह भी तो आदमी के लिए मुमकिन नहीं कि सारी दुनिया से अपने को काटकर, अपने सब साथियों से अलग-थलग बस अपने पेट की चिन्ता किया करे। राकेश, निर्मलचन्द, महावीर और और भी बीसों जो मेरे जर्नलिस्ट साथी हैं, उन सब की समस्यायें भी तो यही हैं। तो फिर यह कैसे मुमकिन है कि सब लोग मिलकर अपनी माँगों की लड़ाई चलाने की भी कोई जुगत न करें। पत्रकार संघ का और क्या काम है ? पत्रकार-संघ यही सब तो करता है न ? तो फिर बताओ, उषा, मैं किससे इस बात की शिकायत करूं कि पत्रकार संघ भी मेरा काफ़ी अवकाश का समय ले लेता है......और फिर उषा, कहानी इतने पर भी तो समाप्त नहीं होती। पत्रकारों के अलावा दूसरे मेहनतकश भी तो हैं, समाज के दूसरे वर्ग भी तो हैं जो सब अपनी रोटी और बेहतरी और आज़ादी के लिए लड़ते रहते हैं। सभी मेहनतकशों की लड़ाई

एक है, इसी लिए फिर पार्टी है, उसकी रहनुमाई में चलने वाले अनेक आन्दोलन हैं—उनसे भी आदमी मुँह चुराए तो कैसे? तुम्हीं सोचो न, कहाँ है छुटकारा?

सत्य की इस कर्मसूची से उषा अभिभूत ज़रूर हो गयी, मगर उसकी दिलजमई न हुई। उसने कहा—तो ऐसे ही था तो फिर तुम्हें घर-बार की झंझट में नहीं पड़ना चाहिए था।

इस बार उषा के रूठे हुए मुखड़े को देखकर सत्य को हँसी आ गयी। बोला—नहीं यह तो कोई बात न हुई उषा, ऐसा हो तो फिर तो निन्यानबे फीसदी लोग घर-बार ही नहीं कर सकेंगे!

—तो फिर इसका मतलब तो यह हुआ कि हम लोग सारी ज़िन्दगी इसी तरह आग में जला करें।

—नहीं, यह तो नहीं हुआ इसका मतलब। मगर हाँ इसका मतलब यह ज़रूर है कि हम ज़िन्दगी के असली चेहरे को देखने की ताक़त अपने में लायें, झूठे रंगमहलों की भूल भुलैया में न पड़ें। जो हक़ीक़त है उसको कबूल करें और फिर उसी के मुताबिक़ अपनी ज़िन्दगी को समाज की ज़िन्दगी के साँचे में ढालें और फिर जी लगाकर काम करें ताकि उस साँचे को तोड़कर हम एक नया साँचा ढाल सकें।

उषा ने गहरी निराशा में डूबे हुए स्वर में कहा—मगर उसके पहले तो हमारा अन्त हो जायगा... सारी दुनिया का क़ायदा यह है कि आदमी घर में चिराग़ जलाकर मसजिद में चिराग़ जलाता है, मगर तुम्हारा हिसाब-किताब कुछ उलटा ही है, पहले मसजिद में चिराग़ जलाओ, चाहे घर अंधेरा भूतखाना ही क्यों न पड़ा रहे! होगी इसमें भी कोई मसलहत। मैं तो समझती नहीं। घर ताकने के लिए मैं तो हूं ही, जगाओ दुनिया में अलख।

इधर एक महीने से सत्य के यहाँ कोई नौकर नहीं था। उषा को ही सब कुछ करना पड़ता। एक दिन सबेरे आठ बजे की बात है, नाश्ता करने के बाद ही सत्य कहीं चला गया था और घर में उषा अकेली रह गयी थी। उन दिनों सत्य का दस से पाँच तक वाला शिफ्ट चल रहा था। ठीक समय से खाना तैयार करके देना था। लिहाजा उषा उधर चौके में थी और इधर अरुण साहब ने चिल्लाना शुरू किया। अजीब सूरत पेश थी। उधर तो दाल चूल्हे पर चढ़ी है जो आप हटे नहीं कि जली और इधर अरुण ने अपने फेफड़े की सारी ताक़त लगाकर रोना जो शुरू किया तो आसमान सिर पर उठा लिया। अस्तित्व की यह घोषणा इतने सबल कंठ से की जा रही थी कि उसकी अवहेलना बिलकुल असम्भव थी।

उषा खीझ उठी: कैसी नरक की जिन्दगी है! इससे तो मौत भली! खाना भी पकाओ, ऊपर से यह सब चिल्लपों भी सुनो... दाल को आग पर से उतार कर ज़मीन पर रखते हुए उषा बड़बड़ाती हुई बेटे अरुण को उठाने के लिए चली: अब चुप भी रह चंडाल...कुत्ते की नींद है ससुरे की, घड़ी में सोता है, घड़ी में जागता है। अभी अभी मैं सुला के गयी थी, अब यह देखो फिर उठ के बैठे हुए हैं। पता नहीं इन्हें ऐसी कौन सी फ़िकर है जो चैन नहीं लेने देती!

उषा ने पहुंचते ही उसे थपथपा कर फिर से सुला देने की कोशिश की। अरुण ने बड़े तीव्र कंठ से इसका प्रतिवाद किया। आखिर लाचार होकर उषा को उसे गोद में उठाना पड़ा। गोद में आते ही हज़रत ने एड़ लगाई जैसे घोड़े को एड़ लगायी जाती है, आशय यह था कि कैसी सुस्त जानवर है, लेकर खड़ी है, टहलती क्यों नहीं!

उषा अरुण को टहला ही रही थी जब सत्य आया।

सत्य के आते ही उषा उसपर बरस पड़ी: तुमको कभी कोई

नौकर मिलेगा या नहीं ? या मेरी जान लेकर ही तुम्हें चैन नसीब होगा ?

सत्य ने प्रसंग को कुछ खास न समझते हुए कहा—क्यों क्या हुआ ?

उषा ने वैसे ही चिड़चिड़े स्वर में कहा—होगा क्या मर रही हूं—उधर चूल्हे में सिर दिये हूं, इधर इन नवीब साहब ने अपनी शहनाई शुरू की !.....मैं अपने दो चार टुकड़े कर डालूं तो शायद बात बने !.....

सत्य ने उषा को शान्त करने की कोशिश करते हुए कहा—तुम देखती हो उषा, मैं कोशिश कर रहा हूं.....

उषा ने बात काटते हुए कहा—अजी लानत भेजो अपनी इस कोशिश पर;...चूहा बाँड़ा ही भला....इस कोशिश करने से तो न करना ही अच्छा होता....कब से सुन रही हूं यह बात तुम्हारे मुँह से मगर आज तक शक्ल न दिखायी दी किसी नौकर की, क्या खूब कोशिश है !

सत्य ने अपनी लाचारगी को जैसे अपने चेहरे पर लिखते हुए कहा—पता नहीं ये सब नौकर कहाँ गये ? लगता है सभी ने रिक्शे चलाने शुरू कर दिये हैं.....

—जी हाँ, मुझसे पूछिए, सब को साँप सूंघ गया है ! दुनिया में अब कहीं कोई नौकर रह थोड़ी गया है, सब मर-बिला गये !.....क्या फ़िज़ूल बच्चों जैसी बात-करते हो । माना कि नौकर जरा मुश्किल से मिलते हैं मगर मिलते हैं । दुनिया में सबको मिलते हैं तो एक हमीं को कैसे नहीं मिलेंगे ? मगर कोई उनको लगकर ढूंढ़े तब तो मिलें । तुमने तो शायद किसी से कहा भी नहीं होगा ! अब वह ज़माना आया है कि आदमी दस बीस लोगों

से कहकर रखता हूँ तब कहीं जाकर एक नौकर के दर्शन होते हैं... इनके दिमाग़ भी आप ही लोगों ने चढ़ाये हैं....

अब सत्य ने भी काफ़ी चिढ़कर कहा—देखो अब ज्यादा नसीहत न करो उषा। जिन जिन से मुमकिन हो सकता था, जिन जिन को मैं जानता था, उन सबसे मैंने कह रक्खा है.....हाँ यह ज़रूर है कि धूनी रमा कर मैं अलबत्ता उनके पीछे नहीं पड़ा हूं......

सत्य के इस वाक्य ने तो जैसे उषा के अंगारा छुला दिया। बोली—तुमको क्या पड़ी है कि धूनी रमाओ! धूनी तो मैं रमाऊंगी, जिसे करना पड़ता है! मुझसे हमदर्दी हो तब तो धूनी रमाओ—

यह बहस इसी तरह शायद प्रलेय के रोज़ तक चलती चलती, मगर अरुण को इस बहस में ज्यादा दिलचस्पी नहीं थी, इसलिए वह टहलते टहलते फिर सो गया था। उषा ने अरुण को पालने में सुला दिया और चौके में चली गयी।

आधी रात। निस्तब्ध वातावरण। सत्य और उषा अपने अपने बिस्तर पर लेटे हुए। अंधेरा।

मियाँ-बीबी में शाम को एक झड़प हो चुकी है। उसका तनाव। उसी के कारण दोनों जग रहे हैं।

सत्य ने कहा—उषा, तुम सदा इतनी थकी थकी और चिड़चिड़ी क्यों रहने लगी हो?

उषा ने कोई जवाब नहीं दिया।

सत्य ने कहा—मैं मानता हूं कि तुम्हें आजकल बहुत ज्यादा काम करना पड़ता है, एक दो रोज़ तो बर्तन तक माँजना पड़ा। जल्दी ही इसके लिए कुछ न कुछ करना होगा।

उषा ने फिर कोई जवाब नहीं दिया।

अंधेरे की वजह से सत्य यह भी न देख सका कि उषा के चेहरे पर कौन सा रंग आया कौन सा रंग गया। बहरहाल उसने हिम्मत करके अपनी बात कह ही डाली—देखो बुरा मत मानना उषी, मुझको ऐसा लगता है कि तुमको शारीरिक थकान तो जो है सो है ही, मगर उससे भी ज्यादा मानसिक थकान है....

उषा इस बार चुप न रह सकी। बोली—मैं तुम्हारा मतलब नहीं समझी।

सत्य ने कठोर बात कहने के अंदाज़ को मुलायम बनाने की कोशिश करते हुए कहा—मानसिक थकान से मेरा मतलब यह है कि तुम अपनी परीशानी और तकलीफ़ को बढ़ा चढ़ा कर देखने लगी हो। इसीलिए तुम जितनी थकी रहती हो उससे ज्यादा थकी हुई अपने आप को महसूस करती हो। दुनिया की कोई भी बीमारी अकेली शारीरिक नहीं होती, मानसिक भी होती है। तकलीफ़ को आदमी हँसकर झेलता है तो तकलीफ़ कम हो जाती है और उसी को अगर रो झींखकर झेलता है तो वही तकलीफ़ दसगुना बढ़ जाती है...मेरा कहने का मतलब यह है कि तुम अपने दिल में भी अपना मिलान दमयन्ती और साहनी साहब से करना छोड़ दो तो तुम अपनी इन झंझटों में भी खुश रहने लगो, तुम्हारी तकलीफ़ एक चौथाई हो जाय।

उषा ने सत्य के इस परामर्श का भी स्वागत अपने उसी अव्याहत मौन से किया।

मगर सत्य का इस सिद्धान्त में अटल विश्वास है कि कोई भी शब्द जो वायुमंडल में फेंका जाता है, व्यर्थ नहीं जाता! इसलिए उसने

अपनी बात जारी रक्खी (अच्छी एकतरफ़ा बातचीत थी मगर यह भी) : उस मिलान से सिवाय दिलशिकनी के और कुछ हाथ न लगेगा, सिवाय इसके कि तुम्हें अपनी ज़िन्दगी और भी पहाड़ मालूम होने लगे। साहनी साहब पैसे वाले आदमी हैं। उनके लिए आराम के सारे साधन जुटा लेना आसान बात है। मगर हमारी तो वह स्थिति नहीं। एक सौ चालिस रूपए में हम लोग आखिर कितना क्या कर सकते हैं? जब कि हर चीज़ इतनी मँहगी है? खाना कपड़ा मकान आदमी, सभी कुछ। साहनी साहब की आमदनी कम से कम चौदह सौ माहवार होगी। एक सौ चालिस और चौदह सौ में दसगुने का अन्तर होता है। इसलिए उनके मानदंड से अपने आपको तौलना अपने आपको पागल बना लेने के सिवा और कुछ नहीं।....तुम्हें देखना चाहिए अमूल्य के घर की ओर। वो भी देखो कितने कष्टों और असुविधाओं में ज़िन्दगी गुज़ार रहे हैं—

—किसी भिखमंगे की नज़ीर तुमने क्यों नहीं दी—वह तो और भी कष्टों और असुविधाओं में ज़िन्दगी गुज़ारता है!

इस पर सत्य ने गुस्से में कहा—तो तुम्हारे नज़दीक प्रफुल्लबाबू की हैसियत भिखमंगे की है?

—यह मैंने कब कहा? मेरे कहने का मतलब सिर्फ़ इतना है कि इस तरह की नज़ीरें देनें से कोई लाभ नहीं है। सौ बात की एक बात यह है कि मैं भी ज़िन्दगी में कुछ सुख-सुविधा चाहती हूं। और मैं नहीं समझती कि दिल में ऐसी चाह का होना कोई जुर्म है। जिसे देखो वही इसी सुख-सुविधा की तलाश में भटक रहा है। तो अगर मैं भी ज़िन्दगी में थोड़ी सी सुख-सुविधा चाहती हूं तो तुम क्यों इसका नाम सुनते ही ऐसे आगबबूला हो जाते हो? जैसे. पता नहीं मैंने कौन सा ऐसा भयानक अपराध कर डाला!

उषा और सत्य के इस नैश प्रकरण का आरम्भ भी रूठने से ही हुआ था और उसका अवसान भी रूठने में ही हुआ।

उषा सो गई। सत्य बेचैनी से बिस्तर में पड़ा उलटता पलटता रहा।

सत्य : उषी, आज हाथ में थोड़े से रूपए आ गए हैं। आज चलो तुम्हारे लिए एकाध रेशमी साड़ी ले आवें.... । मैं तो तुम्हें कभी कुछ दे ही नहीं पाता।

उषा : रहने दो, क्या जरूरत है, काम तो मज़े में चल ही रहा है.........मैं अपनी आदत नहीं खराब करती। एक चीज़ लो तो फिर दूसरी चीज़ की प्यास मालूम होती है। इसलिए मैंने तो कुछ भी लेना-देना ही बन्द कर दिया—न रहेगा बाँस न बजेगी बांसुरी। नहीं तो तुम्हारी भी मुसीबत और मेरी भी मुसीबत....मुझे दुबारा कोई बात समझाने की जरूरत नहीं पड़ती। मैंने एक बार यह जान लिया कि मेरी असली हालत यह है, बस बात खतम। क्यों मैं खामखा रोज अपनी फेहरिस्त लेकर तुम्हारे सिर पर खड़ी रहूं और क्यों तुम अपनी क़िस्मत को रोओ कि बुरे फंसे, कैसी घरफूंक तमाशा देखने वाली औरत से पाला पड़ा! इसकी फेहरिस्तें क्या हैं शैतान की आँत। इसके तो प्राण 'शॉपिंग' में बसते हैं!

उषा नाटक ऐसा कर रही थी कि जैसे उसे कुछ भी नहीं चाहिए। मगर यह उसका छल था—वह अपने आप से छल कर रही थी। उसके सारे शब्दों में उसकी अतृप्त वासना ही बोल रही थी। वर्ना इतनी व्याख्या की क्या जरूरत थी! वह ख़ैर जो भी हो उषा के इन शब्दों ने सत्य को बिच्छू के से डंक मारे। वह तिलमिला उठा।

प्रत्यक्ष ही यह उसके विरुद्ध उषा की अभियोग-पंजिका थी, कहने के ढंग से बात का तत्व थोड़े ही न बदल जाता है। उषा कहना चाहती है कि तुम बिलकुल नाकारा हो, कि तुम्हारे किये-धरे कुछ नहीं बना, कि अगर ऐसा ही होना था तो तुमने क्यों फ़िजूल यह शादी ब्याह का लटंगर फैलाया, खुद भी परीशान हुए मेरी भी मिट्टी पलीद की......

सत्य का मन बहुत ही खिन्न हो गया। उसने कोई जवाब नहीं दिया और अकेले ही बाहर निकल गया।

पता नहीं आजकल कौन नक्षत्र बली है कि हर बात की तान इसी जगह जाकर टूटती है!

सत्य और उषा की जिन्दगी इसी तरह कुछ खुली खुली सी कुछ घुटी घुटी सी, कुछ उलझती कुछ टूटती कुछ बनती कुछ बिगड़ती, कुछ जीती कुछ मरती, कुछ हँसती कुछ रोती, कुछ चलती कुछ घिसटती, कुछ जिन्दा कुछ मुर्दा चली जा रही थी, अपने तमाम विरोधी तत्वों का बोझ सँभाले, एक धुंधले कुहरे से ढँके क्षितिज की ओर...

उषा को सत्य से शिकायत थी। सत्य को उषा से शिकायत थी। उषा को सत्य से शिकायत थी कि उसे घर से या घर वालों से या घर वालों के तकलीफ़-आराम से कोई वास्ता नहीं है, घर वाले उसके लिए बेगाने हो गये हैं।

सत्य को उषा से शिकायत थी कि वह अपने घर से बाहर देखती ही नहीं, उसके लिए अपना घर ही सारी दुनिया है, घर के बाहर की सारी दुनिया उसके लिए मर गई है, वह समझती है कि सारी दुनिया उसके घर के दायरे में सिमट कर आ सकती है मगर

यह वैसी ही नादान कोशिश है जैसी किसी बच्चे की यह कोशिश कि वह सूरज को अपने कटोरे के पानी में क़ैद कर ले—

मगर वह तो मुमकिन नहीं। दुनिया बहुत बड़ी चीज़ है, उसका तकलीफ़-आराम व्यक्ति के तकलीफ़-आराम से बदर्जहा बड़ी चीज़ है। दुनिया को भट्ठी में झोंककर आप अपने तकलीफ़-आराम की फ़िक्र नहीं कर सकते ....

दोनों तरफ से शिकायतों की कोई कमी नहीं थी और ये शिकायतें अकसर तो दिल के अन्दर दबी पड़ी रहतीं लेकिन बीच बीच में, छोटी मोटी बातों को लेकर होने वाली झड़पों के रूप में उनका विस्फोट होता जिससे फिर पता चलता कि अन्दर ही अन्दर कुछ न कुछ ज़हर घुल रहा है। और फिर उसकी सफ़ाई के सिलसिले में और झड़पें होतीं....ग़रज़ इसी तरह हलके फुलके मनमुटाव और हलके फुलके समझौतों के बीच दिन बीत रहे थे, उनका राग कहीं सुरीला कहीं बेसुरा—

सत्य पागल हुआ जा रहा था। उसकी समझ ही में नहीं आता था कि क्या करे। यह आये दिन का कड़वापन, यह रोज़ रोज़ की बदमज़गी उसकी बर्दाश्त के बाहर हुई जा रही थी। मगर उसे कोई राह न सूझती थी। तमाम आदर्शवादी पागल नौजवानों की तरह उसे बस यह ख्वाहिश थी कि उसका कल्पनालोक अपने आप ज़मीन पर उतर आये। उस कल्पना लोक को ज़मीन पर उतार लाने के लिए जिस कठिन, अविराम, प्रात्यहिक संघर्ष की और असीम धैर्य की ज़रूरत पड़ती है उसकी ओर सत्य का ध्यान अगर था तो बहुत कम। बहरसूरत उसकी ज़िन्दगी दूभर हुई जा रही थी और वह अपना दुखड़ा लेकर प्रफुल्लबाबू के पास पहुंचा। बोला दादा, अब पानी मेरे सर से ऊपर हुआ जा रहा है।

प्रफुल्लबाबू ने चश्मा साफ़ करके फिर लगाते हुए कहा—क्यों ताबक्या हुई ?

सत्य ने कुछ रुंआसे से स्वर में कहा—बात और क्या होनी है, उषा का फूलना-भूलना आजकल बहुत बढ़ गया है—

—मगर किस बात पर ? उषा तो बड़ी समझदार लड़की है।

—वह सब ठीक है पर उसे मुझसे शिकायत है कि मैं घर के मामले में दिलचस्पी नहीं लेता....

प्रफुल्लबाबू ने हँसते हुए कहा—उषा के इस अभियोग में तो मुझे काफ़ी सार दिखलायी पड़ रहा है.....

—मगर आपही कहिये मैं कब क्या करूं, कोई वक्त ही नहीं बचता। मेरे पास।

प्रफुल्लबाबू इन सब उड़नधाइयों में आने वाले आदमी नहीं हैं। बोले—वह सब कहने से काम नहीं चलेगा। महाशय ! चाहे जैसे हो घर के लिए वक्त तो बचाना ही पड़ेगा तुम्हें वर्ना ये झगड़े सिवाय बढ़ने के कभी सुलझने वाले नहीं हैं .....

सत्य ने कहा—मैं लाख समझाता हूं उषा को...

—तुम समझाओगे क्या, अपना सर ! तुम्हारे और उसके digits ही एक नहीं है, तुम उसे समझाओगे क्या ? तुम कोई बात किसी खास मतलब में कहते हो मगर मैं दावे के साथ कह सकता हूं कि उषा उसी बात का एकदम दूसरा मतलब लगाती है। तुम्हारे सोचने के बात करने के digits बिलकुल अलग अलग हैं और जहाँ तक मेरी समझ में आता है असल मुसीबत इसी जगह पर है.....मैंने अपने अनुभव से जो कुछ सीखा है वह तो यही है—

--नहीं आपका कहना बिलकुल ठीक है प्रफुल्लदा, मुझे भी कभी कभी ऐसा लगता है कि हम दोनों असल में दो ज़बानों में बात करते हैं गो हमारी ज़बान एक ही होती है !

प्रफुल्लबाबू ने चश्मा उतार कर बग़ल की मेज़ पर रखते हुए और आँखों पर हाथ फेरते हुए कहा--वह भी अकारण नहीं है सत्य। हजारों साल से सामाजिक जीवन में स्त्री और पुरुष में जो विभेद आया है जो कि बराबर बढ़ता ही गया है, उसने असल में उनके बीच यह दीवार खड़ी की है या खाई खोदी है जो चाहे कह लो। उसी चीज़ ने अलग अलग साँचों में स्त्री और पुरुष के मन को ढाल दिया है। और इस साँचे को बदलना या उस दीवार को तोड़कर गिराना या उस खाई को पाटना आसान बात नहीं है और न एक आदमी के बूते की बात है। सफल जनक्रान्ति ही इस काम को भी पूरा करेगी, वही स्त्री और पुरुष दोनों को एक भाषा देगी और तब जब वे बात करेंगे तो उनके अभिप्राय अलग अलग नहीं होंगे। आज हैं। मैं खूब जानता हूं। मैं खुद अमूल्य की माँ पर कितना खीझ खीझ जाता था कि कैसी मोटी अक़ल की स्त्री है कि सीधी सादी बात भी इसकी समझ में नहीं आती.....मगर नहीं, मेरा खीझना ठीक नहीं था वैसे ही जैसे तुम्हारा खीझना ठीक नहीं क्योंकि दोष अमूल्य की माँ का नहीं और उषा का नहीं, दोष उस समाज व्यवस्था का है जिसके कीचड़ में हमारे पैर फंसे हुए हैं और जिसके कीचड़ को झटककर अपने पैर से अलग करने के लिए हम इतने अधीर हैं--हज़ारों साल तक आपने स्त्री को घर की चहारदीवारी के अन्दर क़ैद रखा, उसे पूर्ण सामाजिक जीवन की धूप और हवा और बारिश नहीं लगने दी, एक एक करके उसकी दूसरी तमाम दिलचस्पियों का गला घोंटा और ज़िन्दगी की छोटी मोटी झंझटों छोटी मोटी दुश्चिन्ताओं छोटी मोटी

फ़िक्रों और परीशानियों, अन्नी और दुअन्नी और पैसा और दुकड़ा इसी सब में उसे सदा के लिए उलझा दिया और उसके दिमाग़ के खिड़की दरवाज़े सारे बन्द कर दिए तो फिर इसमें ताज्जुब की क्या बात है अगर घरेलू तहख़ाने में हज़ारों साल तक बन्द बन्द उससे अब धूप और हवा नहीं सही जाती, अगर वह उन छोटी-मोटी फ़िक्रों और परीशानियों को ही सब कुछ समझ बैठी है, अपने घर के उस रेत के ज़र्रे को ही सारी धरती का विस्तार समझ बैठी है ? इसमें दोष उसका नहीं है। रत्ती भर भी नहीं। यों दोष तुम्हारा भी नहीं है सिवाय इसके कि तुममें अपेक्षित धीरज की कमी है....

पता नहीं, मोटी सी भी बात जब किसी की समझ में नहीं आती तो मुझे तो ग़ुस्सा आ जाता है....

प्रफुल्लबाबू फिर हँसे। बोले—धीरज की कमी और कहते काहे को हैं। वही तो है धीरज की कमी....बड़ी कठिन चीज है धीरज। सरपर से बहुत सी आँधियाँ गुजर जाने के बाद, बहुत ठोकरें खाने के बाद इंसान में धीरज आता है, वह सहज ही मिलने वाली चीज़ नहीं है। मुझे वे दिन आज की सी घटना की तरह याद हैं जब मैं तुम्हारी उम्र का था और मेरे घर पर रोज़ ही कोई न कोई तूफ़ान बरपा रहता था। उन दिनों हम लोग कलकत्ते रहते थे। उन्हीं दिनों अमूल्य का जनम हुआ था। अब कलकत्ता नई जगह, अमूल्य की माँ चाहे कि मैं हरदम उसी के पास बैठा रहूं मगर वह भला कैसे मुमकिन हो, मुझे बीसियों काम......हम दोनों के मन में बड़ी कड़वाहट भरने लगी और मुझे कोई राह ही न सूझे कि क्या किया जाय, दल से मैंने छुट्टी ज़रूर ले ली थी लेकिन फिर भी कुछ न कुछ काम निकल ही आते थे, फिर और भी बहुत सी चीज़ें थीं, घर पर बैठना भला कैसे हो। और असन्तोष हम दोनों के

मन में संचित हो रहा था। आखिरकार मैंने तो अपने तीन चार साथियों के परिवार के संग ले जाकर भिड़ा दिया अमूल्य की माँ को और सचमुच चार ही छः महीने बाद मैंने देखा उसकी तो जैसे शकल ही बदल गई—उसने जब देखा कि कुरबानी की ज़िन्दगी जीने वालों का अपना एक अलग समाज है जिसमें सब हँस खेलकर कठिनाइयों को झेलते हुए और बिना अपने आराम की रत्ती भर चिन्ता किए देश का काम करते चले जा रहे हैं तो....तो फिर देखो न अमूल्य की माँ की समझ में भी बात आ गयी और फिर तबसे आज तक किसी मनमुटाव का कोई कारण नहीं पैदा हुआ।....सब जगह एक ही नुस्खा नहीं लगेगा, मगर असल बात यह है कि बात एक बार दिल में उतर जानी चाहिए और बात दिल में तभी उतरती है जब उस व्यक्ति के digits को समझा जाय जिससे बात की जा रही है.......

सत्य ने आपत्ति की : मगर इसका तो मेरे पास कोई इलाज नहीं कि उषा मुझे घर में बाल बच्चों में ही बाँध रखना चाहती है ?

तो क्या बुरा चाहती है ? किसके दिल में यह उमंग नहीं होती कि अपने छोटे से घर में वह अपने बाल बच्चों समेत सुख से शान्ति से रहे ? बिलकुल नैसर्गिक कामना है और स्त्री के लिए तो और भी नैसर्गिक क्योंकि वह माँ है।

—तो दादा आपका मतलब है कि मैं सब काम-धाम छोड़कर बस दो सौ फ़ीसदी गृहस्थ हो जाऊं ?

—नहीं, मेरा मतलब यह नहीं है। बिलकुल नहीं। मेरा मतलब सिर्फ़ यह है कि तुम अपने तरुण आदर्शवाद की झोंक में यह न भूलो कि उषा की ओर से जो आकांक्षा जो चाहना आ रही है वह मनुष्य जाति की आदिम वासना है, उसी के बल समाज आज तक

यह तरक्की कर सका है और आगे भी करेगा।—सारी बात अनुपात बिठालने की है। वह चाह अपने आप में कोई बुरी चाह नहीं है जिसके लिए कोई किसी से असन्तुष्ट हो। यह तुम्हारा अन्याय है सत्य, इसमें मैं तुम्हारा साथ नहीं दूंगा।

—आपकी बात मेरी समझ में नहीं आ रही है। मैं भी तो उस अनुपात को ठीक करने की ही बात कहता हूं।

—मगर अनुपात को ठीक करने की बात तुम कैसे कह सकते हो जब तक तुम इस चीज़ को प्रत्यक्ष न कर लो कि यह चाह उषा के दिल की किन गहराइयों में से निकलती है? तुम्हारे हठ करने से वह अपनी प्रकृति को नहीं झुठला देगी, झुठला सकेगी भी नहीं, बस यह होगा कि तुम बहुत हठ करोगे तो वह टूट जायेगी टूट कर बिखर जायेगी....मुझे लगता है कि तुम अपनी कसौटी पर उसे कस रहे हो और जब वह तुम्हारी कसौटी पर खरी नहीं उतरती तो तुम रुष्ट हो जाते हो, मगर यह बात ही ग़लत है कि तुम उसको अपनी कसौटी पर कसो। पहले तुमको उषा को समझना पड़ेगा। सबके मन की बनावट एक सी नहीं होती। मुझको लगता है तुम बहुत जल्दबाज़ी कर रहे हो, यह ठीक नहीं।

सत्य ने कहा—प्रफुल्लदा, मान लीजिए मैंने आपकी बात समझ ली कि उषा के मन की आकांक्षा मनुष्य जाति की एक आदिम वासना है—तो फिर?

—तो फिर क्या? तो फिर आधा मैदान तो तुमने मार ही लिया। तुम अगर उषा की बात का स्वागत चिढ़कर करते हो तो उषा के मन पर उसकी प्रतिक्रिया एक प्रकार की होती है और अगर प्यार और सहानुभूति से करते हो तो उसकी प्रतिक्रिया दूसरे प्रकार

की होती है। अगर तुम प्यार और सहानुभूति से उषा की बात सुनते हो और अपने दिल के भीतर उतारते हो तो तुम्हें अपनी यह बात उषा को समझाने में बहुत देर न लगेगी कि इस समय समाज में संसार में जो भूडोल आ रहे हैं उनमें कोई अगर चाहे कि वह अपने घरौंदों को इन भूडोलों से बचाकर रख ले तो यह उसका पागलपन है। जहाँ एक पूरी दुनिया टूट फूट रही हो और एक दूसरी नयी दुनिया उठकर खड़ी हो रही हो वहाँ दुनिया के नक्शे पर अपने ही नन्हें से घरौंदे की झंडियाँ गाड़ देना निरा पागलपन है। वह चीज़ चल नहीं सकती। अब दुनिया या तो सबको लेकर तरक्की की तरफ बढ़ेगी या सब को लेकर ग़ारत हो जायगी, तीसरा रास्ता अब नहीं है। अपनी डेढ़ ईंट की मसजिद खड़ी करना भी बेकार है क्योंकि ये भूचाल जो हर वक्त हो रहे हों उनमें ये डेढ़ ईंट की मसजिदें तो सबसे पहले ढहेंगी ढह रही हैं——ये सारी बातें उसकी समझ में आ जायेंगी बशर्ते तुम अपने हृदय की सारी श्रद्धा से उषा की इस चाह को पवित्र मानकर अंगीकार करो ......

सत्य समझ नहीं पा रहा था गड़बड़ी किस जगह पर है। प्रफुल्लबाबू की बात से बहुत सी चीज़ें अपने आप धीरे धीरे रोशन होने लगीं। पहले एक फिर दूसरी फिर तीसरी।

सत्य ने सबसे पहले अपने आप को धिक्कारा, अपनी बेसब्री के लिए और उषा के प्रति अपनी जंगली कठोरता के लिए: बड़े अफ़लातून बनते हो, इतनी मोटी सी बात अकल में नहीं धँसी! डंडा लेकर सबको ठीक करने निकले हैं!!! कुछ तो इमैजिनेशन से काम लिया करो कि काठ का बना है तुम्हारा भेजा? बिना उसके दिल

की तह में पहुंचे तुम कैसे उसे अपनी ओर मोड़ लोगे—यह बात कुछ समझ में नहीं आयी।....तुमने कभी पता लगाने की कोशिश की कि उषा को अगर तुमसे शिकायत होती है तो आखिर क्यों? उसकी जड़ में क्या बात है? उसकी जड़ में यह बात है कि तुम अब तक अपनी दिलचस्पियों को उषा की दिलचस्पियाँ नहीं बना पाये हो और वह तब तक नहीं होगा जब तक सबसे पहले उषा की दिलचस्पियाँ तुम्हारी दिलचस्पियाँ नहीं बनतीं, दूसरा कोई तरीका नहीं है। अपनी ज़िन्दगी के अमल से, खुद उषा के प्रति अपने आचरण से, अपने दांपत्य जीवन की दिन दिन की क्षण-क्षण की अक्लांत अनवरत साधना और संघर्ष से ही तुम उषा को अपनी सच्ची संगिनी बना सकोगे, और किसी तरह से नहीं, न त्योरियाँ चढ़ाकर, न पीपे की तरह लम्बा सा मुँह निकालकर न लेक्चर की घुट्टी पिला कर। और अब तक बच्चू, यही किया है तुमने। खेल बिगाड़ने में ज्यादा हाथ तुम्हारा ही है। असल में तुम्हीं को सज़ा मिलनी चाहिए।.....

अरुण पालने में पड़ा पैर फटकार रहा था। उसके सिर के ऊपर एक कपड़े की चिड़िया रबर से लटक रही थी। उसी को पकड़ लेने की यह सब कोशिशें थीं। अपना सब ज़ोर बेचारा लगाये जा रहा था। नन्हें नन्हें हाथ चिड़िया को पकड़ पाने के लिए कितने उतावले हो रहे थे। आँख कान नाक मुँह हाथ पैर—सबसे उसकी आतुर चाह टपक रही थी, आँखें अजब एक तरल रोशनी से चमक रही थीं, कान नन्हें शिकारी कुत्ते जैसे खड़े हुए थे, नाक से और गले से एक अजब ग़ुर्र ग़ुर्र की आवाज़ निकल रही थी, बिना दाँत का वह मुँह जिससे अभी माँ के दूध की गंध आया करती है, खुला हुआ था, और हाथ पैरों का बस होता तो वे कब के उड़कर अपने उस

चाँद पर पहुंच गये होते, बिलकुल हवा में तैरने की तरह चल रहे थे वे हाथ पैर।

उषा वहीं पास ही चारपाई पर बैठी कोई पत्रिका देख रही थी, यह उसके परम सुख का एक क्षण था। बीच बीच में जब अरुण अपनी उमंग में ज़ोर से किलकारी मारता तो वही किलकारी जैसे उसके अन्दर कहीं गूंज जाती और उसकी छाती अपने उस असीम अव्यक्त सुख से दर्द करने लगती।

सत्य तभी दफ्तर से लौटा। जानबूझकर दबे पाँव। उषा ने उसका आना नहीं लक्ष्य किया। सत्य ने थोड़ी देर खड़े होकर उषा और अरुण की उस पुलकित छबि को देखा। फिर उसी तरह दबे पाँव आगे बढ़कर पीछे से जाकर उषा की आँखें मूंद लीं। उषा ने कुछ कहा नहीं, सत्य के हाथों को आँख पर से हटाकर ओठ पर लगा लिया और उसे अपने सामने की ओर खींचा।

उषा ने कहा—तुम आज बड़ी जल्दी आ गये।

सत्य ने कहा—हाँ, आज काम कुछ जल्दी खतम हो गया, मैं बिना रुके भाग आया।

इसके जवाब में उषा ने बस आँख भरकर सत्य को देखा। सत्य ने परखना चाहा कि उस निगाह में क्या है। उसमें कुछ था सन्तोष कुछ कृतज्ञता और बहुत सा सन्देह कि ऐसी कृपा अब कै महीने पर होगी। यह भलमंसी जो तुम्हें आज सूझी है.....

सत्य अरुण को उठाने के लिए आगे बढ़ा। उषा ने मना किया—अभी मत छेड़ो उसे, देखते नहीं उसकी कसरत चल रही है!

दशमी का चाँद आकाश में था। सड़क खाली थी। सत्य और उषा घूमने चले जा रहे थे। उनके पास प्रैम नहीं थी। अरुण सत्य

की गोद में था और बीच बीच में अपने पोपले मुँह से मुसकराकर उन दोनों की बातचीत में योग दे रहा था। उषा और सत्य भी ज्यादा बोल नहीं रहे थे मगर उनकी बातचीत चल रही थी। दोनों ही के चेहरे पर एक स्निग्धता थी।

रात का ग्यारह बजा था उषा और सत्य पास पास कुर्सियाँ डाले बैठे कुछ पढ़ रहे थे।

सत्य ने अरुण की उगती हुई दँतुलियों को छूकर और चौके में काम करती उषा को पुकारकर कहा—उषी, तुमने देखा ?....बुढ़ऊ के दाँत निकल रहे हैं !

चलती हो ? चलो आज तुम्हारे लिए एक साड़ी खरीद लावें—तुम्हारे पास साड़ियाँ रहीं नहीं और आज मुझे अपने एक लेख के पेंतिस रुपए मिले हैं।

उषी, सुना है वो एक बहुत अच्छी तसवीर लगी हुई है प्लाज़ा में। चलोगी देखने ?

और अरुण ?

लिये भी चल सकते हैं और नानी के पास भी छोड़ सकते हैं।

अम्माँ के पास छोड़ देना ही ठीक होगा।

वो किताब जो मैंने तुमको दी थी उषी, कैसी लगी ?

फ्रेंच रेज़िस्टेंस की कहानी है वह तो। किस बहादुरी से सब लड़ते हैं। पढ़ते पढ़ते रोमांच हो आता है।.....जीते हैं बहादुरी से मरते हैं बहादुरी से।

और वो दूसरी वाली ?

वह तो मुझे बड़ी उबा देने वाली मालूम

अरुण सत्य के काँधे पर सवार थे। उषा को बड़ा डर लग रहा था। बोलो—तुम्हें कुछ नहीं आता। इस तरह मत लिया करो बच्चे को. आदमी का हाथ ही तो है कहीं फिसल फिसला जाय.

हम लोग बहुत दिन से साहनी के नहीं गये—सत्य ने कहा।

जाने को तो मैं बहुत रोज़ से अपने घर भी नहीं गई। तुम्हें फ़ुरसत कहाँ मिलती है ?

अब तो थोड़ी थोड़ी मिलने लगी है।

हाँ, अब थोड़ी थोड़ी मिलने लगी है।

इसी तरह हफ्तों गुजर गये।

एक रात जब अरुण नींद में परियों के पीछे भाग रहा था और कहीं कोई आवाज़ न थी और सत्य और उषा लेटे हुए थे और दोनों को एक दूसरे के जिस्म की गर्मी मिल रही थी और दोनों के चेहरे पर तरल प्यार था और दिन भर की थकान के बाद दोनों के अंग अंग पर अलस उन्माद छा रहा था—ऐसे समय उषा ने एक

सवाल किया। जो बहुत दिनों से कीड़े की तरह उसके मन को कुतर रहा था :

विवाह क्या सचमुच ऐसा वरदान होता है जो कुछ ही दिन बाद अभिशाप बन जाता है ? कुछ ही दिनों या महीनों या सालों के बाद क्या पति पत्नी एक दूसरे से बिलकुल ऊब जाते हैं ? तुम क्या मुझसे ऊब गये हो ?

सवाल सुनकर सत्य चौंक गया। बड़ा गम्भीर खतरनाक सवाल था। उसे डर मालूम हुआ। जवाब बहुत सँभलकर देना होगा। बहुत सँभल कर। और जवाब ऐसा जो न तो असलियत को झुठलाये और न अपनी बेहिसी से उषा के दिल के आइने में बाल डाल दे। सवाल सुनकर सत्य को सचमुच डर मालूम हुआ, लेकिन यह सवाल ऐसा न था जिसका जवाब टाला जा सके। जवाब तो उसका देना ही था और ठीक जवाब। उसके सामने बर्फ़ की एक पतली सी चादर बिछी हुई थी और उसी पर उसको चलना था।

सत्य ने कहा—तुमने कई सवाल एक में मिला दिए हैं उषा। हैं एक सब ही सवाल के टुकड़े मगर फिर भी अपने आप में इतने बड़े बड़े सवाल हैं कि जवाब देना आसान नहीं है उषी, क्योंकि कोई एक नुस्खे का जवाब नहीं है। न तो दुनिया के सारे पति-पत्नी एक से होते हैं न उनकी जिन्दगी एक सी होती है न एक सब दूसरे से ऊबते ही हैं और न सब एक दूसरे से नहीं ही ऊबते।

उषा ने कहा—साफ साफ बात कहो, तुम तो पहेली बुझवा रहे हो !

सत्य ने कहा—साफ़ साफ़ बात कहने की ही कोशिश कर रहा

हूं, मगर बात खुद बहुत साफ़ सी नहीं है इसलिए कहने में थोड़ी मुशकिल हो रही है।

यह कहते कहते सत्य उठकर बैठ गया। और बोला—तुम्हारे तीनों सवालों का जवाब अलग अलग देना ठीक होगा। तुम्हारे आखिरी सवाल का जवाब पहले। मैं क्या तुमसे ऊब गया हूं? नहीं, हमारे बीच वह स्थिति नहीं है। अपनी बात साधिकार कह सकता हूं, मेरी ओर से तो वह स्थिति नहीं है। अपनी बात तुम ज्यादा अधिकारपूर्वक कह सकती हो।

इसके जवाब में उषा ने सत्य को ऐसी स्नेहशीली आँखों से देखा कि शब्दों का सहारा लिए बिना ही उषा ने जवाब दे दिया और सत्य को जवाब मिल गया।

फिर सत्य ने कहा—मगर यह कहना झूठ होगा कि पति-पत्नी के बीच वह स्थिति कभी नहीं आती या आ नहीं सकती या यह कि हम खुद कभी उसके शिकार नहीं होंगे। नहीं, यह कहना झूठ होगा और मैं कभी किसी क़ीमत पर तुमसे झूठ नहीं बोलूंगा, तुम जो कि मेरी आत्मा का ही अंश हो।

सत्य की इस बात से उषा के कान थोड़े खड़े हुए।

—यह सही है कि पति-पत्नी एक दूसरे से ऊबते भी हैं, करोड़ों पति-पत्नी एक दूसरे से ऊबे हुए, एक ठंडी ऊब की रस्सी से बंधे हुए जिन्दगी बसर करते हैं, यह एक सच्चाई है—और हमें भी सतर्क रहना होगा, उद्योग करना होगा कि कभी हमारे बीच उस आपसी थकान और ऊब की प्रेत छाया आकर न खड़ी हो।

उषा ने सरल जिज्ञासा के स्वर में पूछा—मगर क्यों होता है ऐसा?

—जब समाज की विशाल कर्मभूमि पर पति-पत्नी संग संग क़दम से क़दम मिलाकर साथी के रूप में आगे नहीं बढ़ते तो आगे पीछे यह हालत पैदा हो जाती है और जरूर होती है और सबके साथ होती है। फिर उसकी मार से कोई नहीं बच सकता—हम तुम भी नहीं उषी। झूठे बोसीदा तकल्लुफ के पीछे मैं तुमसे भी इस तल्ख़ सच्चाई को छुपाना नहीं चाहूंगा। हमें पता होना चाहिए कि कब और कहाँ वह ज़हर आकर हमारे खून में घुलने लग जाता है ताकि हम उसे अपने खून में से बाहर फेंक सकें। तुमने अगर इस मसले पर ग़ौर किया होगा उषी तो देखा होगा कि यह बीमारी या तो मिलती है अवकाशभोगी वर्ग में जिसके पास अकूत पैसा और अकूत अवकाश है, या उस वर्ग में जिसके पास न तो पैसा है और न अवकाश मगर जो इस अवकाशभोगी वर्ग की नक़ल के पीछे और भी ग़ारत हुआ जा रहा है। मेरा मतलब हमारे अपने वर्ग से है जिसके पास न पैसा है न अवकाश, मगर वही मसल शौकीन बुढ़िया चटाई का लहँगा, हम रहेंगे वैसे जैसे समाज के धनीधोरी लोग रहते हैं। चूल्हे में जायें ये धनीधोरी लोग। मगर नहीं, भला वह कभी हो सकता है। वे चूल्हे में चले भी जायेंगे तब भी उनके तौर-तरीकों को हम लोग बचाकर रखे रहेंगे, खूब हिफाज़त से! चाहे हमारी धज्जियाँ ही क्यों न उड़ जायें.... उनकी स्त्रियाँ घर के बाहर नहीं आतीं, घर के अन्दर भी अपनी सेज से नहीं उतरतीं, कोई काम अपने हाथ से नहीं करतीं, पानी भी अपने हाथ से लेकर नहीं पीतीं, सिवाय अपने साज सिंगार के दुनिया की किसी दूसरी चीज़ में उन्हें दिलचस्पी नहीं होती और न पतिदेव चाहते हैं कि हो क्योंकि वे शय्या के अलंकार के रूप में ही स्त्री को देखते हैं और स्त्री भी अपनी उस स्थिति से पूरी तरह सन्तुष्ट रहती है। फिर क्या बात है, जब मियाँ बीबी राज़ी तो क्या करेगा काज़ी! जो इस पर नुक्ता-

चीनी करे वह उल्लू! लिहाजा अगर उनके यहाँ यह ढर्रा रायज है तो फिर हमारे यहाँ ही क्यों नहीं हो सकता —भले हमारे घर में भूनी भांग न हो भले हमें इस बात की जरूरत हो कि बीबी हमारे काम मं हाथ बँटाये, कुछ कमाकर लाये तो घर का खर्च चले। मगर नहीं, ऐसा करने में तो जात चली जायेगी। उंह, नीच लोगों में मजदूरों में किसानों में औरत भी मर्द का हाथ बँटाती हो तो बँटाये, वह तो नीच लोगों का क़ायदा है उस पर हम थोड़े ही चलेंगे। हम तो समाज के बड़े लोगों के बताये रास्ते पर चलेंगे। हमारे घर की स्त्रियाँ भी असूर्यमपश्या रहेंगी, न वे सूरज को देखेंगी और न सूरज उनको देख सकेगा! इतनी कहाँ बिसात कि हरदम सेज पर बिठाये रहें घर का काम न करें तो निबाह कैसे हो। इसलिए परिस्थति के संग उतना तो समझौता कर लिया है मगर स्त्री के प्रति दृष्टिकोण वही पुराना सामन्ती है—स्त्री रात की संगिन है, शय्या का अलंकार, बिस्तर की जगमगाहट। स्त्री के पास पुरुष क्रीड़ा के लिए जाता है। स्त्री की दूसरी कोई उपयोगिता नहीं है! इसीलिए हमारे मिडिल क्लास घरों में स्त्री की यह वीभत्स स्थिति है। स्त्री हर साल एक बच्चा पैदा करती है। एक बच्चे को छिच्छी कराती है दूसरे को सुच्ची तीसरे को पुच्ची, चौथे को नहलाती है पाँचवें को कपड़ा पहनाती है छठें के सिर में सादा गरी का तेल लगाती है, सातवें के सिर से जूँ बीनती है और सब को बैठाकर घर भर में दाल भात और लौकी की तरकारी छींटते देखती है, खीझती है और लड़कों को लप्पड़ लगाती है और अपनी क़िस्मत को रोती है। रस ले लेकर टोले-पड़ोस के लोगों की बुराई करती और सुनती है—दैनिक चर्या के रूप में, उसी एकाग्र निष्ठा से, दिन और रात। गले तक कीचड़ में डूबी हुई भैंस की तरह धुएं और पसीने और खीझ

की गड़हिया में डूबी रहती है (और कुल मिलाकर उसी में मगन) कभी फटे-पुराने ऊनी कपड़ों को धूप दिखाती है, कभी बड़ियाँ डालती है, कभी दोपहर भर खटमलों को मारती है (क्योंकि आजकल घर में बहुत खटमल हो गये हैं—उस दिन वो जो सहारनपुर से आये थे, वही लाये होंगे अपने साथ। उनके पहले हमारे घर में एक खटमल नहीं था। यह रेल के सफ़र में ही खटमल साथ हो लेते हैं!.......) और इसी तरह दिन गुज़र जाता है और फिर रात के खाने की तैयारी होने लगती है और बाबू जी की अगवानी की तैयारी होने लगती है। कई तरह की तैयारी। घर में अगर लड़की बड़ी हुई तो वह चाय या शरबत या लस्सी तैयार करने लगती है, कभी कभी चुटकी भर आटे का हलवा या चार छः तेल की पकौ-ड़ियाँ भी मिल जाती हैं (घर के सब लोगों को ये नेमतें नहीं मिलतीं। घर भर के लोगों को हलवा देने लगूंगी तो महीने भर का राशन हलवे माँड़े में ही उड़ जायेगा!) एक तैयारी यह होती है कि पत्नी के सिर में गरी का तेल पड़ जाता है, खूब बारीक कंघी से कंघी की जाने लगती है और फिर लगाम की तरह खूब कसकर चोटी बाँधी जाती है, माँग में ढेर सा सेंदुर दिया जाता है, माथे पर बड़ी-सी सुहागबिन्दी लगाई जाती है, घर में अगर बारह-तेरह साल की लड़की हुई जो चौका संभालती है तो शाम से ही गंदी की जगह अधगंदी धोती पहन ली जाती है वर्ना ट्रंक से निकालकर या अलगनी पर से उतारकर चुनकर रख दी जाती है.....

फिर रात का परदा पड़ जाता है। हम शरीफ़ लोग हैं इसलिए परदे के पीछे नहीं झांकेंगे......

फिर सुबह होगी और दाढ़ी मूंड़कर कच्चा पक्का जो भी तैयार मिल जाय खाकर दफ्तर जाना होगा और पत्नी की वही दिनचर्या

होगी अर्द्ध विराम पूर्ण विराम समेत, दुहराने की जरूरत नहीं।

निचले मध्यम वर्ग के बाबू जी का यही नन्हाँ सा स्वर्ग है जिसे उन्हीं धनी धोरी लोगों के नक़्शे पर बनाया है। भले इसके पीछे वे बिक जायं मगर नक्शा वही रहेगा जो बड़े लोगों का है! हम क्या किसी से हेठे हैं! हम क्या आदमी नहीं हैं!

....गोया नीची जात के लोग सब जानवर हों और शायद इसीलिए कि उनकी औरतें शहर में भी सारे काम करती हैं और देहात में भी, गिट्टी फोड़ती हैं, बोझा ढोती हैं, खेत में काम करती हैं, खान में काम करती हैं यानी मेहनत मजदूरी करके पैसा कमाकर घर चलाने में मदद देती हैं.....

जो समस्या तुमने उठाई है न उर्षी, उसका असल हल यही है। इन नीची जात वालों में कहीं वह ऊब थकन या उकताहट नहीं है और हो भी कैसे! थकन है भी तो शरीर की, ज्यादा मेहनत के कारण, मन की थकन का भला क्या कारण है उनके पास! उनकी रगों में वह जहर क्यों दौड़े? इसका असल कारण है कि स्त्री और पुरुष के बीच कोई दीवार नहीं खड़ी है, औरत घर के तहखाने की बन्दी नहीं है। मिस्टर साहनी या किसी किरानी बाबू की अपेक्षा उनके यहाँ पति और पत्नी की स्थिति में ज्यादा बराबरी है, कहीं ज्यादा बराबरी है, इसीलिए एक ओर तो उनके यहाँ स्त्री की स्थिति ज्यादा सम्मानपूर्ण है दूसरी ओर थकान की वह प्रेतछाया उनके ऊपर कभी नहीं मँडलाती क्योंकि सामाजिक श्रम का सूरज उनके सर पर चमक रहा होता है और सारी दुनिया उसकी रोशनी में नहाई हुई दिखाई देती है और दुनिया में कितनी करोड़ चीजें हैं जिनके बारे में अनन्त-काल तक बात की जा सकती है बशर्ते अवकाश हो! कैसी उलटी

पुलटी यह दुनिया है कि जिनके पास दूसरों के खून पसीने से हासिल किया हुआ अवकाश है वे पागल हुए जा रहे हैं कि उस अवकाश का क्या करें, किस कुएं में ले जाकर उसको झोंक दें! यह आलम है कि उनके पास कोई बात नहीं बची जिस पर वो बात करें, अपने शिकार, रुपए, के पीछे निरन्तर भूखे भेड़िये की तरह भागते भागते उनकी आत्मा एकदम खोखली हो गयी है,. उसमें अब कुछ बचा ही नहीं, उनका दिल भी शेयर मार्केट का ही एक कोना होकर रह गया है, और शेयर मार्केट की बात कोई कहाँ तक करे और दूसरी कोई बात किसी के पास हो तब तो करे—पहनने को वह आदमी भले कुछ भी पहने चाहे बेहतरीन पतलून चाहे नफ़ीस से नफ़ीस शेरवानी चाहे बारीक से बारीक कुर्ता और खाने को भी वह चाहे गुजराती खाना खाये चाहे मारवाड़ी चाहे पारसी चाहे बंगाली मगर वह होता है बेहद जाहिल बेहद असंस्कृत ...

लिहाज़ा घर आने पर एक दो बातों के बाद फिर उनके पास कोई बात ही नहीं बचती और इस तरह बीबी की अलग तितली जिन्दगी होती है और मियाँ की अपनी अलग कुबड़ी जिन्दगी होती है और दोनों के बीच चाँदी का एक लम्बा चौड़ा, तवे की तरह तपता हुआ रेगिस्तान होता है—

रहे हमारे किरानी बाबू। वह घर आकर पत्नी से काहे की बात करें, तरक्की की तनज्जुली की साहब की डाँट-घुड़की की, काम की ज्यादती की, या उस पाई की जिसका हिसाब नहीं मिल रहा था या उन महेशबाबू की जो बीबी को जूते लगाते हैं या उन रफीक मियाँ की जिन्हें उनकी बीबी जूते लगाती है—तुम ही बताओ काहे की बात करें?

और पत्नी ही काहे की बात करे? कौन लड़की किस लड़के से

फंसी हैं और कौन लड़का किस लड़की से फंसा है—चर्चा का एक सब से सरस विषय तो यह होता है मगर पत्नी को इस बात का भरोसा कैसे हो कि चुन्नी के बाबू को इस वार्ता में वही आनन्द आयेगा जो स्वयं उसे आता है ! तो फिर बताओ वह काहे की बात करे—उसकी आधी दुनिया तो इस तरह बुझ गयी ! दूसरा प्रिय विषय है गहना, सोना कै रुपये तोला है और किसने ब्रेसलेट बनवाया है और किसने कर्णफूल...लेकिन इसकी बात करके ही क्या हो जब पैसे से भेंट नहीं । फिर क्या बचा बात करने को ! और अगर वह पति को यह पुराण सुनाने बैठ जाय कि मुन्नू बहुत गाली बकने लगा है और खुन्नू बहुत मिट्टी खाने लगा है और टुन्नू बहुत पिनपिन करने लगा है, विमला चौके के पास नहीं फटकती और हरदम आइने के सामने बैठी कंघी चोटी किया करती है और कमला बहुत धोती फाड़ने लगी है और रमला पता नहीं कैसी कैसी कहानी की किताब पढ़ा करती है और नन्हीं की नाक में फुंसी हो गयी है और मुन्नी के कान में फोड़ा हो गया है और चुन्नी को आज दिन भर बुखार चढ़ा रहा जरा डाक्टर के हो लो—तो यह भी तो कोई बात न हुई ...य तो ऐसी बातें हैं जो करनी तो पड़ती ही हैं मगर जब तक बचाई जा सकें अच्छा है । तो फिर ऐसी बातें कहाँ से आयें जो करने में अच्छी लगती हैं ?

लिहाजा पति का दफ्तर अलग और पत्नी का चौका अलग और दोनों के बीच हरे हरे काई लगे पानी की एक फूहड़ तलैया जिसमें ये सोनी महीवाल अपने प्रेम की नैया खेते हैं और अपनी जिन्दगी का भारी जहाज खेते हैं । .....

कहने का मतलब यह उषा कि किन्हीं भी दो व्यक्तियों में चाहे

वे पति-पत्नी ही क्यों न हों आपस का प्यार सदाबहार तब रह सकता है जब उसमें हरदम नया रस-गंध नया पराग भरता रहे, कुछ झरता रहे और नया कुछ भरता रहे और वह कैसे ही—वह ऐसे हो कि स्त्री जीवन संग्राम में पुरुष की सहयोद्धा हो, उजले समय में भी और नीले-काले समय में भी हर दम साथ रहे, साथ काम करे, साथ लड़े साथ मरे और एक दूसरे से अंश लेकर दोनों का पूर्ण व्यक्तित्व बने। दोनों निरन्तर इस बात के लिए संघर्ष करें उद्योग करें। इसका मतलब यह है कि स्त्री को घर के तहखाने में बंदी न किया जाय, उसकी प्रतिभाओं को मुक्त किया जाय, उसे काम करके पैसा कमाने का भी मौका दिया जाय ताकि उसकी भी चेतना इसकी दीप्ति से आलोकित हो सके कि उसका भी जीवन समाज के लिए उपयोगी जीवन है और उसका भी स्वतन्त्र अस्तित्व है और वह किसी की आश्रिता नहीं है। इस अकेली एक चीज़ से बड़ा फर्क पड़ जाता है उषी—

और दिन भर की थकी उषी, पता नहीं कब, थोड़ी देर हाँ हूं करने के बाद सो गई थी !

सत्य को पहले तो बहुत ताव आया कि उषा उसके वचनामृत के बीच ही में सो गई मगर फिर उसे अपने ऊपर थोड़ी हँसी आई और वह भी यह सोचता हुआ सो गया कि समझने समझाने के लिए अभी बहुत दिन पड़े हुए हैं—यह तो ज़िन्दगी भर का सिलसिला है और उषा बड़ी नेक बड़ी भोली लड़की है और मैं बड़ा भाग्यशाली हूं और अरुण बिलकुल अपनी माँ पर गया है और अरुण भी सो रहा है.....

अरुण अभी सो ही रहा था और उधर हिन्द का अरुणोदय हुआ...

२५

ऐतिहासिक दिन १५ अगस्त १९४७ ई० । न जानें कब से इन्तज़ार था इस दिन का। मगर जब वह आया तो उस मेहमान की तरह जिसके लतीफ़ चर्चे तो हम एक अरसे से सुनते चले आते थे मगर जब वह आया तो उसका रूप रंग कुछ और ही निकला! मगर आज मेहमान की पहचान की भला किसे पड़ी थी। आज तो मेहमान के आगमन की खुशी का दिन था। इसीलिए आज चारों तरफ़ उसी की गहमा-गहमी थी—अशोक की पत्तियाँ, बाँस की बल्लियाँ, चाँदी की पन्नियाँ, हरी हरी पत्तियों के बंदनवार, बड़े-बड़े तिरंगे-सजे सिंहद्वार और उन पर थे झूल रहे किरणों के तार, उमंगों के हार।

तभी किसी ने कोई कड़वी-कसैली बात कही जो कान पड़ी मगर नहीं पड़ी! यह नीले समुद्र सा अपार निरभ्र आकाश और उस पर किसी देवदूत शिल्पी के हाथों सोने के अक्षरों से अंकित पन्द्रह अगस्त १९४७; स्वाधीनता दिवस....

शहनाइयाँ बज रही थीं, ढोल और नगाड़े बज रहे थे, दीवालियाँ मनाई जा रही थीं, जुलूस निकल रहे थे, कामनाओं के फूल खिल रहे थे....सपने सच हो रहे थे...

मगर कैसा दुःस्वप्न! कहीं दीवाली सज रही थी, कहीं होली जल रही थी, मकानों की, जिस्मों की, आबरुओं की.....पेट्रौल छिड़ककर घरों को आग लगाई जा रही थी, उस आग में औरत

और मर्द, बुड्ढे और जवान और बच्चे सब भुन रहे थे, भूने जा रहे थे और बच्चे का भुना हुआ गोश्त बाप के सामने पेश किया जा रहा था।.......दिलरुबा लाजवन्ती कुमारियों को वहशियों के हाथ दबोच रहे थे, फाड़ रहे थे, नोच रहे थे, आटे की तरह गूंध रहे थे.. उनकी असमतें फ़सल की तरह खेतों में बिछी हुई थीं और एक के बाद दूसरा जानवर उन्हें चर रहा था ....

और यह सब हिन्दुस्तान में हो रहा था—हाँ मैं हिन्दुस्तान ही कहूंगा—बिहार और बंगाल और बम्बई और यूपी और पंजाब। नहीं मैं ये सब नाम कभी नहीं लूंगा, कभी नहीं, झगड़े बिहार और पंजाब में नहीं हुए, पूर्वी पंजाब और पच्छिमी पंजाब में नहीं हुए, हिन्दुस्तान में हुए, हमारे हिन्दुस्तान में, आजादी के महीनों पहले से और ऐन आज़ादी के रोज़ और उसके दूसरे रोज़ और तीसरे रोज़ और........क्या खूब उपजाऊ धरती है, दंगे की फसल कैसी गह-गहाकर होती है यहाँ.......और फिर क्या नहीं होता उन दंगों में और क्या नहीं हुआ इन दंगों में जो आजादी के रोज़ पंजाब में हुए, रावी के इस पार और उस पार.....क्या खूब आज़ादी है! आदमी, मकान, रुपया पैसा इज्जत आबरू सब कुछ आग की लपटों की नज़र करके आज़ादी का तमाशा देखो!

किसान को क्या मिला इस आज़ादी से मजदूर को क्या मिला इस आज़ादी से, दरिद्रनारायण को क्या मिला इस आजादी से... अजीब देश है हिन्दुस्तान, जहाँ सभी कुछ दरिद्रनारायण के नाम पर थैली वाले करते हैं। किसान ने आजादी का मतलब समझा था जमीन, चकबंदी, अच्छे बीज और अच्छी खाद, बैलों की जोड़ी, खेतों के लिए पानी की सहूलत यानी नहरें, कुएं.....तकावी जो सचमुच ग़रीब ज़रूरतमन्द किसान को मिलती है न कि हाकिम परगना या तहसील-

दार या जंट साहब के संग उठने बैठने वाले खाने पीने वाले जमींदार साहब को दे दी जाती है, कहाँ का पानी कहाँ जाकर भरता है! आज़ादी का मतलब किसान ने यही सब समझा था और समझा था सूदखोर महाजन के चंगुल से आज़ादी, कर्ज़ के बोझ से आज़ादी, पटवारी और कानूनगो की मनमानी-हरजानी से आज़ादी,—मगर क्या लगा हाथ उसके? पीढ़ी दर पीढ़ी चले आते हुए उसके क़र्ज़ रद नहीं हुए, सूदखोर बनिये के मुँह में लगाम नहीं लगी, खेतों की चकबंदी नहीं हुई, ज़मीदारी खतम करके, पुराने पट्टों को जलाकर कोई नया पट्टा गाँव के गरीब किसानों के नाम नहीं लिखा गया कि लो ये खेत तुम्हारे हैं, पानी का इन्तज़ाम भी तुम्हारी सरकार कर रही है, इस इलाके में सौ कुएं खोदे जा रहे हैं, एक नयी नहर फ़लाँ जगह से फलाँ जगह तक खुद रही है, उससे आस-पास की इन हज़ारों एकड़ ज़मीन की सिंचाई हो सकेगी... सरकारी क़र्ज़ भी मिलेगा, तकावी........अब तुम्हारी नयी ज़िन्दगी शुरू हो रही है। ....कहीं कुछ भी तो नहीं हुआ, कुछ भी तो नहीं....यह कैसी सुबह हुई जिसमें रात का अंधेरा नहीं कटा, सुबह का नूर नहीं फैला, वही भूख वही जहालत वही चीथड़ वही गूदड़ वही लड़ाई वही झगड़े—सब कुछ वही।

मजदूर ने जो अभी पूरी तरह मज़दूर नहीं बन पाया आज़ादी का मतलब सबसे पहले यह समझा था कि वह वापस अपने गाँव जा सकेगा जहाँ से उखड़कर वह कानपुर कलकत्ता या अहमदाबाद आया है। धरती का मोह अभी उसके रक्त से गया नहीं है।....और अगर मज़दूरी ही करनी है तो फिर अच्छी मज़दूरी मिले। सिर्फ़ आठ घंटे का दिन हो, जिसकी अच्छी उजरत मिले, बाक़ी समय आराम हो खेल कूद का सामान हो, पढ़ने लिखने की गाने बजाने की सुविधाएं

हों, किताबें, अखबार, ढोलक, मजीरा, हारमोनियम, बाँसुरी, सनीमा, ठेठर यह सब हो तो ज़िन्दगी कुछ जीने लायक़ भी कहाई। मज़े में आठ घंटे कारखाने में काम करके आए, फिर सारा दिन अपना है मज़े में गुज़ारो न कोई फिकर न कोई परीशानी .....हवाखोरी के लिए, बच्चों के खेलने के लिए अच्छे अच्छे पार्क और मैदान बनें जहाँ बच्चे बेखड़क खेल सकें नहीं तो सड़क पर खेलते हैं और हरदम मोटर ताँगे का डर बना रहता है और जब देखो तब कोई न कोई मोटर वाला हमारे किसी बच्चे को कुचल ही जाता है.....दिन भर नाली में से गोली निकालते और छप्पर पर से गुल्ली उतारते, बीड़ी के टुर्रे फूंकते और गाली बकते उनका लड़कपन खतम हो जाता है....यह सब इसीलिए न कि चारों तरफ़ किसी चीज़ का कोई सिलसिला नहीं है, हर तरफ़ बस बदअमली है ! लड़के या तो कच्ची उमर से ही कारखाने में खटते या आवारागर्दी करते हैं यानी वह नहीं करते जो उन्हें करना चाहिए, कि पढ़ें लिखें, आदमी बनें।

आज़ादी का मतलब मज़दूर ने यह भी समझा था कि सरकार मज़दूरों को मकान बनाने के लिए क़र्ज़ देगी, बहुत हलके से ब्याज पर या बिना ब्याज और क़र्ज़ ऐसा जो सरकार पचीस-पचास बरस में चुकता करा लेगी......यह चाल का रहना, यह खोलाबाड़ी की ज़िन्दगी, यह कबूतरखाने की ज़िन्दगी , यह हाथ भर की कोठरी.......अब तो इसका मुँह काला होगा। अब अपना राज हुआ और गाँधी बाबा कहते थे स्वराज का मतलब किसान मज़दूर प्रजा राज। सो अब मज़दूर का राज आया है, एक ही दिन में थोड़े ही आ जायगा सब.....बच्चा एक ही दिन में थोड़े ही दौड़ने लगता है, पहले यों ही चित पड़ा रहता है, फिर करवट लेने

लगता है, फिर पलटने लगता है, फिर उठकर बैठने लगता है, फिर घिसटने लगता है, फिर घुटनों चलने लगता है, फिर खड़े होकर डगमग डगमग चलने लगता है, फिर मजे में चलने लगता है, फिर दौड़ने लगता है—उसी तरह अपना यह स्वराज है। एक ही रोज में सब कुछ नहीं हो जायगा, लेकिन हाँ अब देश चल पड़ा है उसी रास्ते पर और धीरे धीरे करके सब कुछ हो जायगा। —

और धीरे धीरे करके सारी आशाएं धुआँ हो गईं। मगर वह बाद की बात है।......

मध्यम वर्ग के पढ़े-लिखे शहराती बाबू ने आज़ादी का मतलब समझा था, नौकरी, काम, बेकारी का अन्त, अच्छा घी, अच्छा दूध, फल, रहने के लिए साफ़-सुथरा मकान, लड़कों के लिए व्यायाम-शाला, स्कूल-कालेज की सस्ती पढ़ाई, बाप भी काम से लगा और बेटा भी काम से लगा और बेटी अच्छी जगह ब्याही।

घरों को खेतों को खलिहानों को, कलों को कारखानों को, औरतों को बच्चों को, अस्मतों को और सब की सब उम्मीदों को आग लगाती धुआँ बनाती यह आज़ादी आयी........

२६

गोरे चिट्टे महेन्द्र और राज की दोस्ती कब हुई और कैसे हुई, किसने कराई और कैसे उनकी दोस्ती बढ़ी, वह एक लम्बी कहानी है और उसके भीतर घुसने की वैसी कोई ज़रूरत नहीं है क्योंकि उसमें कोई भी राज़ नहीं है। राज और महेन्द्र की दोस्ती वैसे ही शुरू हुई और वैसे ही बढ़ी जैसे कि दो हमजोलियों की आम तौर पर हुआ करती है, बढ़ा करती है। महेन्द्र बहुत खेला-खाया हुआ आदमी था, राज के पहले अब तक पाँच लड़कियां उसकी ज़िन्दगी में आ चुकी थीं, चौदह साल की किशोरी हेमा से लेकर चौबीस साल की इस राज तक। इनमें से दो एक ब्याही जाकर उसकी ज़िन्दगी से बाहर हो गई थीं और तीन चार को महेन्द्र ने काम निकल जाने पर धक्के देकर बाहर कर दिया था। हम इस बात को कुछ अनिश्चित ढंग से इसलिए कह रहे हैं कि एक लड़की पियारी दास के बारे में कहना मुश्किल है कि उसने पहले शादी कर ली और फिर महेन्द्र से उसका कोई लगाव न रहा या महेन्द्र ने उसके संग दगा की और तब उसे मजबूर होकर किसी और के संग शादी करनी पड़ी। बहरहाल महेन्द्र की ज़िन्दगी में लड़कियाँ इसी तरह आईं और गईं और वह पट्ठा अपना मेडिकल का कोर्स खत्म करके योग्यता तो कम और ज्यादा जोड़-तोड़ मेल-मुलाकात के बल पर हाउस सर्जन बना हुआ था और इसके बाद कहीं किसी मेडिकल सर्विस में निकल जायेगा और डाक्टर महेन्द्र बागची कहलायेगा। मुहब्बत के

अखाड़े का बड़ा फिकैत खिलाड़ी था महेन्द्र। उसकी सफलताओं में एक दो उन लड़कियों के पिताओं का भी हाथ था, जिनको बाद में उसने दरवाज़ा दिखा दिया। बड़ा कलाकार आदमी था! बहुत अच्छे घर का लड़का था, उड़ाने के लिए खूब पैसे पाता था, अच्छे से अच्छा, नये से नये फैशन का सूट पहनता था, बहुत अच्छी स्केटिंग करता था, खासा अच्छा नाचता था, हर साल पहाड़ जाता था मसूरी या नैनीताल या शिमला, रानीखेत में उसे कोई लाइफ़ नहीं मिलती थी इसलिए रानीखेत के नाम से वह कान पर हाथ रखता था। पहाड़ों पर रिंक और हैकमैन्स कैबरे और केमुल्स बैंक और फ़्लैट्स और झील—यही उसकी क्रीड़ा भूमि थी। यहीं उसके नये सूटों की नुमाइश होती, यहीं वह अपने सीखे हुए नये स्टेप्स से दर्शकों को और खासकर दर्शिकाओं को मोहित करता। नाचते वक्त उसका हाथ ज़रूर अपनी संगिनी की कमर में रहता मगर उसकी आँखें हॉल में चारों ओर पाउडर और लिपस्टिक में लिपटी बैठी हुई सुन्दरियों पर लगी होतीं और वह अपनी कामयाबी को उनकी आँखों की चमक में पढ़ने की कोशिश करता। हर औरत उसके लिए शिकार के मानिन्द थी और उसे बिग गेम के शिकार में मज़ा आता था, इसीलिए वह बड़े बाप की बेटियों पर हमला करता था या हमला करता सबसे नकचढ़ी लड़कियों पर, जिनके बारे में यह शोहरत होती कि वो किसी के हाथ आने वाली नहीं हैं, उनके सोने के कमरे में दाखिल होने के पहले हवा भी देहलीज़ पर रुककर इजाज़त ले लेती है, वहाँ एक नहीं दस महेन्द्र की दाल नहीं गलेगी! ऐसों पर ही उसकी निगाह सबसे पहले जाती। जिसे हर कोई सर कर ले वह भी भला कोई मार्का है! जिसे कोई न सर कर सके और महेन्द्र सर करे वही तो मार्का है, जो पुट्ठे पर हाथ न रखने दे, जिनके मिज़ाज

सातवें आसमान पर रहते हैं, जिन्हें अपने रूप का जोबन का या अपने बाप की दौलत का सबसे ज्यादा मद होता है, ऐसों ही से अगर अपनी चिलम न भरवाई, नाक न रगड़वाई तो फिर महेन्द्र महेन्द्र किस बात का !

महेन्द्र असाधारण सुन्दर आदमी था, ताँबे के रंग का गोरा, लम्बा, खूब भरा हुआ कसा हुआ जिस्म, चीते जैसी पतली कमर, चौड़ा सीना और देह में ताकत कूट कूट कर भरी हुई, मजबूत जाँघें, बड़ी हसीन पिंडलियाँ, सुडौल बाँहें। महेन्द्र के लिए वह चरम विजय का क्षण होता जब कोई लड़की आकर उससे लगकर खड़ी हो जाती और अपने दोनों हाथों में उसकी बाँहों को न भर पाते हुए, मुसकराती हुई, प्रशंसा और चाह की निगाहों से उन साँचे की ढली हुई बाँहों और महेन्द्र के गर्व दीप्त चेहरे को देखती ! महेन्द्र को पता था कि लड़कियाँ उसके रूप और गुण पर तो जितना कुछ रीझती हैं रीझती ही हैं मगर असल में वो रीझती हैं उसकी देह पर। महेन्द्र को यह बात पता थी, इसलिए वह आत्मीयता बढ़ने के अनुसार क्रमशः अपनी पिंडलियों और जाँघों के प्रदर्शन का मौका निकाल ही लेता। उसका अपना दृढ़ विश्वास था कि लड़कियाँ सुन्दर हृदय पर नहीं सुन्दर देह पर मरती हैं, पुरुष की नेकी पर नहीं, शक्ति और साहस पर जान देती हैं। इसीलिए प्रेम उसके लिए एक नितान्त स्थूल कायिक चीज थी जिसमें देह के अलावा दूसरी किसी चीज को कोई दखल नहीं था। उसका बस चलता तो प्रेम में आँसू बहाने वालों को एक लाइन से खड़ा करके गोली मार देता। प्रेम—यानी जिस चीज को महेन्द्र प्रेम समझता था—जहाँ देह से हटकर मन पर पहुंचता वहीं महेन्द्र उसे दिमाग का फ़ितूर समझने लगता। इसीलिए प्रेम और विरह की सारी कविता उसके नज़दीक कवियों के दिमाग का फ़ितूर थी।

और न कभी वह ऐसी कविताएं पढ़ता बल्कि उसका तो अगर बस चलता तो उस सारे साहित्य को आग में झोंक देता जो पुरुष को इतना निःशक्त और निर्वीर्य बना देता है कि वह ज़रा सी बात पर टेसुए ढरकाने बैठ जाता है ! कविता में भी सबसे पहले उसे पौरुष के गुण की तलाश होती थी। वह अकसर कहता, साहित्य को Manly होना चाहिए। अब यह तो कभी किसी ने उससे पूछा नहीं कि Manly से तुम्हारा क्या मतलब है। मगर यह देखकर कि बायरन उसका सबसे प्रिय कवि था और डान जुआन उसकी सबसे प्रिय कविता, यह अंदाज़ लगाया जा ही सकता है कि मैनली कहने से महेन्द्र का क्या मतलब है। बोकाच्चियो की कहानियाँ, कासानोवा के ऐडवेंचर, बेनवेनुतो चेलीनी के साहस की कहानियाँ, फ्रांस्वा वियों की जीवनी और उसकी कविताएं, फ्लाबेयर, मोपासाँ और इधर आकर आस्कर वाइल्ड—यही उसका मानसिक आहार था। कासानोवा और डान जुआन उसके हीरो थे। महेन्द्र कुछ खास पढ़ा लिखा आदमी नहीं था, डाक्टरी के छात्र को यह सब पढ़ने सोचने का मौका भी कहाँ मिलता है। लेकिन इतने बरसों में उसका व्यक्तित्व जो एक खास तरह का बन गया है, उसके लिए जिस खास तरह के मानसिक आहार की जरूरत थी उसके लिए समय निकल ही आता था।

महेन्द्र बड़े घर का बेटा था, इस नाते उसके आचरण में एक तरह की उच्छृंखलता, कुछ छिछोरपन रहा हो तो नहीं कहा जा सकता मगर यों शायद उसमें कोई बुराई न थी। यह तो डान जुआन और कासानोवा ने उसकी मट्टी पलीद कर दी, रही सही कमी मैकियावेली ने पूरी कर दी। और उसके बाद भी जो कमी रही उसको खुद ज़िन्दगी ने पूरा कर दिया। आज से कोई दस बरस पहले जब

महेन्द्र का पहला पहला परिचय मैकियावेली से हुआ था तो उसे ऐसा ही लगा था जैसे कोई किसी को अंगारा छुला दे। उसके अन्दर जो युवकोचित आदर्श भावना थी, नैतिकता की भावना थी मैकियावेली ने उसके तार तार अलग कर दिये, कहना चाहिए खाल उधेड़कर रख दी.....न्याय—अन्याय, सच—झूठ, भला—बुरा, जब महेन्द्र ने मैकियावेली को इन सब को शक्ति और सफलता की एक अकेली तराजू पर तौलते देखा तो वह डर गया क्या यही दुनिया की असलियत है? क्या यहाँ ऐसी कोई चीज़ नहीं जो सांसारिक सफलता की तराजू से अलग, उस कसौटी पर चढ़े बिना भी सत्य हो, न्यायपूर्ण हो, सुन्दर हो?—जो कि इसलिए सत्य न हो कि वह सांसारिक दृष्टि से सफल है, बल्कि इसलिए कि वह सत्य है, जो कि इसलिए न्यायपूर्ण न हो कि उसके पीछे शक्ति या सत्ता का राजदंड है बल्कि इसलिए कि वह न्यायपूर्ण है, जो कि इसलिए सुन्दर न हो कि वह सबसे ज्यादा विज्ञापित है, बल्कि इसलिए कि वह सुन्दर है? क्या यह दुनिया सचमुच ऐसी ही है, इतनी ही भयानक, इतनी ही कुटिल? क्या सफलता की मुहर लगने से ही झूठ सच अन्याय न्याय और कदर्यता सुन्दर हो जायेगी? चाँदी सोने की कुछ मुद्राओं के हस्तांतरण से या सत्ता के भ्रू निक्षेप से ही क्या सत् असत् का, सच झूठ का, सफ़ेद स्याह का सब विवेक नष्ट किया जा सकता है? मैकियावेली कहता है, हाँ, समाज का नग्न यथार्थ यही है, बाकी तो सब क़लई मुलम्मा है। जो सफल है, जिसके हाथ में शक्ति है उसका दोष कोई भी नहीं देखता, तुलसीदास ने भी शायद कहीं कहा है—समरथ को नहिं दोष गुसाईं और जो समरथ नहीं है यानी जो शक्तिवान नहीं है उसके अन्दर सबको दोष ही दोष मिलते हैं। तो यह है हमारी इस दुनिया का इस समाज का असल चेहरा। तरुण महेन्द्र को यह चेहरा देखकर डर लगा तो इसमें

आश्चर्य की क्या बात है। उसके शरीर में जब तक सफेद रक्तकण रहे (और तरुणाई में सभी के शरीर में सफेद रक्तकण ज्यादा होते हैं!) उसने उन रोग के कीटाणुओं का मुकाबला किया जिन्हें मैकिया-वेली ने उसके रक्त में तैरा दिया था, मगर उसे अपने आस पास की दुनिया का जो रूप रोज़ रोज़ देखने को मिलता उसने तेजी से इन सफ़ेद रक्तकणों का संहार शुरू कर दिया और जैसे जैसे उधर वे सफ़ेद रक्तकण मरते गये वैसे वैसे उसका मन मैकियावेली का बन्दी होता गया, यहाँ तक कि होते होते वह पूरा पूरा मैकियावेली का गुलाम हो गया और मैकियावेली की गुलामी का मतलब था कि अब तक जो सूरज उसकी ज़िन्दगी को रोशनी दे रहा था वह बुझ गया और उस सूरज की जगह आग के एक बड़े से झुरमुट ने ले ली, जिससे बड़ी डरावनी लाल लाल रोशनी निकलती थी, जिस रोशनी में यह दुनिया पिशाचों की दुनिया मलूम होती थी। इस आग ने महेन्द्र की सारी सद् प्रवृत्तियों को जलाकर खाक कर डाला। एक भयानक ठंडी सिनिसिज़्म से, उसकी नफ़रत और उसके धुएं से उसकी ज़िन्दगी भर उठी, जहाँ कहीं कोई रोशनी नहीं थी, कहीं कोई मुहब्बत नहीं थी, कहीं कोई हरि-याली नहीं थी, कहीं किसी विश्वास की कोई नयी कोंपल नहीं थी, कहीं ज़िन्दगी का फैलाव नहीं था, कोई बड़ा लक्ष्य नहीं था व्यक्ति की ज़िन्दगी जिसका अंश बन सके, जिसके लिए व्यक्ति की ज़िन्दगी की सार्थकता हो। कहीं कोई दोस्त नहीं थे, साथी नहीं थे, महबूब नहीं थे, कोई अपना नहीं था, सब बेगाने थे, पराये थे, महेन्द्र के शिकार थे, उसी तरह जैसे महेन्द्र उनका शिकार था और उसी तरह जैसे वे और महेन्द्र किसी तीसरे के शिकार थे। यानी अगर कोई संबन्ध है तो यही। दूसरा कोई मानवी नेह नाता नहीं। मानवी नेह नाते इन्सान की कमजोरी हैं, उसके संकल्प को कमजोर बनाते हैं और उसे अपने मार्ग से विचलित करते हैं। उन्हें खत्म किये बग़ैर

सफलता की चढ़ाई नहीं चढ़ी जा सकती !

महेन्द्र से जब तक बन पड़ा उसने इस ज़हर से इस कालकूट से लड़ने की कोशिश की थी लेकिन आज की दुनिया के सारे प्रमाण, जिन-पर पैर जमाकर वह इस ज़हर का मुक़ाबला कर सकती, प्रतिकूल पड़ते थे। लिहाजा महेन्द्र और मैकियावेली की लड़ाई में महेन्द्र जल्दी ही हार गया और मैकियावेली इस तरह महेन्द्र को छापकर बैठ गया जिस तरह शेर अपने शिकार को अपने अगले पैरों से। उसके बाद से फिर कहीं कोई अन्तस्संघर्ष नहीं रहा, मैकियावेली महेन्द्र की आँख हो गया, अंधेरी रात में उसको दिशा बतलाने वाला ध्रुवतारा (कैसा धूमकेतु कैसा धूमकेतु!)

/

दुनिया को देखने के सिलसिले में मैकियावेली ने जो कुछ महेन्द्र के संग किया वही डान जुआन और कासानोवा के क़िस्सों ने प्रेम के संबंध में किया। जिस उम्र में इन महानुभावों की छाया उस पर पड़ी, प्रेम उसके लिए भी एक परम पवित्र भाव रहा होगा, एक ऐसी देवी जिसकी पूजा पवित्र मन और पवित्र शरीर से करनी चाहिए, लेकिन फिर डान जुआन और कासानोवा की गर्मी से जैसे दूध फट गया और प्रेम की सारी निष्कलंक शरद ज्योत्स्ना जैसी ठंडक और उजलापन और गंभीर पवित्रता ग़ायब हो गयी और उसकी जगह प्रेम के नाम पर देह की भूख की लपट आ बैठी। तबसे महेन्द्र के लिए प्रेम दो शरीरों का मिलन छोड़ और कुछ नहीं है, 'आत्मा के मिलन' की बात सुनकर उसे हँसी आती है। यह भी नहीं कि महेन्द्र अपने इन विचारों को गोपन रखता हो। क़तई नहीं, ललकार कर वह उनकी घोषणा करता है। और उस ललकार में जो एक चुनौती है, लपट की तरह झुलसा देने वाला जो एक नंगापन है वही

उसका सबसे बड़ा आकर्षण है। और आकर्षण वह है, यह तो इसी से सिद्ध है कि इतनी लड़कियां उसके पास खिंचकर आती हैं और शायद इसीलिए कि वह उनसे शाश्वत प्रेम की कोई प्रतिज्ञाएं नहीं करता, उनको जो देना चाहता है और उनसे जो पाना चाहता है उसको साफ साफ गद्य की भाषा में कहता है और इस बात की सबसे बड़ी शक्ति इसमें है कि उसमें कहीं कुछ छिपा हुआ नहीं है, किसी धोखेधड़ी की गुंजाइश नहीं है, शाश्वत प्रेम की प्रतिज्ञाओं में तो मार इसकी गुंजाइश ही गुंजाइश रहती है! जो है सब सामने है, मन भाये उठा लो, न मन भाये अपनी राह चले जाओ, दूसरे आयेंगे, रास्ता मत रोको!

रुख व तेवर यही होते हैं, ज़बान अलबत्ता मीठी होती है! ज़बान ऐसी लट्ठमार नहीं होती, यह तो कहानी कहनेवाले की ज़बान है जो अपनी एक्सरे निगाहों से स्थूल शरीर के व्यवधानों को चीर कर असल कंकाल की फोटो उतारने की कोशिश कर रहा है।

महेन्द्र : राजेश्वरी, चलती हो हज़रतगंज?

राज : सुबह की तरह कहीं इस वक्त भी मेरे यहाँ कालेज में कोई फंक्शन न हो?

महेन्द्र : बड़ी सख्त 'बोर' हो तुम। चलते ज़रा हज़रतगंज की रोशनी देखते, मकानों पर चमकती हुई और सड़कों पर बिछलती हुई!

राज : तुम्हें कभी कोई बात......

महेन्द्र : ....कहते झिझक भी नहीं मालूम होती—यही कहना चाहती हो न? झिझकना लड़की की सिफ़त है। मैं मर्द हूं। मर्द

झिझकता हूं तो झिझकता ही रह जाता हूं। झिझकने की इसमें क्या बात है ? I like to call things by their proper name, मुझे वह सब पाखंड नहीं आता।

राज : नहीं, पाखंड की बात नहीं है.....

महेन्द्र : खैर, जो भी बात हो, मैं उसकी बहस के लिए इस वक्त नहीं आया हूं। काफी देर यों ही हो गई है। चलती हो तो चलो ज़रा घूम आयेंगे दोनों का जी बहल जायेगा, न चलना हो तो वैसा कहो।

राज : ज़रा पूछ लूं मिसेज़ गिडियन से।

महेन्द्र : यह सब इल्लत मुझे पसंद नहीं। मिसेज़ गिडियन से पूछने जाओगी, वह पता नहीं क्या अलसेट लगा दे और मैं यहाँ बेवकूफ की तरह बैठा मक्खी मारूं। अपने साथ साथ मेरी भी शाम बर्बाद करोगी।

राज : तुम तो बिलकुल घोड़े पर सवार आये हो ?

महेन्द्र ने ओठों में एक बंकिम मुसकराहट छिपाए हुए कहा :— दूल्हन बिदा कराने आया हूं कि यों ही !

राज पता नहीं क्यों महेन्द्र की बात सुनकर सिहर उठी।

महेन्द्र ने आगे बढ़कर मज़बूत हाथों से उसके कंधों को भरपूर पकड़कर उठाते हुए कहा : चलो उठो। संशयात्मा विनश्यति। आदमी को जो करना हो तुरत-फुरत निश्चय करके कर डालना चाहिए। उठो फौरन, कपड़े पहनो और चलो मेरे साथ........ to hell with Mrs Gideon.....मैं गिनती गिनता हूं एक-दो....... तीन, अब एक सेकेन्ड और नहीं दूंगा।

राजेश्वरी और महेन्द्र कम्पाउन्ड से बाहर आ गये तो महेन्द्र ने

कहा—तुम्हारा हसबैंड भी कैसा निकम्मा आदमी है....इतनी जरा सी बात उसकी समझ में नहीं आयी.......अब देखो न, मैंने तुम्हारी ओर से भी खुद ही फैसला कर दिया तो फैसला हो गया वर्ना अभी तुम भी झूला झूल रही होतीं—और मुझे भी झुला रही होतीं.....जाऊं कि न जाऊं.....ऐसे जैसे तुम्हारे जाने-न जाने पर पता नहीं कौन सी चीज़ अटकी हुई है.....अरे, चार दिन की ज़िन्दगी है उसे मस्ती से जीना चाहिए और खुद जीना चाहिए, किसी दूसरे को इसके अंदर दखल नहीं होना चाहिए, नहीं तुम हो कि बैठी मिसेज़ गिडियन की कंठी माला जप रही हो।...... And God said let there be a bore and there was a bore and he called her Raj. कहकर महेन्द्र हँसा। राज ने भी हँसने की कोशिश की। बोली—ज़िम्मेदारी......

महेन्द्र ने बीच में ही बात काटते हुए कहा—ज़िम्मेदारी! मैं जानता हूँ तुम क्या कहने जा रही हो। तुम्हारे मुंह खोलने के पहले मैं जानता था तुम क्या कहोगी.....ज़िम्मेदारी!!! भाड़ में जाय ऐसी ज़िम्मेदारी... ज़िन्दगी जीने के लिए है ज़िम्मेदारी के लिए नहीं।.....तुम इतनी बड़ी हो गयीं मगर अभी तुम्हें जीने का शऊर नहीं आया। लगता है वह भी मुझी को सिखाना होगा।

राजेश्वरी : पहले खुद तो सीख लो .....

इस पर महेन्द्र ठहाका मारकर हँसा, फिर अजीब तरह से राजेश्वरी की आंखों में देखते हुए उसने कहा—तुम अभी पूरी तरह मुझे नहीं जानतीं। मैं बड़ा दिलचस्प आदमी हूं। मेरी संगत से तुम्हारी ज़िन्दगी में भी कुछ भराव ही आयेगा, कोई कमी नहीं होगी।...

कहकर महेन्द्र फिर हँसा और आज शाम ही शाम में यह दूसरी बार राजेश्वरी को सिहरन मालूम हुई।

राजेश्वरी ने थोड़ी देर बाद कहा—महेन्द्र किसी रोज़ मैं तुमको अपनी कहानी सुनाऊँगी।

महेन्द्र ने कहा : क्या करोगी सुनाके! मुझे सब पता है। तुम्हारी दोस्त मालती ने एक रोज़ मुझे सब बतलाया था।

राजेश्वरी ने थोड़े आश्चर्य से पूछा : तो तुम मालती को भी जानते हो ?

महेन्द्र : जानता था कहना ज़्यादा ठीक होगा।

राज : क्यों ?

महेन्द्र : मेरा उससे बिगाड़ हो गया।

राज : क्यों ?

महेन्द्र : वह बहुत सदाचार का ढोंग करती है। मुझे ऐसे लोगों से बहुत चिढ़ है। सूरत न शक्ल, कुत्ते की नक्ल। भगवान ने अगर कहीं शकल-सूरत दी होती तो पता नहीं क्या करती, शायद ज़मीन पर पैर ही नहीं रखती।

राज : नहीं, मालती तो बड़ी अच्छी लड़की है।

महेन्द्र : होगी। मैं क्या जानूं!

हज़रतगंज से लौटते हुए राज ने चुटकी ली—कहो कैसी रही दीवाली ?

महेन्द्र ने बिना रत्ती भर अप्रतिभ हुए कहा—मकानों पर दिए जल रहे थे और बिजली के कुमकुमे, मगर सड़कों पर तो खुद बिजलियाँ चल रही थीं।

राजेश्वरी : बिजलियाँ चल रही थीं या टूट रही थीं ?

महेन्द्र : हुं :, वह कोई और होते होंगे....और देखो राज, तुम इस तरह मुझे न देखा करो, मुझे बड़ी उलझन होती है!

राज : महेन्द्र, तुमसे मुझे बहुत डर लगता है !

महेन्द्र : डर ? मुझसे ? काहे का ?

राज : पता नहीं....तुम्हारी थाह नहीं लगती, शायद इसी से।

महेन्द्र : कुछ नहीं बोला।

राज : मगर तुम अच्छे भी कम नहीं लगते मुझे...

महेन्द्र : पहले भी कई बार तुम यही बात कह चुकी हो पर तुम नहीं जानतीं तुम क्या कह रही हो।

राज : मैं जानती हूं।

महेन्द्र : तुम नहीं जानतीं।

राज : मैं खूब जानती हूं। अपने ही दिल को नहीं जानूंगी मैं !

महेन्द्र : मैं तुम्हारे दिल की बात नहीं कह रहा हूं।

फिर थोड़ा रुककर महेन्द्र ने कहा—कल रात दस के आस-पास मैं आऊंगा। समझीं ? तैयार मिलना। गोमती किनारे घूमने चलेंगे।

महेन्द्र की बात सुनकर राजेश्वरी पहले तो भौंचक सी रह गई, यकायक उसकी समझ ही में न आया कि महेन्द्र का आशय क्या है। बोली, क्यों कोई खास बात है ?.....मगर सवाल करते करते ही जवाब जैसे बिजली के एक कौंधे में उसकी आँखों के आगे चमक गया और वह डर गयी।

महेन्द्र ने आगे बढ़कर उसको अपने मज़बूत आलिंगन में लेते हुए कहा—इतना काँप क्यों रही हो राज ? अभी तो ऐसी सर्दी भी नहीं।

सर्दी नहीं थी मगर राज के दाँत किटकिटा रहे थे।

महेन्द्र ने कसकर उसे अपनी छाती से लगाते हुए, अपने जलते हुए ओंठ उसके खुले हुए गीले गीले से ओठों पर भरपूर रख दिये।

मेडिकल कालेज से गोमती को जाने वाली सड़क यों भी शाम से ही बहुत कम चलती है और दस बजे रात तो भूतखाने की तरह सूनी हो जाती है। ऊपर से नीम की घनी छाया। महेन्द्र कभी कोई ग़लत काम नहीं करता!

राज छिटककर अलग जा खड़ी हुई।

महेन्द्र ने अपनी साँस को सम करते हुए कहा—डर गयीं? डरो मत। डरने की इसमें क्या बात है?

फिर आदेश के स्वर में कहा—इधर आओ, इतना मत डरो..... कहते हुए महेन्द्र ने राज को दुबारा छाती से लगाया और और भी देर तक चूमा। इस बार राज ने सचमुच अपना ढीला शरीर महेन्द्र के मजबूत हाथों में छोड़ दिया था और उसे किसी चीज का कोई होश बाकी नहीं था।

महेन्द्र ने राज की कमजोरी को भाँपते हुए, उसके आश्वासन के लिए कहा: तुम कोई पाप नहीं कर रही हो राज! प्रेम करना कोई पाप नहीं है और जिसे कोई प्रेम करे उसे अगर अपना शरीर भी न दे सके तो हृदय क्या देगा, खाक?

राज ने इस पर भी कुछ नहीं कहा। बस बुदबुदायी—जाने दो।

महेन्द्र ने उसे आजाद करते हुए कहा—कल। इसी समय। तैयार रहना।

राज ने इसका भी कोई जवाब नहीं दिया। पीछे मुड़कर उसने

देखा भी नहीं। डर के मारे उसका बुरा हाल था। किसी ने देख लिया हो तो? .... ..छी छी.....

महेन्द्र राज के पास से चला तो उसका दिल अपनी इस नयी विजय पर बल्लियों उछल रहा था—अब कहाँ जाओगी बचकर मुझसे! अब तो मेरी सील-मुहर लग गयी तुम पर! आज तक कोई लड़की महेन्द्र से बचकर नहीं गई।....राजन मुझसे कहता था: मही, क्यों खामखा इस बुढ़िया के पीछे पड़े हो—गुनाह बे लज्जत! मैंने कहा—तू कुछ नहीं जानता। आम दो तरह का होता है, डाल का पका और पाल का पका। डाल का आम देखने में भले बहुत अच्छा हो, खूब कसा हुआ और अंग अंग भरा हुआ, मगर उसमें वह मिठास नहीं होती जो पाल के पके आम में, चाहे लाख झुर्रियाँ हों उसके गाल पर! बस तो यही समझ ले......पाल पड़ गया बेचारी की जवानी का, इतने बरस बाद अब कहीं एक ग्राहक मिला है.....पर सच कहता हूं, झूठ कहता होऊं तो तू मेरी ज़बान खींचले, पाल पड़े पड़े रस खूब ही मीठा हो गया है, बिलकुल शहद के माफिक........

उसी वक्त उसके भीतर किसी ने ज़ोर से एक चटखारा लिया।

राजन से महेन्द्र की बात हो रही थी।

महेन्द्र ने कहा—राजन, तुझे पता है राजेश्वरी मुझसे प्रेम करती है! खुदा खैर करे! मेरी नहीं उसकी! महेन्द्र और प्रेम! महेन्द्र से प्रेम! घास खा गई है! मगर मेरा इसमें क्या कुसूर। मुझे हँसी भी आती है, तरस भी आता है। जो प्रेम करे उसका दंड भोगे। महेन्द्र तो जैसा है वैसा है। मैंने कभी उससे नहीं कहा कि मैं तुमसे प्रेम करता हूं और मान लो अगर कहा भी तो कोई उसे मान क्यों ले, आँख मूंदकर? इसमें भी मेरा क्या दोष? जिसके पास लड़की

के जिस्म जैसी बेशकीमती दौलत हो, उसे तो और भी आँख खोलकर चलना चाहिए.......

राज अपनी बिस्तर पर पड़ी सोच रही थी : आज यह क्या हुआ राज़ ? अब इस तरह सड़कों पर चूमाचाटी की नौबत आ गयी है, क्यों ? तुम्हारा ऐसा पतन राज ! डूब मरने की बात है । किसी को बड़ा नाज़ था कभी, अपनी प्योरिटी का ! क्या इसी लक्ष्य की ओर आज तक तुम बढ़ रही थीं राज ? जैसे इतने दिन झेल लिया वैसे ही और कुछ दिन नहीं झेल सकती थीं ? कि जरूरी ही था इस तरह कीचड में अपने आपको लथेड़ना !

न्यायाधीश राज को अभियुक्त राज ने जवाब दिया :

जाओ, जाओ, मैंने किया । जो कुछ हुआ वह सब मैंने किया । मैंने, राज ने । और अच्छा किया । तुम कौन होती हो बोलने वाली ? यह मेरी बात है इसमें किसी को दखल नहीं । भला किया तो मैंने किया, बुरा किया तो मैंने किया । मुझे किसी से कुछ नहीं लेना । मुझे किसी की सहानुभूति नहीं चाहिए । हाँ हाँ राज का ऐसा ही पतन होना था और अभी तो कुछ नहीं हुआ.....जाओ पीट दो ढिंढोरा कि राज बाजारू औरत हो गयी......किसी तरह छुट्टी भी तो दो । हाँ हाँ, तुम्हारा इसमें कोई दोष नहीं, सारा दोष मेरा है, मुझी को कीचड़ में लिथड़ना अच्छा लगता है । अब तक तुमने मुझको इस कीचड़ से बचा रक्खा, इसके लिए बहुत शुक्रिया, मगर अब भाग जाओ, सीधे से निकल जाओ वर्ना मैं धक्के देकर निकाल दूंगी । अब मेरा दामन छोड़ दो, मुझे अब कीचड़ में लिथड़ने के लिए छोड़ दो, मुझे अब नहीं चाहिए सफेद कपड़े जिनपर कहीं कोई धब्बा नहीं,

ये कफ़न जैसी सफ़ेदी तुम्हें मुबारक हो ! मर गयी वह राज जिसे अपनी प्योरिटी पर नाज़ था

तभी मालती कमरे में आयी। मालती ने राज को बिस्तर पर गुमसुम लेटे देखा। वह कोई ज़रूरी बात कहने आयी थी, मगर राज की मुद्रा देखकर ठिठक गई। मगर फिर हिम्मत बटोरी और कहा—राज, लौटने में आज बड़ी देर हो गई तुम्हें। कहाँ रह गई थीं ?

राज ने अनमने ढंग से कहा—यों ही ज़रा गोमती किनारे तक टहलने के लिए निकल गयी थी—

मालती चौंक गयी : अरे बापरे, अकेले ! इस समय ?

राज के मुंह से निकल गया : अकेले नहीं, वो भी थे।

बात मुंह से निकलते ही राज का जी धक् से हो गया—अरे, यह मैं क्या कह गयी !

मालती ने पूछा : वो कौन ?

राज चुप रही।

मालती ने कहा : बोलतीं क्यों नहीं ?

अब तो मालती चींटे की तरह चिमट गई। बोले बिना गति नहीं। चोरी पकड़ी जाने पर बच्चे का जो हाल होता है, उसी तरह राज ने भी आँख नीची किये किये कहा : तुम नहीं जानतीं उनको। महेन्द्र।

मालती चिल्ला पड़ी : मैं नहीं जानती उसको ! थरोब्रेड स्वाइन।

राज ने भी चिल्लाकर कहा : चुप रहो। यही शोर मचाने के लिए तुम ग्यारह बजे रात मेरे कमरे में आयी हो ?

मालती ने अपने चिल्लाने पर से मन ही मन ग्लानि अनुभव करते और शान्त होते हुए कहा : नहीं, राज, मुझे माफ करो, तुमने

महेन्द्र का नाम लिया तो मैं आपे में नहीं रही। लेकिन सच मानो राज, मैं तुम्हारे पास शोर मचाने नहीं आई थी। मैं तुमको इस साँप इस बिच्छू इस भेड़िये महेन्द्र से सावधान करने आयी थी। तुम्हारे नाम लेने के पहले मैं जानती थी कि तुम महेन्द्र का नाम लोगी......मैं देखती हूं तुम इधर उसके संग बहुत ज्यादा आने जाने लगी हो, यह ठीक नहीं।

—क्यों ?

—इसलिए कि महेन्द्र जैसा लुच्चा, बदमाश तुमको जमाने में दूसरा नहीं मिलेगा।

—कैसे जाना ?

—राज, वह मुझे डस चुका है।

इस पर राज अजब ज़हरीले ढंग से मुसकराई और बोली—अच्छा, तो यह एक भुक्तभोगी की सीख है !

क्यों, तुम्हें मेरी बात पर यक़ीन नहीं आता ?

—यक़ीन न आने की तो इसमें कोई बात ही नहीं !

—तुम्हारे रुख से तो यही पता चलता है कि तुम समझती हो मैं यों ही उड़ा रही हूं।

—ऐसा मैं कैसे समझ लूंगी। कोई स्त्री कभी किसी पुरुष के संग यों ही अपना नाम नहीं जोड़ सकती। तुम कहती हो तो कुछ बात होगी ही।

—होगी ही नहीं राज, है।

—मैं क्या जानूं मालती, मैं तो होगी ही कहूंगी।

—लगता है मेरी बात को तुम महत्व नहीं देतीं, जैसे इस कान

से सुना और उस कान से निकाल दिया..........

—नहीं, ऐसा तो नहीं पर हाँ मुझे उसमें नयापन कुछ खास नहीं मिल रहा......

—यानी ?

—....यानी यह कि महेन्द्र ने खुद मुझे बतलाया था कि उससे तुम्हारा बिगाड़ हो गया है।

—क्यों हो गया बिगाड़, यह नहीं बतलाया उसने ?

—यह भी बतलाया था मगर जाने दो, क्या रक्खा है उस सब पचड़े में। मुझे सख्त नींद आ रही है।

—नहीं, मेरी राज, आज थोड़ी देर से सोना, मुझे कुछ तो बताओ तुमसे क्या क्या कहा है महेन्द्र ने——

—अरे जाने भी दो मालती। हमारे-तुम्हारे बीच कैसा पर्दा ! महेन्द्र ने मुझे सारी बात बतला दी है।

मालती ने नागिन की तरह फुफकारते हुए कहा—अच्छा तो हजरत ने काफ़ी नमक-मिर्च लगाकर बातें कही हैं।

—नमक-मिर्च की तो कोई बात ही नहीं है। अभी तुमने खुद कहा कि महेन्द्र तुम्हें डस चुका है। मैं भी शब्दों का मतलब समझती हूं मालती !

—राज, तुम क्यों खामखा महेन्द्र की हिमायत में ऐसे बात कर रही हो जैसे मैं महेन्द्र को तुमसे छीन लेना चाहती हूं ? मुझे तुम्हारे महेन्द्र में कोई दिलचस्पी नहीं है।

राज ने डंक मारा—तुम्हें नहीं है या उन्हें नहीं है ?

मालती तिलमिला गयी। बोली—यह तो उसी से पूछना... और हां देखना उसको चौदह मई की शाम को याद दिला देना! ....पर मेरी बात का विश्वास करो में इस समय तुमसे यह कहने आई हूं कि महेन्द्र बहुत बुरा आदमी है, महेन्द्र से बचकर रहना। कभी कभी दूसरे के अनुभव से भी सीखना चाहिए राज—

राज ने जम्हाई लेते हुए कहा: कौन अच्छा है, कौन बुरा, कहना बहुत कठिन है मालती। खैर तुम कहती हो तो महेन्द्र ज़रूर बहुत बुरा आदमी होगा, लेकिन मुझे वह अच्छा लगता है.....बस इतनी सी बात है और दूसरी बड़ी बात यह है कि मुझे बड़ी नींद आ रही है, आँखें खोलना मेरे लिए मुशकिल हो रहा है, बाकी बातें कल करेंगे।

मालती ने रुष्ट होते हुए कहा—मुझे कोई ग़रज़ पड़ी है कि आकर तुम्हारे सामने सारा पुराण गाऊं। अब तुम अपना भला-बुरा सब समझती ही हो तो फिर ठीक है। मैंने दोस्ती के नाते अपना फ़र्ज़ पूरा कर दिया, अब तुम जानो तुम्हारा काम जाने—

—ऑल राइट डियर मालती, थैंक यू।

उधर मालती की पीठ फिरी इधर राज ने अपने मन में कहा—बस चले तो उठाके चोली के भीतर रखले, नहीं आई है बात बनाने!

मालती को तो राज ने काफ़ी आसानी से डिसमिस कर दिया मगर सत्य को डिसमिस करना इतना आसान न था। यहीं इसी कमरे में एक बार सत्य आया था और इसी चारपाई पर बैठा था और उसने कहा था—इस तरह तुम बहुत रोज़ न चल सकोगी राज, मुंह के बल गिरोगी! मैं क्या मुँह के बल गिर रही हूं? सत्य ने क्या इसी चीज़ के खिलाफ़ मुझे आगाह किया था? क्या महेन्द्र से प्रेम

करना मुँह के बल गिरना कहलायेगा ? मुझ याद नहीं राज, सत्य ने ही तो यह भी कहा था कि कोई मन का आदमी तलाश करके उससे शादी कर लो, फिर जो होगा देखा जायगा। अगर वह तुम्हारा जाहिल खाविन्द कोई कार्रवाई करेगा तो उससे भी निबटा जायगा। बहरहाल सौ बात की एक बात यह है कि पहले अपने मन का एक अच्छा सा आदमी तलाश करके उससे शादी कर लो वर्ना ज़िन्दगी पहाड़ हो जायेगी.....सत्य बड़ा समझदार आदमी है, शायद ही दूसरा कोई बात को इतनी अच्छी तरह समझता हो। सच कहती हूं मुझे खुद भी अगर किसी से सच्ची हमदर्दी मिली है तो सत्य से। उसने आज तक कभी मेरा मखौल नहीं उड़ाया, कभी मेरे दर्द का मज़ाक़ नहीं बनाया.....सत्य बहुत समझदार आदमी है, उससे कुछ भी छिपाना कठिन होता है, और उसकी आँखें कितनी पैनी हैं, जहाँ जम जाती हैं लगता है छेद कर देंगी।.....सत्य का जीवन कितना सुखी है, सब अपने अपने भाग्य की बात है। भले सत्य के पास पैसा न हो मगर कितना सुखी है उनका जीवन। सत्य और उषा में आपस में कितना प्यार है। खाने को नमक रोटी मिल ही जाती है, चाँद सा बेबी है जिसे मैंने अब की बार देखा था.......आपस में प्यार हो तो आदमी बड़े मज़े में नमक-रोटी पर ही गुज़र कर सकता है और अगर वही चीज़ गायब हो तो फिर मुझी को देखो न, मेरी ससुराल का वह सब धन मेरे आखिर किस काम आया ? मगर छोड़ो इन सब बातों को, जो बीत गयी उसका ज़िक्र करने से क्या हासिल ? जो आगे है उसकी फ़िक्र करो।... महेन्द्र बाबू कैसे आदमी हैं ? सब लोग महेन्द्र बाबू को बुरा क्यों कहते हैं, वह क्या सचमुच बहुत बुरे आदमी हैं ? और यह मालती क्यों उसके इतना खिलाफ़ है ? उहं, मालती की तुमने भली चलाई। हो गयी होगी कोई बात।......महेन्द्र बाबू ने इस तरह की कोई

बात अलबत्ता नहीं छेड़ी है, मगर मुझे तो महेन्द्र बाबू बहुत अच्छे मालूम होते हैं। शादी-ब्याह की बात ऐसे कैसे पट से छेड़ दें, शर्म तो लगती ही होगी, स्वभाव से भी महेन्द्रबाबू काफी लजीले हैं... और देखने सुनने में कैसे सजीले हैं....जैसे तंदुरुस्त तगड़ा घोड़ा... अरे हाँ, मर्द हो तो ऐसा जिसे देखकर कुछ रोब भी पड़े, नहीं होने को तो ऐसे आदमी भी होते हैं जिनके मुंह पर मक्खियाँ सी भिनकती रहती हैं।.......(यह बात क्या हड़प्पा और मोहेनजोदड़ो जैसी पुरानी हो गयी!)....कल रात तैयार रहने के लिए कहा है उन्होंने। कहीं घूमने-घामने जायंगे शायद......

आदमी अपने को छलना ही चाहे तो कहाँ तक छल सकता है इसकी कोई सीमा नहीं है! आज की इन गरम साँसों और जलते हुए ओठों के बाद कल.....कहीं घूमने-घामने जायंगे शायद! नहीं और कुछ थोड़े ही, और कुछ हो भी क्या सकता है! वह तो महेन्द्र बाबू तुमसे पूछ रहे थे राज, कि तुम नहीं जाओगी उनके संग घूमने......ओफ्फोह कितनी भोली है मेरी राज, वह कुछ जानती थोड़े ही है।.....महेन्द्र तुम आना, मैं ज़रूर तैयार मिलूंगी, फिर हम लोग घूमने चलेंगे। मुझे तुमसे कुछ ज़रूरी बातें भी करनी हैं।.......

इसी तरह पाँच महीने गुज़र गये।

शाम का वक्त था, अंधेरा हो चुका था। महेन्द्र और राज बटलर पार्क में बैठे हुए थे। काफ़ी देर से दोनों चुप थे। महेन्द्र आज असाधारण रूप से खामोश था। आखिरकार राज ने इस मौन की

ज़ंजीर को एक जगह काटा। राज ने कहा—मैं तुम्हें बिलकुल समझ नहीं पाती महेन्द्र !

महेन्द्र ने मुसकराहट के आवरण में लपेटकर मगर सर्द अलफ़ाज़ में, बेहिसी से कहा—कैसी अजीब बात है, तुम अब तक मुझको नहीं समझ पायीं, मैं जो कि किसी जगह इतना सा भी छिपा हुआ नहीं हूं।

राज ने बड़े उदास स्वर में कहा—मैंने समझा था वह एक रँगीला चेहरा है जो तुमने दुनिया को धोखा देने के लिए लगा रक्खा है, जिसके पीछे तुम्हारा असली चेहरा है जिसे तुम ज़माने की ओछी निगाहों से बचाना चाहते हो.....

महेन्द्र ने क्रूर उद्धत ढंग से कहा—नहीं, मेरे पास कुछ भी छिपाने के लिए नहीं है। वह रंगीला चेहरा ही मैं हूं। उसके पीछे कुछ भी नहीं, रेगिस्तान भी नहीं। तुम्हें ग़लतफ़हमी हुई।

राज ने उसी निराश स्वर में कहा : हाँ, अब मैं समझ रही हूं। मेरी ही ग़लती थी । मालती ठीक कहती थी.....

महेन्द्र चीख पड़ा : मालती क्या कहती थी ?.....

राज ने अपने उसी बुझे हुए स्वर में कहा : कुछ नहीं।

लम्बी खामोशी का फिर एक दौर। उसे भी फिर तोड़ा राज ने।

राज ने पूछा—अब क्या होगा कुछ सोचा है ?

महेन्द्र ने जैसे बात न समझते हुए कहा—अब क्या ?

राज ने कुछ खीझ और कुछ कोमलता मिले स्वर में कहा—तुम्हें तो जैसे कुछ पता ही न हो !

महेन्द्र ने कमीने गुस्से के स्वर में कहा—पता होकर भी क्या करे! तुम्हारी बेवकूफी से यह चीज़ हुई, अब तुम जानो तुम्हारा काम जाने......

राज ने एक सर्द आह ली और कहा—मालती ठीक कहती थी...

महेन्द्र ने चीखते हुए कहा—मालती....मालती....मालती.. क्या कहती थी मालती, ज़रा मैं भी तो सुनूं.....

राज ने बिना तनिक भी उद्विग्न हुए, अपने सोच में डूबे हुए स्वर में कहा : मालती क्या कहेगी! उसने मुझको चेताया था पर मैंने कोई ध्यान नहीं दिया। उसने कहा था—कि तुम एक रोज़ ऐसे ही किसी गड्ढे में लेजाकर मुझे पटकोगे। मालती ने कहा था, पहले ही दिन जब मैंने इधर कदम बढ़ाया था ....

महेन्द्र ने कहा : अब जाकर उसी मालती से पूछो, शायद कोई राह सुझाये......

राज : कुछ ग़लत थोड़े ही कहते हो, यही दस्तूर है दुनिया का, गड्ढे में गिराओ तुम, निकाले कोई दूसरा आकर।

महेन्द्र ने बिफरते हुए कहा—मैंने किसी को गड्ढे-वड्ढे में नहीं गिराया। जो कुछ हुआ तुम्हारी बेवकूफी से हुआ और जो कुछ हुआ समझ-बूझकर हुआ, तुमने अपनी खुशी से किया, तुम कोई नादान बच्ची नहीं थीं! ....

राज ने कोई प्रतिवाद न करते हुए कहा : तुम ठीक कहते हो, मैं कोई नादान बच्ची नहीं थी और जो कुछ हुआ मैंने किया, मेरी खुशी से हुआ—इसमें कहीं कोई झूठ नहीं है....मगर तुम्हारे मुंह में ये शब्द कितने नैचुरल लगते हैं! मैंने उसकी बात मानी नहीं मगर मालती ठीक कहती थी.....

महेन्द्र ने फिर आवेश में आते हुए कहा : फिर वही मालती मालती....आज तुमको हो क्या गया है राजेश्वरी ?

' राजेश्वरी ? अच्छा तो पल्ला झाड़कर अलग होने की क्रिया शुरू हो गयी।

राज के शब्द ऐसे सुन पड़े जैसे कुएं में से आ रहे हों, उसने कहा—मुझे अब तुम बस इतना बतला दो महेन्द्र कि क्या मैं तुमसे किसी सहारे की उम्मीद कर सकती हूं ?

महेन्द्र ने वैसा ही दो टूक जवाब दिया : सहारे का मतलब अगर तुम यह समझो कि मैं तुमसे शादी करके घर बसाऊंगा और फिर हमारा मुन्ना आँगन में खेलेगा और हम तुम पहले उसे और फिर एक दूसरे को देखा करेंगे और इसी तरह हमारी जिन्दगी हंसी खुशी बीत जायेगी—तो यह कभी नहीं होने का। भेड़िये को घर की पालतू बिल्ली बना लेना ज्यादा आसान होगा। महेन्द्र कभी शादी नहीं करेगा। महेन्द्र किसी से बँधकर नहीं रहेगा, महेन्द्र लहरों की तरह आज़ाद रहेगा। तुम दिल से निकाल दो कि मैं तुमसे शादी करूंगा, मैंने कभी तुमको यह उम्मीद दिलाई भी नहीं और तुमने अगर अपनी तरफ से सारी बातें तय कर डाली हों तो उसमें मेरा कोई दोष नहीं है।

· राज : दोष सारा मेरा है। अब बताओ कुछ हो सकता है या—मुझे मौत की गोद में ही मुंह छिपाना होगा ?

यह बात राज ने इतने सहज ढंग से, बिना किसी आवेश के कही कि महेन्द्र भी एक बार काँप गया। मगर वह कोई बच्चा आदमी तो नहीं जो एसी बातों से डिग जाये। अपने उसी तटस्थ और निर्दय ढंग से उसने कहा—नहीं, डाक्टरी विज्ञान काफी मददगार हो सकता है। मेरे कई साथी हैं जिन्होंने इसी चीज में स्पेशलाइज किया है। मेरी

एक दोस्त हैं रोमोला फर्नान्डेज—अभी थोड़े रोज हुए विलायत से गाइनोकालोजी की डिग्री लेकर लौटी है। मुमकिन है वो कुछ कर सके।

राज महेन्द्र के ठंडे उदासीन बर्ताव से बुरी तरह तिलमिला रही थी—कैसे बात करते हैं जैसे कहीं कुछ हुआ ही नहीं। कोई जिये चाहे मरे इनके कान पर जूं भी नहीं रेंगेगी—

राजको मन ही मन बड़ा डर लगा महेन्द्र से—जो आदमी ऐसा बर्फ की सिल्ली जैसा सर्द और कठोर हो सकता है...... एक शब्द तो ढाढ़स का न कहा होगा, सच कहती हूं एक शब्द नहीं....नहीं मैं आज की बात नहीं कहती परसों चौथे रोज़ की बात कहती हूं जब पहली बार मैंने........ हां, बतलाया महेन्द्र को। चौंका तक नहीं, और क्या कहूं चौंका तक नहीं। जैसे उसे पहले ही से सब मालूम हो, जैसे कोई बात ही नहीं हुई, जैसे उसका कोई सरोकार न हो उस चीज़ से! जैसे किसी और की देन हो वह! न हां कहा न ना कहा न दिलासे का एक शब्द ही कहा, न एक बार पीठ पर हाथ ही फेरा न एक बार आंखों से ही सहलाया और न अपने किसी अंदाज़ से उसने दिखलाया कि इस भंवर में से किश्ती को निकालने के लिए वह भी मेरे संग ज़ोर लगायेगा—पलक तक तो झपकाई नहीं! उसी वक्त मैं जान गई कि मालती ठीक कहती थी, यह आदमी नाग है नाग, काली नाग। इसके काटे को लहर भी न आवे! आज तो और भी खुल गयी मेरी आंख। कैसे पत्थर की तरह बैठा है और चबर चबर बात कर रहा है....नहीं मुझसे न होगा वह काम? मैं मर जाऊंगी पर उस रोमोला फर्नान्डिज़ के पास न जाऊंगी। मदारी जैसे बंदरिया नचाता है न, वैसे ही अब यह दुनिया भर में मुझको नचाना चाहता है....नहीं नहीं नहीं....एक के बाद अब यह दूसरा

पाप मैं नहीं लूंगी अपने सिर। मुझे खुद मर जाना मंजूर। अरे, क्या रक्खा है, जैसे जीती हूं वैसे मर गई। पर मैं एक जीव की हत्या करूँ यह मुझसे नहीं होगा। दूसरे ही तीसरे महीने बच्चे में जीव पड़ जाता है, अब तो यह पांचवां महीना चल रहा है। मैं खुद ज़हर खाकर सो रहूंगी मगर किसी रोमोला फोमोला फर्नान्डिज़ के पास नहीं जाऊंगी!

बोली—जाने दो, मेरी गलती है, मैं भुगत लूंगी।

महेन्द्र ने कहा—जैसी तुम्हारी मर्जी। मैं जो कुछ कर सकता हूं उसके लिए कभी इनकार न करूंगा मगर हां जो चीज़ मैं नहीं कर सकता...राजेश्वरी मुझे साफ बात कहना अच्छा लगता है।

राज ने कहा—यह तो बड़ी अच्छी आदत है। बात साफ ही कहनी भी चाहिए।

मालती आरामकुर्सी पर लेटी कुछ पढ़ रही थी। राज वहीं आई और बिना एक शब्द मुँह से निकाले आकर पलंग पर ढेर हो गई। चेहरे को उसने हाथों से ढंक लिया और बेअख्तियार फफक फफककर रोने लगी। जितना ही वह अपने ऊपर जब्त करने की कोशिश करती उतना ही अपने पर उसका ज़ब्त न रहता।

मालती उठकर पलंग पर पहुंची और राज के हाथों को अपने हाथों में लेकर चेहरे से अलग करते हुए उसने पूछा—यह क्या राज?

राज ने आंखें नहीं खोलीं। और न कोई जवाब दिया। मालती ने उसे झकझोरते हुए कुछ कठोर स्वर में कहा—कुछ बोलती क्यों नहीं जी? ...लेटी लेटी आंखों से परनाला बहा रही हो।.....

तब राज ने आँखें खोलीं। राज की आंखें तो यों भी सदा खुली किताब

के समान रही हैं जो चाहे उनमें पूरी कहानी पढ़ सकता है। पढ़ना भी बहुत नहीं पड़ेगा, झांकते ही बहुत कुछ दिख जाता है। इस वक्त तो वह आंसुओं से तरबतर मुखड़ा, वह लाल आंखें और वह सूजे हुए ओठ, सब अपनी कहानी कह रहे थे। मालती ने भी अपने को भीतर ही भीतर आर्द्र होते महसूस किया। मगर उसे बाहर छलक आने से बचाते हुए उसने कहा—महेन्द्र के पास से आ रही हो?

राज ने अपनी सिसकियों के बीच कहा—मालती, मैंने तुम्हारी बात नहीं मानी। महेन्द्र ने मुझे बरबाद कर दिया—

—क्यों क्या कहता है?

—कहता है मुझे तुमसे कोई मतलब नहीं है।

—तो इसमें रोने की क्या बात है? अच्छा हुआ पाप कटा, जल्दी ही उससे तुम्हारा पीछा छूट गया वर्ना उसने तो पता नहीं कितनी लड़कियों की मिट्टी खराब की है।

—मेरे ही पास अब क्या बचा मालती! मैंने बहुत बार सोचा कि तुम्हें बतलाऊं मगर डर के मारे मुंह नहीं खोल सकी।

और अब भी राज ने 'वह' बात मुँह से नहीं आंखों से बतलाई—आधे मिनट की वह निर्निमेष करुण दृष्टि जिसमें नारी की परवशता, खंडिता का आक्रोश, मां की ममता सभी कुछ था।

मालती के मुँह से निकला ओह, और वह किसी गहरे सोच में डूब गयी। बोली—मैं देख रही थी कि तुम ढलवान पर चल रही हो और फिर महेन्द्र तो ऐसा ढलवान है जिसके नीचे अतल पानी के सिवा और कुछ नहीं....मैं तो तुम्हें सावधान करने गयी थी...पर इस चीज़ का मुझे पता न था।

—तुम तो बड़ी पुरानी बात कह रही हो मालती। तब तक मैं

सचमुच ढलवान पर खड़ी भर थी, मेरे पैर तब तक नहीं उखड़े थे।

अब उसके इतिहास में जाने से लाभ ? गलती सभी से होती है। मुझसे भी गलती हुई ही, तभी मैं खुद उसके चंगुल में आ गयी। मगर बात बस इतनी सी है कि मैं जरा जल्दी संभल गई, तुम्हें जरा देर में अकल आयी—

मैं तो बरबाद हो गयी मालती। मुझे क्या पता था कि वह आदमी ऐसा जानवर निकलेगा—

देखो अब अपनी गलती को ढांकने की कोशिश मत करो राज। जो हो गया सो हो गया। अब यह सब मत कहो कि मुझे यह पता नहीं था वह पता नहीं था....मुझे पता था कि महेन्द्र के लिए तुम्हारे दिलमें क्या जगह है। उसके बावजूद मैंने तुमको उस रास्ते पर बढ़ने से रोका, तो आखिर कुछ तो बात रही होगी। मुझे पागल कुत्ते ने काटा था कि ऐसे नाजुक मामले में जिसमें कोई कभी किसी दूसरे की सलाह नहीं मानता, मैं तुम्हें सलाह देने गयी थी, तुमसे उलझने गयी ? आखिर क्यों ?....तुम्हें मेरी बात पर कान देना चाहिए था, मेरे तजुर्बे से कुछ सीख लेनी चाहिए थी। ...मगर छोड़ो, अब इन बातों में क्या धरा है। अब सवाल तो यह है कि हो क्या अब ?....

थोड़ी देर खामोशी छायी रही। फिर मालती ने कहा: मेरी जान पहचान की कुछ डाक्टर दोस्तें हैं राज।....

नहीं माला, उनकी बात मत करो ....मैं हत्या नहीं करूंगी।

तो फिर ?

मैं न रहूंगी तो फिर मुझे क्या गम ?

कहां चली जाओगी ?

मुझे थोड़ी सी संखिया ला दोगी मालती, मैं हिम्मत करूंगी। मुझे मरने से बड़ा डर लगता है माला, पर अब मैं जी नहीं सकूंगी, ज़िन्दगी के दरवाज़े मुझपर बन्द हो गये। अब जीना शायद मरने से भी मुश्किल हो।....

कैसी बेवकूफी की बातें कर रही हो राज? पागल हो गयी हो?

नहीं, माला, पागल ही हो पाती तो फिर किस बात का रोना था! पागल ही तो नहीं हो पाती....मैं एकदम होश में हूं और एकदम ठंडे दिल से सोच रही हूं इसीलिए तो और कांप कांप जाती हूं सोचकर कि भाँडा जब फूटेगा तब लोग कैसे मुझे देखते ही आंखें फेर लेंगे जैसे मैं कोढ़ी हूं और कैसे तब कानोंकान मेरी चर्चाएं होंगी जो पागल हवाओं की तरह गलियों में घूमेंगी और दीवारों से टकरायेंगी—नहीं, मालती, मुझमें इतना साहस नहीं है। ज़हर खा लेना शायद फिर भी आसान होगा। एक बार हिम्मत करने की बात है। ये निगाहों की बछियां और ज़लील क़िस्सों के नेज़े—नहीं मालती इनको सहने के लिए बड़ी ताक़त होनी चाहिए। मैं बिलकुल मरना नहीं चाहती मालती, मुझे मरने से बड़ा ऽ ऽ डर लगता है, और फिर मुंह ही मुंह में बुदबुदाते हुए कहा जिसमें कोई सुन न ले, मगर इस तरह जीने से तो और भी ज़्यादा डर लगता है....नहीं मालती, तुम्हें मुझे थोड़ी सी संखिया लाकर देनी ही होगी....

मालती फटी फटी आंखों से राज को देख रही थी और तय करने की कोशिश कर रही थी कि उसके प्रलाप में उन्माद कितना है और सच्चाई कितनी—और तब उसे बड़ा डर मालूम हुआ क्योंकि उसे राज के चेहरे पर सब भीतियों और भ्रान्तियों के बीच भी संकल्प की एक छाया ज़रूर दिखायी पड़ी। शायद वह उस मनःस्थिति में थी जब आदमी डर के मारे ही कोई साहस का काम कर बैठता है, भले वह साहस

आत्महन्ता हो।

मालती ने कहा : राज, तुम बहुत थकी हुई हो, सो जाओ। कल और बात करेंगे इस मामले पर, फिर जो ठीक समझना करना। तुम मरना ही चाहोगी तो कोई चौबीस घंटे तुम्हें बांधकर थोड़े ही रख सकेगा और कोई आत्महत्या करना ही चाहे तो किसी भी तरह कर सकता है, ज़हर खाकर, फांसी लगाकर, कुएं में कूदकर, आग लगाकर, नदी में डूबकर, रेल के नीचे। बहुत से तरीके हैं। मगर मैं नहीं चाहती राज कि तुम मरो, तुम्हारा मरना महेन्द्र जैसे सांप-बिच्छुओं की जीत होगी। ज़रा सोचो, इस तरह अपनी जान देकर तुम किसका भला कर रही हो ? उसी आदमी का जिसने तुमको इस हालत पर पहुंचाया है। वह और स्टाइल से अपने सुनहरे चश्मे की डंडी को ठीक करता हुआ दूसरी राजों को खराब करेगा और फिर सब संखिये और पोटैशियम साइनाइड की तलाश में घूमेंगी और अपनी जार्जेट की साड़ी का फंदा अपने गले में लायेंगी! दुनिया नहीं जानेगी कि राज ने क्यों जान दी...तुम्हें चाहिए कि तुम हिम्मत करके जियो, ज़िल्लत के आँसू पीकर जियो और शराफत की उस नक़ाब को चीरो जो महेन्द्र ने पहन रखी है! बड़ा भलेमानुस बना घूमता है, डाकू, ज़िनाकार। अच्छा मज़ाक है। जिसे जेल में होना चाहिए वह यहां हाउस सर्जन बना हुआ है।....तुमको जीना चाहिए राज, अभियोग बनकर, प्रतिशोध बनकर —

मालती की बात ने राज के पता नहीं मन के किस तार को जाकर छू दिया कि बात समझते उसे ज़्यादा देर नहीं लगी। मालती ठीक कहती है। इस तरह मर जाने से फायदा ? महेन्द्र को तो इसका उतना भी दुख नहीं होगा जितना घर की बिल्ली के मरने का। कहेगा, चलो अच्छा हुआ, छुट्टी मिली, नहीं पता नहीं कब....नहीं मालती

का कहना बिलकुल ठीक है...एक बार बदनामी भी उठानी हो तो बदनामी उठाकर जिऊंगी मगर जिऊंगी और इस महेन्द्र को मज़ा चखाऊंगी। मैं उसे यों चैन की बंसी नहीं बजाने दूंगी....

क्या सोचा राजेश्वरी?

कुछ नहीं। बच्चा होगा।

महेन्द्र को तो जैसे किसी ने पहाड़ की चोटी से ढकेल दिया हो। भवें तन गईं। माथे में बल पड़ गये। आक्रोश से आवाज़ भी कुछ कुछ कौए जैसी तीखी और कर्कश हो गयी। बोला—बच्चा होगा क्या मतलब?

महेन्द्र की परीशानी देखकर राज ने उसे चिढ़ाने के लिए और भी अधिक शान्त और साधारण ढंग से कहा—बच्चा होगा और क्या मतलब। इतनी सी बात तुम्हारी समझ में नहीं आती!

दुनिया को कैसे मुंह दिखाओगी—यह सब भी सोच लिया है!

खूब सोच लिया है। कई हफ्तों से यही तो सोच रही हूं। दुनिया तो महेन्द्रबाबू एक ऐसा भूत है जिससे जितना ही डरो उतना ही वह डरवाता है।....और मरना कोई आसान बात भी तो नहीं। मुझे मरने से बहुत डर लगता है। दुनिया से ज्यादा मुझे मरने से डर लगता है। दुनिया तो बस कुलटा की मुहर लगाकर अलग कर देगी, मरने में तो फिर कुछ भी नहीं रह जायेगा, सब कुछ एकदम अंधेरा हो जायगा। मुझे अंधेरे से बड़ा डर लगता है, दम जैसे घुटने सा लगता है, नहीं नहीं, महेन्द्र, मैं नहीं मरूंगी—

तुम मेरी बात नहीं समझीं राजेश्वरी। मेरा मतलब था—

मैं समझ गयी। पर इसमें उस बेचारे का क्या दोष ? दोष अगर है तो हम लोगों का...

देखो राजेश्वरी, इस तरह की बातों में कुछ नहीं रक्खा। तुम मुझे साफ साफ बतलाओ तुम्हारा क्या इरादा है ? तुम एबार्शन के लिए राज़ी हो तो वैसा इन्तजाम किया जाय। और न राज़ी हो तो....

....वैसा इन्तज़ाम किया जाय।.....मैं अब तुम्हें खूब जान गयी महेन्द्र, तुम पक्के संकल्प के आदमी हो, किसी बात से बाज़ न आओगे !

महेन्द्र ने कोई जवाब नहीं दिया। पर राजने देखा कि उस एक क्षण में पता नहीं कितने रंग उसके चेहरे पर आये और गये।

अपनी पोज़ीशन को बचाने के लिए तुम मुझे मार कर भी फेंक सकते हो, मरवाके भी फिकवा सकते हो, और मैं खूब जानती हूं तुम्हें इसका रत्ती भर भी मलाल नहीं होगा—

महेन्द्र ने इसके जवाब में ज़ोर से हँसने की कोशिश की, मगर जो आवाज़ गले से निकली वह एक अजीब फटी हुई सी घरघराती हुई सी आवाज़ थी जिसमें किसी जंगली जानवर की गुर्राहट भी मिली हुई थी। और महेन्द्र के चमकते हुए सफेद मज़बूत दांत अंधेरे में चमक रहे थे। राज को स्वभावतः डर मालूम हुआ। नदी का किनारा था। एकदम निर्जन, एकदम शान्त, निस्तब्ध, सिवाय गोमती के प्रवाह के हलके से स्वर के।

पर राज डरी नहीं। अब डरकर क्या होगा। उस साहस के वश, जो आगापीछा नहीं देखता, बोली—तुम्हारी इस बनावटी हँसी से भी मैं अब धोखे में आने वाली नहीं। कान खोलकर सुनलो। मैं

मरने नहीं जा रही हूं, न में इसको नष्ट होने दूंगी। बच्चा होगा और ज़रूर होगा। और लोग जब यह पूछेंगे कि यह बच्चा किसका है तो मैं खुले आम कहूंगी कि यह बच्चा तुम्हारा है।

तो फिर अब यही तुम्हारा निश्चय है ?

हां।

यानी अब तुम मुझको भी अपने संग साने बगैर मानोगी नहीं ?

सने तो हो ही, अब दामन झाड़कर जो अलग हो जाना चाहते हो वह मैं नहीं होने दूंगी। मालती की बात मुझे भा गई है। मैं खुद तो डूबूँगी ही मगर यार को भी ले डूबूंगी।

महेन्द्र चौंक गया—मालती की बात ! यानी मालती को सब-कुछ मालूम हो चुका है ?

राज ने बड़ी लापरवाही से कहा—हां, मालती को सब बात पता है।

झाड़ झंखाड़ साफ करके उसके पीछे से निकलकर आते हुए भेड़िए ने कहा : अच्छा तो यह मालती की साजिश है मेरे खिलाफ। राजेश्वरी, तुमको मालती हथियार के तौर पर इस्तेमाल कर रही है और उसके हाथ का खिलौना बनकर तुम ठीक नहीं कर रही हो...

क्यों ? खिलौना टूट जाने का डर है ? !

महेन्द्र ने फिर कोई जवाब नहीं दिया। मन में कहा : अपनी बचत तो मुझे करनी ही होगी। यह तो मैं हरगिज़ हरगिज़ नहीं होने दूंगा कि यह बदज़ात सारी दुनिया के सामने मुझे कीचड़ में लथेड़े ! नहीं महेन्द्र इसे कभी बर्दाश्त नहीं कर सकता।....यह सब उसी हरामज़ादी मालती की करतूत है नहीं राजेश्वरी को तो मैं

पटा लेता। ...कुछ भी कहो यह औरत राजेश्वरी सीधी है...वह मालती अलबत्ता आफत की परकाला है...महेन्द्र और मालती की टक्कर में यह राजेश्वरी खामखा पिसी जा रही है। पिसती है तो पिसे, मैं अब क्या कर सकता हूं। मेरी इज्जत का सवाल है....मेरे कई दोस्त हैं जो इस मुसीबत में हमारा साथ दे सकते थे, जो हमें बचा सकते थे। राजेश्वरी भी बच जाती, मैं भी बच जाता, दुनिया में रोज हजारों लोग वह चीज़ करवाते हैं, मगर किसी की कान्शंस प्रिक नहीं करती। मगर नहीं यहां तो कान्शंस भी बड़ी नाजुक है न! ....सब कहने की बातें हैं यार...असल बात है उस मालती की बच्ची ने सिखा-पढ़ाकर भेजा है...ऐसे उल्लू और कहीं बसते होंगे! महेन्द्र उड़ती चिड़िया पहचानता है! यह सब उड़नघाइयां किसी और को सुनाना। तुम चाहो राजेश्वरी तो तुम भी बच सकती हो और मैं भी बच सकता हूं, लेकिन अगर तुम सोचती हो कि तुम खुद भी डूबोगी और मुझको भी अपने साथ ले डूबोगी, तो यह नहीं होने का, फिर तुम्हीं डूबोगी, मैं तो बचकर निकल जाऊंगा।..

. . . .

और फिर उसके पांचवें रोज़ राजेश्वरी मरी पायी गयी, गोमती के उसी निर्जन तट पर, उन्हीं धसके हुए टीलों और सूने खंडहरों की पृष्ठभूमि में, जब दूर पर के गीदड़ों का रोना यहां के इस निःशब्द मौन को चीर रहा था और हवा भारी थी।

यह काम जरूर रात के सन्नाटे में हुआ। किसी ने क़ातिल को नहीं देखा। पुलिस मामले की छानबीन कर रही है। लाश सबेरे पड़ी हुई मिली। जिसकी जिन्दगी की बैकग्राउण्ड में सदा खंडहर खड़े रहे उसकी मौत की बैकग्राउण्ड में भी खंडहर चाहिए थे! और जैसे उसकी

जिन्दगी पर कोई नजर आने वाले ज़ख्म न थे (बाक़ायदा शादी-शुदा औरत थी, अच्छे पैसेवाले घर में शादी हुई, पढ़ी-लिखी थी, अच्छी नौकरी पर लगी हुई थी और ज़ाहिरा खुश भी थी) वैसे ही उसकी लाश पर भी कोई नज़र आने वाले ज़ख्म नहीं थे, खून का एक छींटा तक नहीं। मुँह में कपड़ा ठूंसकर सांस रोक दी गई होगी शायद। पता नहीं। गले पर भी किसी वायलेन्स के चिन्ह नहीं थे। हां पथराई हुई आंखें अलबत्ता कौड़ियों की तरह बाहर को निकल आयीं थीं, शरीर टेढ़ा मेढ़ा होकर, ठंडा पड़ा था, और कोई फेन-वेन अभी तो उसके मुंह पर था नहीं। शायद निकला हो, कह नहीं सकते। जांच करने पर उसके पर्स में थोड़ा पोटैशियम साइनाइड ज़रूर मिला था। और पोस्ट मार्टम की रिपोर्ट ने डेथ बाई प्वायजनिंग (ज़हर से मृत्यु) का फैसला दिया।

राज की मौत के सिलसिले में थोड़े से भी जानकार आदमी का ध्यान महेन्द्र पर ज़रूर जाता था, मगर पुलिस का ऐसा खयाल नहीं था। महेन्द्र को निर्दोष समझने के लिए ज़रूर उनके पास मज़बूत कारण होंगे!

गरज़ यह कि एक अँधेरे ने राज की ज़िन्दगी को निगल लिया था और अब एक दूसरे अँधेरे ने उसकी मौत को निगल लिया।

और इस तरह राज की ज़िन्दगी गंगा के किनारे शुरू हुई, कानपुर के शोर शराबे में परवान चढ़ी और गोमती के नीरव निर्जन तट पर खतम हुई——एक ज़िन्दगी जिसमें ताक़त भले बहुत न रही हो मगर शराफत बहुत थी, जो इतनी भोली थी कि अगर कोई उसे प्यार से सहलाता तो वह बिल्ली के बच्चे की तरह दुबककर गोद में बैठ जाना चाहती, जिसने हज़ार तल्खियों के बीच भी अपनी मिठास को बनाए रखा था, जिसके अन्दर मुहब्बत और इंसानियत का मीठा

सोता कभी सूखा नहीं गो हजार रेगिस्तानों ने उसपर हमले किए, जो प्यार और दुलार की भूखी थी और भूखी रही आयी और भूखी मर गयी, न किसी से पा सकी वह चीज न किसी को दे सकी, जिसकी कोख सदा बंजर पड़ी रही और जब फूली भी तो क्या फूली, फूली पाप के जहरीले बीजों से....बड़ी नेक थी राज, सिवाय भले के उसने कभी किसी का बुरा नहीं चेता, उसकी ज़ात से कभी किसी का रोआँ भी नहीं दुखा, न जिन्दगी में और न मरने के बाद ही, जिसके अन्दर कोई दोष था तो यही कि कोई दोष नहीं था। काश कि उसके अन्दर कुछ दोष होते तो उसकी ज़िन्दगी ऐसी वृथा न जाती और वह खुद भी शायद कुछ सुखी हो सकती....समाज से आंख मिलाने का उसे ललकारने का माद्दा ही नहीं था उसमें, इसीलिए तो सीली हुई दियासलाई की तरह ऐसी फुस्स से जलकर खत्म हो गयी उसकी ज़िन्दगी, न रौशनी ही हुई न काफी धुआं ही निकला। ...मगर खैर वह जो भी हो, राज इससे अच्छी ज़िन्दगी की मुस्तहक़ थी, उसे भी सुख पाने का अधिकार था। मगर इस दुनिया पर राज करने वाला शैतान है, इसलिए राज कुत्ते की मौत मर गयी और पत्ता भी नहीं खड़का और पुलिस की जेब गरम हुई और महेन्द्र ने गैबरडीन का नया सूट सिलवाया और शीला परिंजा नाम की एम० बी० बी० एस० की एक छात्रा पर डोरे डालने शुरू कर दिए—

२६

दिन भर का थका मांदा सत्य घर आकर थोड़ा आराम कर रहा था जब दरवाज़े पर दस्तक हुई। उषा ने जाकर दरवाज़ा खोला। तार वाला था। उषा ने दस्तख़त करते हुए वहीं से कहा—तार है।

सत्य सोचने लगा—किसका तार होगा?

राज का? शायद राज या तो बीमार हो गयी है या उसने अपने आने का तार दिया है।

उषा ने खुला हुआ तार सत्य को पकड़ाते हुए कहा—किसी वीरेन्द्र का तार है? यह वीरेन्द्र कौन है?

वीरेन्द्र ने लिखा था—

जेल से कल छूटा। भुवाली जा रहा हूँ। सैनेटोरियम। वहीं आकर मिलो—वीरेन्द्र

सत्य के मन की अजीब हालत थी। वीरेन्द्र जेल से छूटा, इसकी खुशी हो रही थी, मगर छूटा तपेदिक़ लेकर इससे मन उदास हो गया था। उषा के सवाल ने उसे अपना जी हलका करने का मौक़ा दिया। सत्य ने कहा—मैंने कभी तुम्हें बताया नहीं वीरेन्द्र के बारे में? बड़ा शानदार आदमी है वीरेन्द्र, लाख में एक। हौसले के मामले में तो उसे बस चट्टान समझो।......मुझपर वीरेन्द्र के बड़े एहसान हैं। वीरेन्द्र ने ही मुझे जेल के अन्दर कम्युनिस्ट बनाया है। मैं सन् बयालिस में जेल गया था न। वहीं मिला था वीरेन्द्र। तब तक उसको जेल में दो

साल हो चुके थे और कहीं अब जाकर छूटा है, जब वह तपेदिक के पंजे में गिरफ्तार हो चुका है। यानी एक जेलर इत्मीनान के साथ उसे दूसरे जेलर की हिरासत में दे रहा है! बीच में कोई दो साल पहिले वह एक बार और छूटा था, मगर तीन दिन बाद ही फिर पकड़ लिया गया। अब की शायद न गिरफ्तार करें—बीमारी के कारण छोड़ा है न इसलिए, और बीमारी भी कैसी, तपेदिक जिसके खूनी पंजे किसी पर गिरे तो समझो उसके दिन पूरे हुए....मगर देख लेना उषी, वीरेन्द्र अगर तपेदिक को भी नाकों चना न चबवा दे तो कहना! ऐसा ही आदमी है वीरेन्द्र। तपेदिक नहीं, तपेदिक का बाप हो, उसके आगे भी वह कभी घुटना नहीं टेकेगा। घुटना टेकना उसने सीखा ही नहीं। बहुत खूब आदमी है वीरेन्द्र। मैंने ऐसा आदमी आज तक नहीं देखा, कितना हिम्मती, कितना भोला, कितना उदार, कितना पवित्रात्मा और उसके बाद फिर कितना SSS साधारण। जैसे उसमें कहीं कोई खास बात न हो। रत्ती भर तो बनावट नहीं। जो कमजोरी है वह भी अच्छे शीशे के बर्तन में रखे पानी की तरह साफ झलक रही है, वीरेन्द्र को कोई गम नहीं है उसका और न कोई गरज उसे ढाँकने से। उषी, वीरेन्द्र बेहद ह्यूमन आदमी है—अपनी ताक़त में भी और अपनी कमजोरी में भी। मैं तो महीनों उसके साथ रहा हूँ—दिन रात रात चौबीसों घंटे। और मैंने तो उषा (याद करो वे सन् ४२ के तूफानी दिन थे) उसका खाता अपने दिल में, ऋण के चिन्ह से खोला था, मगर आज तो वहां सब प्लस ही प्लस है....मगर मैं कभी कभी सोचता हूं उषा कि इस वीरेन्द्र की जिन्दगी भी कैसी है। बाप नहीं, मां नहीं, बहन नहीं, भाई हैं मगर उन्होंने उससे नाता तोड़ लिया है क्योंकि वे अच्छे अच्छे सरकारी ओहदों पर हैं और वीरेन्द्र के संग उनके संबन्ध का पता लगना उनके हक़ में अच्छा नहीं होगा। इस तरह, भाई जो हैं भी वे भी वीरेन्द्र के लेखे मरे ही जैसे हैं। अरे, जिस भाई या जिस

दोस्त का आदमी अपनी जरूरत के वक्त सहारा न ले सके, जिसे पुकार न सके, उसका होना न होना सब बराबर है। मैं तो कहता हूं ऐसे भाई या दोस्त का न होना ही अच्छा है, तब दिल में कोई मलाल तो नहीं होता ! नहीं साहब, कहने को तो हैं खांची भर लोग मगर कोई साला प्यास लगने पर एक गिलास पानी का भी रवादार नहीं ! ...वीरेन्द्र का दुनिया में अगर कोई है तो बस पार्टी और उसके कुछ निजी दोस्त जो उसपर जान देते हैं। तीसरा कोई नहीं। और न उसे चाहिए। अरे, आधा वक्त तो जेल के अन्दर ही गुजरता है और वह अलग ही एक दुनिया है जिसके अलग ही दोस्त हैं साथी हैं सुख है दुःख हैं....बाकी बची आधी जिन्दगी—उसमें फुरसत ही किसे है कि इन सब बातों को सोचे बिचारे। लिहाजा एक टांग जेल के भीतर एक टांग जेल के बाहर मजे में बढ़ा जा रहा है जिन्दगी की डगर पर। मुझे तो कभी-कभी बड़ा रश्क होता है उस पर, उषी। Dedicated जिन्दगी हो तो ऐसी।...मगर यह क्या हो गया उसे ?! पता नहीं किस स्टेज में है बीमारी। वीरेन्द्र ने बुलाया है। जाना होगा देखने।....

बात चीत के आवेश में सत्य स्वभावतः उठकर बैठ गया था और इतना लम्बा सा मोनोलाग भी दे डाला था। उषा ने मुसकराते हुए चुटकी ली—तुम तो बहुत थके हुए थे न ?

सत्य ने अपने बालकोचित उत्साह पर कुछ शरमाकर उषा के गाल पर एक हलकी सी ठुनकी लगाते हुए कहा—उषी, तुझे मालूम नहीं वीरेन्द्र कितना प्यारा आदमी है....

उषा ने मुसकराते हुए ढिठाई से कहा—अब भी न जानूंगी !

छुट्टी और पैसे का इन्तजाम करते-कराते सत्य को दस रोज़ लग गये।

अपनी उसी चिर-परिचित, शाश्वत मुसकराहट से वीरेन्द्र ने सत्य का स्वागत किया। लेटे लेटे ही सत्य की ओर अपना हाथ बढ़ाते हुए वीरेन्द्र ने कहा—उठूंगा नहीं। डाक्टर ने मना किया है। इतने दिन कैसे लग गये तुमको आने में....मैं इस बीच टाम हो जाता तो.... मगर अच्छे मसखरे हो, तुम्हें तपेदिक़ के नाम से भी डर नहीं लगता और न तार का ही तुम पर कोई असर है...कोई मजबूरी रही होगी जो तुम और पहले नहीं आ सके...मगर मैं क्या कुछ कम मसखरा हूं। मैंने अब तक तुमसे यही नहीं पूछा कि तुम्हारा सामान-वामान कहां है और न तुम्हारा परिचय ही कराया इनसे ...यह प्रमिला है। बड़ी पागल लड़की है। कालेज से छुट्टी लेकर मेरी तीमारदारी के लिए आई है जैसे यहां की नर्सें सब मर गयी हों!... और प्रमिला यह सत्य है who met me an enemy and left me a dear friend and comrade क्यों सत्य है न?...

वीरेन्द्र बिना सुस्ताये या किसी को सुस्ताने का मौका दिए एक सांस में इतनी सारी बातें कह गया। सत्य की समझ में नहीं आया कि किस बात का जवाब दे और किस बात का जवाब न दे और किस बात का जवाब पहले दे और किस बात का जवाब बाद को दे। मगर सबसे पहले ज़रूरी था कि वह इस लड़की या स्त्री से परिचय करे जिसे उसने कमरे में दाखिल होते ही देखा था और जो वीरेन्द्र की पलंग के पास एक स्टूल पर एकदम खामोश बैठी हुई थी। सत्य ने प्रमिला को और प्रमिला ने सत्य को हलके से स्मित के साथ नमस्कार किया। फिर सत्य ने कहा—कमरेड, तुम बहुत बात करते हो। यह ठीक नहीं। फेफड़ों को आराम देना चाहिए।

वीरेन्द्र ने कहा—सब यही कहते हैं। कल से मैं टोटल रेस्ट देने वाला हूँ। मौन धारण करूँगा।

सत्य ने प्रतिवाद किया—वह भी गलत बात होगी। बात करो मगर कम करो।

वीरेन्द्र ने मुसकराते हुए कहा—बड़े मसखरे हो जी, आते ही आते मेरे पीछे डंडा लेकर पड़ गये। वह सब बहस पीछे हो लेगी, पहले यह बताओ सामान कहां है ...?

सत्य ने कहा—बताया नहीं मैंने ? वहीं बस स्टैन्ड के पास वह छोटा सा होटल है न ? उसी में।

और खाना-वाना ?

वह सब करके निकला हूं। मुझे कुछ पता तो था नहीं, सोचा देर भी हो सकती है। इसलिए सारे झंझट निपटाते चलना चाहिए।

दोपहर को खाने के बाद, वीरेन्द्र के आराम का वक्त था। इसलिए सत्य और प्रमिला दोनों प्रमिला के कमरे में चले आए जो वीरेन्द्र के कमरे से लगा हुआ ही था, तीमारदार का कमरा। इस कमरे में एक तखता था और एक बांस की कुर्सी। तखत पर लेटना तो आराम की बात है मगर बैठना तो खासा तकलीफदेह होता है, कुछ यही खयाल करके प्रमिला ने बांस की कुर्सी सत्य के लिए छोड़ दी और तखत पर बैठने के लिए बढ़ी। मगर सत्य ने बांस की कुर्सी प्रमिला की तरफ बढ़ाते हुए कहा—आप इस कुर्सी पर आराम कीजिए, मैं तखत पर तकलीफ करूंगा !

प्रमिला को सत्य की यह बेतकल्लुफी मन ही मन अच्छी लगी, थोड़ी अटपटी ज़रूर लगी और वह इस माने में कि इतनी जल्दी ? अभी तो ठीक से जान-पहचान भी नहीं हुई ! मगर यह कोई ज़रूरी है कि

सब लोग शिष्टाचार का व्याकरण घोलकर पी गये हों? ऐसे सरल निश्छल लोग ही अच्छे होते हैं, शिष्टाचार के पक्के लोग अकसर बड़े खतरनाक निकलते हैं—

गरज़ प्रमिला को सत्य की यह बेतकल्लुफी अच्छी लगी। वह मुस-कराती हुई उठी और कुर्सी पर बैठ गयी।

सत्य ने तख्त पर लंबे होते हुए और हलके से बदन तोड़ते हुए कहा—खासा थक गया। यह चढ़ाई मार डालती है। मुझे पहाड़-वहाड़ की आदत नहीं है न।

प्रमिला ने पूछा—मैं तो घबराती हूं बस की चढ़ाई से। पेट्रोल की बदबू से सिर फटने लगता है। आपको चक्कर नहीं आता?

सत्य ने कहा—मुझे चक्कर तो नहीं आता वैसा, मगर हां कुछ खास सुख भी नहीं मिलता।

प्रमिला ने कहा—चलिए आप तब भी अच्छे हैं। मेरे तो दस करम हो जाते हैं—काठगोदाम से यहां तक में। कै हो नहीं गई, यही बहुत हुआ।

प्रमिला अपनी बात कह रही थी और सत्य अपनी बेबाक बेझिझक निगाहों से उसे देख रहा था। उसे अच्छी लगी यह लंबी सी, दुबली, गोरी, नितंबों के नीचे तक पहुंचते हुए बालों वाली महाराष्ट्र स्त्री। उम्र होगी यही चौबीस पचीस साल। चेहरा कुछ अकाल प्रौढ़ ज़रूर लगा, जैसे गहरी, मानसिक पीड़ाओं में से गुज़री हो। देखते ही लगा सत्य को—बहुत आसान नहीं रही है इसकी ज़िन्दगी, आंधी नहीं तो तेज़ झोंके तो देखे ही हैं। दिल पर आरियां भी चली ही होंगी—देखते नहीं उसकी दर्द से ऐंठी हुई आंखों और उनकी अपलक चितवन को और उसकी इस नन्हीं सी ठुड्डी को जो अपने इसी अजेय

संकल्प से और भी बहुत कुछ सहने की क्षमता रखती है।

कोहनी के बल उठँगकर, हथेली से सिर को सहारा देते हुए, अधलेटी सी मुद्रा में सत्य ने प्रमिला से कहा—आपको मेरी इतनी बेतकल्लुफी बुरी तो नहीं लग रही है ? बुरा लगना वाजिब होगा। मगर मैं कुछ गंवार सा आदमी हूं। वीरेन्द्र भाई से पूछिएगा तो वे भी यही कहेंगे।

प्रमिला ने कहा—आप व्यर्थ के शिष्टाचार में न पड़ें, असल तकलीफ मुझे उस चीज़ से होती है। आप बिस्तर पर लेटकर आराम कर रहे हैं मुझे बड़ा अच्छा लग रहा है। और देखिए आपसे मेरा परिचय भले ही न हो, पर मेरे सन्तोष के लिए इतना बहुत काफी है कि वीरेन्द्र का आप पर इतना स्नेह है।

सत्य—वीरेन्द्र भाई के माध्यम से तो आप भी मेरे लिए अजनबी नहीं रह जातीं !

प्रमिला—मैं भी तो यही कह रही हूं।

ये अपरिचय की झाड़ियाँ साफ हो जाने के बाद सत्य को अब रास्ता साफ सा मालूम हुआ। आप लखनऊ में किस कालेज में पढ़ाती हैं ?

गवर्नमेंट गर्ल्स कालेज में। क्यों ?

कुछ नहीं। यों ही पूछा। जानने के लिए। कितने दिन से हैं आप वहां ?

पिछले साल मेरी नियुक्ति हुई। ...मगर उससे क्या, वीरेन्द्र तो खामखा परीशान होते हैं।

बात तो वह भी गलत नहीं कहते...लड़कियों का ट्रेनिंग कालेज आपके यहां से कितनी दूर है ?....क्या नाम है, राजकीय शिक्षण

महाविद्यालय...कैसा कुंभकर्ण जैसा नाम है, हिन्दुस्तानी पहलवान जैसा, भारीभरकम थुलथुल....

आज़ादी से यही तो प्राप्ति हुई है हम लोगों को! और क्या मिला ?!

सत्य चौंका—आप कम्युनिस्ट हैं ?

क्यों दूसरा कोई ऐसी बात नहीं कह सकता ?

नहीं यह बात नहीं है।....

पर आपका कहना ठीक है। मैं कम्युनिस्ट हूं। मगर यह बात जितने कम लोगों तक सीमित रहे उतना ही अच्छा। मैंने कई वर्ष तेलंगाने में काम किया है। मेरा घर मराठवाड़े में है।

वीरेन्द्र से आपकी मुलाक़ात कहां हुई ?

यह सब जानकर क्या कीजिएगा...आपने लड़कियों के ट्रेनिंग कालेज के बारे में क्यों पूछा था ? पिछले महीने तो अखबार में उसी उसका ज़िक्र रहता था....

क्यों ? क्या बात हुई ?

एक बड़ा सनसनीखेज़ मामला हो गया था, अखबार में भी तो आया था। लगता है आपकी नज़र नहीं पड़ी....

कुछ बताइये भी तो....

एक खून हो गया था....

खून ? किसका ?

उसी कालेज की एक अध्यापिका थी। राजेश्वरी निगम....

सत्य पर तो जैसे बिजली गिरी। एक बार ज़ोर से बोला— राजे-

श्वरी निगम ? फिर धीरे से अस्फुट बुदबुदाया—राजेश्वरी निगम ? राज ? आपको ठीक पता है ?

आप भी कैसी बात करते हैं कामरेड, गलतफहमी की कोई गुंजाइश नहीं है। अखबार में इसकी पूरी रिपोर्ट निकली थी, और कई रोज़ तक लखनऊ की ज़बान पर तो दूसरी कोई बात ही नहीं थी। यही नाम है, बिलकुल यही, राजेश्वरी निगम...आप उनको जानते थे शायद।

सत्य ने कोई जवाब नहीं दिया, बस आंखें गड़ाये एकटक प्रमिला को देखता रहा। मगर उसकी आंखें सूनी थीं। वह प्रमिला को नहीं, प्रमिला के उस पार किसी और को देख रहा था। उसके सिर में आंधी सी चल रही थी, ऊपर की चीजें नीचे और नीचे की चीज़ें ऊपर हो रही थीं और इस तमाम भूचाल के ऊपर उसे राज का कटा हुआ, खून से लथपथ सिर तैरता दिखाई दे रहा था और राज का यह चेहरा वही था जिसे सत्य ने आखिरी बार देखा था....उस रात जब वह हज़ार हज़ार उलाहनों से लैस होकर अरुण को देखने आयी थी और अरुण को देखकर उसी रात की गाड़ी से लखनऊ चली गयी थी और सत्य उसे रिक्शे तक छोड़ने गया था और फिर दोनों बहुत कुछ चुप चुप रिक्शे तक गये थे और आंखों में आंखें डाली थीं और फिर हाथ मिलाया था और राज का रिक्शा बढ़ गया था और फिर सौ गज़ जाकर बांयें को मुड़ गया था और वहां राज ने मुड़कर सत्य को देखा था और सत्य ने घर आकर उषा से कहा था—उषी, मुझे बड़ा डर लगता है, राज के चेहरे में आज मैंने एक अजब ही बात देखी है जो पहले नहीं देखी थी....

राज का वह दुःखी विषण्ण उद्भ्रान्त चेहरा जिसपर अब एक औद्धत्य का भाव भी था, काफी नौसिखिया-सा, नये जूते की तरह

चरमर करता हुआ, जिसे अभी सहज-स्वाभाविक होने का मौका भी नहीं मिला है।....उसे देखकर सत्य के मन में पहले बड़ी ग्लानि हुई थी, फिर उसे राज पर बड़ी दया आई, उसका दिल खून के आंसू रोया, किस सलीब पर टांगा है समाज ने इस औरत को, न जीते बने न मरते बने। ....अब सत्य के नज़दीक बात बिलकुल साफ थी। पता नहीं कबसे उसकी ज़िन्दगी इसी खड्ड की तरफ बढ़ रही थी....

सत्य कंबल ओढ़े हुए था, मगर तब भी उसे कँपकँपी मालूम हुई।

प्रमिला ने कहा—सत्यबाबू, थोड़ा आराम कर लीजिये।

सत्य ने इसका भी कोई जवाब नहीं दिया। मगर वैसे ही लेटे लेटे, बिना प्रमिला की ओर ताके, खोये खोये से स्वर में पूछा—कैसे हुआ यह सब ? और कुछ मालूम है ?

लखनऊ में एक बड़ा बदज़ात आदमी है...महेन्द्र कपूर। सुना है उसके संग राजेश्वरी .....मैं भी तो पूरी बात जानती नहीं सत्यबाबू...जो कुछ अखबार में पढ़ा है या जो थोड़ा बहुत उसी कालेज की मेरी एक दोस्त ने बतलाया है, बस उतना ही,...सुनती हूं उस शैतान ने बहुत सी लड़कियों की ज़िन्दगी बरबाद की है। हरामज़ादे को गोली मार देनी चाहिए। पता नहीं यह राजेश्वरी निगम उसके चंगुल में कैसे आ गयीं। To make matters worse, सुना है, Rajeshwari was expecting..मैं तो समझती हूं उसी का कुछ Complication रहा होगा ...उस बदमाश ने बच्चे को नष्ट कर देने के लिए कहा होगा, राजेश्वरी ने इनकार किया होगा and the fool that she was उसने महेन्द्र से विवाह कर लेने को कहा होगा और उसी में कहीं ऐसी कोई गांठ पड़ गयी होगी जिसे मौत ही सुलझा सकती थी। I don't know पर मुझे तो ऐसा ही लगता है

और बड़े तरीके से यह murder हुआ है सत्यबाबू, खून का एक दाग भी कपड़े पर नहीं मिला और राजेश्वरी के बैग में पोटेशियम साइनाइड भी मिला, बड़े planned methodical तरीके से काम किया गया है, पोस्टमॉर्टम की रिपोर्ट भी death by poisoning कहती है... मगर मैं उस सबका रत्ती भर भी विश्वास नहीं करती। It is murder, plain murder. राजेश्वरी ने अपने हाथ से जहर खाया हो तब भी मैं इसे murder ही कहूंगी.... I know these men..

प्रमिला आवेश में कह तो गई। मगर फिर ठिठक गई। पर सत्य ने यह सब कुछ भी लक्ष्य नहीं किया। वह नशे की सी हालत में पूरी कहानी सुनता रहा। यहां साढ़े छः हजार फुट की ऊंचाई पर आकर उसे यह क्या खबर मिलनी थी।...तो राज अब नहीं है! Raj is dead!

तभी प्रमिला ने कहा—आप थोड़ी देर को सो जाइये—मैं जरा आती हूं, नीचे बाजार से कुछ फल-वल ले आती हूं वीरेन्द्र के लिए। वीरेन्द्र जगें और पूछें तो कह दीजिएगा बाजार तक गई है।

प्रमिला कमरे से निकली और बरामदे में आई तो वीरेन्द्र ने पुकार कर कहा—प्रमिला बाहर जा रही हो तो बरसाती ले जाओ, पानी बरसने के लक्षण हैं।

प्रमिला ने चौंककर वीरेन्द्र को देखा और कहा—अच्छा तो आप जग पड़े हैं। मैं अभी लौटकर आती हूं, जरा जाऊं फल ले आऊं और मक्खन। खतम हो गया है।

दूसरे दिन सबेरे नौ बजे। प्रमिला बस स्टैण्ड पर गयी हुई थी। उसकी कोई दोस्त रानीखेत से नैनीताल जा रही थी।

वीरेन्द्र लेटा हुआ था और सत्य पास ही आरामकुर्सी पर बैठा हुआ था। चोट ठंडी पड़ चुकी थी, मगर हर ठंडी चोट की तरह सत्य

की इस चोट में भी ज्यादा दर्द था। इधर काफी दिनों से सत्य और राज का रोज़ रोज़ का सम्पर्क-सामीप्य नहीं रह गया था, लेकिन तब भी उसके दिल में राज के लिए क्या जगह थी, यह आज सत्य को मालूम हुआ....मिट्टी की प्रतिमा उदासिनी...जिसे किसी ने उठाकर ज़मीन पर पटक कर तोड़ दिया....

वीरेन्द्र ने पूछा यह राजेश्वरी निगम कौन थी ?

सत्य ने कहा—मेरी बहुत पुरानी मुलाक़ात थी उससे। बड़ी नेक स्त्री थी और उतनी ही दुखी। हिन्दू समाज के अभिशाप की तसवीर समझो उसे, उसी ने ज़िन्दगी भर उसे सताया और उसी ने उसकी जान ली—प्रमिला की बात बिलकुल सच है, राज ने अगर अपने हाथ से ज़हर खाया हो तब भी यह हत्या ही कहलायेगी और असल हत्यारा है, यह हिन्दू समाज, माध्यम चाहे जो रहा हो।

—और यह तो एक केस है, लाखों करोड़ों में एक केस जिसकी आंच तुम्हें लगी है। औरों की आंच तुम्हें नहीं लगती, पर पता नहीं ऐसे ही कितने केस हमारे समाज में रोज़ होते हैं, रोज़, इस वक्त भी हो रहे होंगे, इसी वक्त इसी पल...तुम्हें मालूम नहीं प्रमिला के संग भी यही चीज़ हो चुकी है और यह संयोग की ही बात है कि वह आज ज़िन्दा है। उसने तो ज़हर खा ही लिया था लगभग ....मगर फिर उसे अक़ल आ गई। बड़ी दिलचस्प कहानी है, राजेश्वरी निगम की कहानी का अगला अध्याय...

और तब वीरेन्द्र ने कुछ विस्तार से प्रमिला की कहानी सत्य को सुनाई।

उन दिनों प्रमिला खास हैदराबाद में थी। कालेज में पढ़ रही थी जब किसी से उसका प्रेम हो गया—किससे यह जानने की ज़रूरत नहीं, उसका नाम-गाम रूप-रंग जानने की भी कोई ज़रूरत नहीं,

क्योंकि वह किसी के लिए रक्त-मांस का जीवित मनुष्य बना ही नहीं, प्रमिला के लिए भी नहीं। He was just a name, an abstraction. Pramila was about to breathe life into him by her hot maiden love when he turned round on his heels and exit !..Same as here in Rajeshwari Nigam's case. (प्रमिला ने कल रात मुझे सारी कहानी सुना दी है) That pig Balkrishna too had come for a little jolly time. But he got something very different—the hot impetuous love of a young maiden. Balkrishna funked and left. And Pramila was left absolutely broken-hearted. तुम समझ ही सकते हो सत्य, कितना उद्दाम रहा होगा सत्रह-अठारह साल की कुमारी प्रमिला का प्यार और फिर कितनी गहरी निराशा हुई होगी उसे जब शादी के सिर्फ चार रोज़ पहले बालकृष्ण उड़ंछू हो गया—बालकृष्ण प्रमिला से जो कुछ हासिल करना चाहता था हासिल कर चुका था, प्रमिला की कुमारी देह... ज़रा स्थिति की कल्पना करो सत्य, कैसी कैसी उमंगों के हिंडोले पर बैठा रहा होगा प्रमिला का हृदय, पता नहीं कैसी कैसी अलौकिक रश्मियों से उसने नन्दन कानन से अपने हृदय का तार जोड़ा, होगा....उसकी यह उम्र जब हर चीज सरशार नज़र आती है और हर वक्त चारों तरफ रूप और गंध की कलियां चिटकती रहती हैं जिनकी खुशबू में संसार की सारी पागल खुशबुओं का निचोड़ रहता है... ऐसी थी प्रमिला की जवान उम्र और तब उसे मिला कौन? वह जो महज़ एक रंगीन ख्वाब था जिसकी असलियत एक सुनसान जंगली रात थी, वह जिसकी एक फूंक से रूप और गंध की वह तमाम कलियां बदबूदार गोबरैलों में तबदील हो गईं....सोच सकते हो कितनी बेआसरा रही होगी प्रमिला उस वक्त - वह जिसका उसे आसरा था, जिसके बल पर वह कूद रही थी, उसे बीच भंवर में

छोड़कर न जानें कहां गायब हो गया था...प्रमिला के मां बाप इस शादी के सख्त खिलाफ थे, मगर प्रमिला ने उनकी भी कुछ परवाह नहीं की थी। उन्होंने घर से निकालने की धमकी दी। प्रमिला ने कहा—घर से तो मैं खुद ही निकली जा रही हूँ, आपको जहमत नहीं उठानी पड़ेगी। उन्होंने अदालत की शरण लेने की धमकी दी। उसका भी प्रमिला पर कोई असर नहीं हुआ। प्रमिला ने कहा—उससे भी आपको कुछ नहीं मिलेगा पिता जी। मुझे बालकृष्ण से शादी करनी है और मैं करूंगी। आप अपनी प्रमिला को नहीं जानते। मुमकिन है अदालत में जाकर आप कुछ रोज़ के लिए अड़ंगा लगा दें मगर कब तक। मैं बालिग होने तक इन्तजार कर सकती हूँ—पिताजी, मेरी ओर से अब आप नाउम्मीद हो जायें। आपका आशीर्वाद मिल जायगा तो हमारा सफर और आसान हो जायगा और अगर आशीर्वाद नहीं मिलता—तो भी जो जाने वाला है उसे ये चीजें रोक थोड़े ही सकती हैं!

प्रमिला को इस तरह आमने-सामने बैठकर, बराबरी से, तुर्की बतुर्की जवाब देते देखकर प्रमिला के पिता जी का जी बहुत खट्टा हुआ, लेकिन इतने पर भी वे प्रमिला को छोड़ना नहीं चाहते थे और अगर उनकी चलती तो अदालत से शादी को रुकवाते। अभी आपत्ति करने की अवधि बीती नहीं थी। लेकिन प्रमिला की मां ने कहा—इसके बाद अब लिली को रोकना ठीक नहीं। जाय उसे जिस चमार के संग जाना हो। हम समझ लेंगे लिली होते ही मर गयी...

बात असल यह थी सत्य, कि बालकृष्ण नीच जात का मद्रासी था और प्रमिला के मां-बाप ने उसकी शादी लगायी थी एक महाराष्ट्र रईस जमींदार के बेटे से....

गरज़ अपने मां-बाप तक से नाता तोड़कर प्रमिला इस जानवर

से नाता जोड़ने चली थी...और वह भी नहीं हुआ। बालकृष्ण शहर छोड़कर ही टल गया। प्रमिला पर तो एकदम बिजली गिरी—अब कहीं किसी तरफ उसके लिए शरण नहीं थी। घर के दरवाजे उसने खुद ही अपने लिए बन्द कर लिये थे और घरवाले चाहे उसे सुबह का भटका शाम को घर आया जानकर उसे फिर से अपनी गोद में ले लेते, मगर अभिमानिनी प्रमिला के लिए यह मौत से भी बढ़कर सज़ा होती। इस तरह से नाक कटाकर अपमानित होकर लांछित तिरस्कृत होकर वह घर लौट नहीं सकती थी जहां लोग मुंह से भले एक शब्द न बोलते मगर सब की निगाहें कह रही होतीं—इसी बल पर कूद रही थी! हमने कहा था! अब आई अकल ठिकाने कि अब भी नहीं!

नहीं सचमुच यह तो मौत से भी भयानक चीज़ थी, वह ओठों के कोनों में दबी हुई मुसकराहट, वह आंख की कोरों में छिपे हुए व्यंग के इशारे, वे कोड़ों की तरह जिस्म पर पड़ने वाले हमदर्दी के शब्द! नहीं नहीं...

मगर फिर क्या करे, यह अपना दाग-लगा मुंह लेकर कहां जाय ...इतने बड़े धोखे और इतने बड़े कलंक के बाद मरना उसे आसान मालूम हुआ और उसने जान देने की ठानी....

यहां तक आते आते वीरेन्द्र बहुत काफी थक गया था, इसलिए कोई पांच मिनट तक आंखें बन्द किए लेटा रहा और उसके बाद फिर कहना शुरू किया——

तफसील की बातों को अगर छोड़ दो सत्य, तो यहां तक प्रमिला की कहानी बहुत कुछ तुम्हारी राजेश्वरी की कहानी जैसी ही है। मगर यहीं से दोनों की राहें अलग अलग हो जाती हैं और इसी जगह पर आकर कम्युनिज्म की रिजेनेरेटिंग पावर का पता चलता है। खुद प्रमिला ने अपनी कहानी मुझे सुनाई है और तुम भी चाहो तो उससे

पूछ सकते हो। ऐसे समय में जब कि उसे कोई रास्ता नहीं सूझ रहा था, जबकि दुनिया उसके लिए बुझ चुकी थी, जबकि उसकी ज़िन्दगी की फसल को ग्लानि और निराशा का कठोर पाला मार गया था और मौत की ही आवाजें उसके कानों में बज रही थीं, ऐसे समय में उसे पार्वती मिली—पार्वती कृष्णमूर्ति। मैं भी मिल चुका हूँ उस लड़की से, एक पार्टी कान्फ्रेन्स में; बिलकुल काली-कलूटी, चुड़ैल जैसी शक्ल है उसकी। But Satya, to know her is to love her, She is irresistible कुरूपता और आकर्षण का ऐसा विचित्र संयोग मैंने जीवन में और कहीं देखा ही नहीं। She has intrigued me as no woman ever did. The more I think of her the more do I feel certain that it is her pure and sunny soul. तुम नहीं मिले हो उससे सत्य, मगर मैं सच कहता हूं कि उससे मिलकर ऐसा लगता है जैसे तुम्हारे सारे शरीर में बिजली दौड़ गयी हो।...

सत्य ने चुटकी ली—वह तो अभी ही देख रहा हूँ।

बात यह हुई थी कि पार्वती की बात करते करते वीरेन्द्र उठने लगा था। वीरेन्द्र लजा गया। फिर झेंप मिटाते हुए हँसकर बोला—तो मैं छिपाता कब हूं। कहता तो हूं कि उस पहिली और शायद आखिरी मुलाकात में ही मुझे उससे इश्क़ हो गया!

किससे भाई, किससे?—प्रमिला ने कमरे में दाखिल होते हुए पूछा।

तुम्हारी Dark Lady of the Sonnets से, तुम्हारी Abyssinian Queen से......

अच्छा तो आज पार्वती को याद किया जा रहा है! शायद यही याद उसे हैदराबाद से खींचकर कुमायूं के इन पहाड़ों में ले आई है—

क्यों ?

मैं पार्वती से ही मिलने तो गई थी बस स्टैंड !

सच ? बताया नहीं तुमने, बड़ी अजीब हो !

मैंने सोचा था उसे Unannounced तुम्हारे सामने लाकर खड़ा कर दूंगी मगर अभी वह आई नहीं, जल्दी में थी। नैनीताल से लौटते समय आयेगी।....मगर आज पार्वती का जिक्र कैसे निकल आया ?

वीरेन्द्र ने कहा—तुम्हारे ज़िक्र के साथ....मैं सत्य को कुछ बतला रहा था ....

प्रमिला ने क्रोध का नाटक करते हुए कहा—पता नहीं आप मेरे बारे में किसको क्या बतलाते हैं मुझे भी तो जानने का हक़ है ताकि अगर आप कुछ गलत कहें तो मैं उसका खंडन भी कर सकूं।

प्रमिला की बाक़ी कहानी सत्य ने प्रमिला के मुहँ से ही सुनी। वीरेन्द्र की बात का सूत्र उस दिन टूटा तो फिर जुड़ा नहीं और न जोड़ने की ज़रूरत ही पड़ी।

कड़ाके का जाड़ा पड़ रहा था। सत्य के आने के चन्द रोज़ पहले बर्फ भी गिरी थी। अब भी हवा बर्फानी थी। मगर सत्य दिन भर कमरे में से निकला नहीं था इसलिए उसका जी नहीं माना और उसने प्रमिला से टहलने का प्रस्ताव किया। सत्य का जी बहुत उदास था, मगर आज आकाश असाधारण रूप से साफ था, न तो बूंदाबांदी थी न बादल और रात चांदनी थी। चांदी आस-पास चारों ओर बिछी हुई थी और निबिड़ शान्ति थी। चांद चीड़ के पीछे से प्रमिला के कमरे में झांक रहा था और हवा चीड़ की तेज़ और ताज़गीबख्श खुशबू से

भारी थी। आप लाख थके हों, चार लम्बी लम्बी साँसों से आपने अपने फेफड़ों को भरा नहीं कि आपकी थकावट हिरन हुई। यह इन्हीं चीड़ के दरख्तों का इक़बाल है। खूबसूरती के लिए देवदार के पेड़ और सेहत के लिए चीड़। भुवाली जो लोग आते हैं उनका इलाज डाक्टर जो करते हैं सो तो करते ही हैं मगर असल इलाज यह चीड़ की हवा करती है।

सत्य का जी उस चांद और उस चांदनी और उस निबिड़ शान्ति को देखकर ललचा गया और उसने प्रमिला से कहा—वीरेन्द्र तो सो ही गये, चलिए प्रमिला जी, हम लोग जरा चांदनी में टहल आयें।

प्रमिला ने कहा—काफी देर हो गयी है। बड़ी सर्दी लगेगी।

ओवरकोट पहन लीजिए। मैं भी पहने लेता हूं। फिर कहां की सर्दी। बड़ा खूबसूरत चांद है।

दोनों बाहर निकल आए। चांद सत्य को बाहर खींच तो लाया। मगर अब उसका जी जाने कैसा होने लगा। मन बड़ा उद्भ्रान्त सा हो गया।

कोई फलांग भर जाने पर प्रमिला ने टोका भी—आप ही तो मुझे ठेलठालकर बाहर लाये और अब आपही के क़दम भारी पड़ रहे हैं!

कहां? नहीं तो। ठीक तो चल रहा हूं। बड़ा आनन्द आ रहा है।

झूठ क्यों बोलते हैं, पैर तो ऐसे भारी पड़ रहे हैं जैसे सजा भुगत रहे हों। आपको तो कवि होना चाहिए था। छिन में धूप छिन में छाया। पीछे पड़कर तो खुद आपने मुझे कमरे से निकाला और अब आप ही का बुरा हाल हो रहा है। यह हो क्या गया आपको?!

कुछ तो नहीं, यों ही ज़रा कुछ सोचने लगा था....

उसी सोचने ने तो आपको अनमना कर दिया है।

मैं अनमना होऊं कि न होऊं इससे अब किसी का क्या बनता बिगड़ता है, लेकिन हां याद पर तो किसी का बस नहीं, याद तो आ ही जाती है। राज चांदनी पर जान देती थी। इस तरह की रातों में मैं न जाने कितनी बार उसके संग घूमने के लिए निकला हूंगा, इलाहाबाद में भी और लखनऊ में भी.....सफेद कपड़ों और चांदनी के पीछे राज पागल रहती थी और शायद जिस चांदनी पर वह जान देती थी उसी चांदनी में उसने जान दी—

और सत्य फिर थोड़ी देर के लिए अपने खयालों में डूब गया। मगर जल्दी ही उसे अपनी यह दिमागी कैफियत खलने लगी और वह उस दलदल में से निकलने के लिए कोशिश करने लगा—यह भी अच्छी रही आप बैठे अपना दर्द से रहे हैं, दूसरे को चाहे जैसा लग रहा हो।....

मगर सच बात यह थी कि उस दूसरे को सत्य का इस तरह बीच बीच में गड़प हो जाना भी बुरा नहीं लग रहा था, क्योंकि वह सत्य के दर्द को किसी क़दर समझ रही थी और उसे अगर कोई परीशानी थी तो इसी बात की कि सत्य के दर्द को कम करे, जितना भी बांट सके बांटे।

तभी सत्य ने कहा—आज वीरेन्द्र आपकी ही कहानी सुना रहे थे जब आप आ गईं और मेरी कहानी अधूरी ही छूट गयी। अब आपको पूरी करनी पड़ेगी यह कहानी!....

प्रमिला को सत्य का यह आत्मीय ढंग बहुत प्यारा लगा। उसने कहा—मेरी कहानी? पता नहीं वीरेन्द्र ने आपको क्या अनाप शनाप सुनाया है, मेरी तो ऐसी कोई खास कहानी नहीं है—

सत्य ने कहा—देखिए प्रमिला जी, मैं भी जानता हूं और आप

भी जानती हूँ कि वीरेन्द्र की आदत न तो झूठ बोलने की है न नमक मिर्च लगाने की। इसलिए मैं तो वीरेन्द्र की बात को ही प्रमाण मानूंगा और आपको कहानी पूरी करनी पड़ेगी।

आस-पास कहीं किसी क़िस्म की आहट नहीं थी, एक आदमी नहीं चल रहा था। निबिड़ शान्ति थी और चांदनी अपने नंगे जोबन में धरती पर लेटी हुई थी। दूर पर देवदार के काले काले सिलूएट चाँद के गलबहियां डाले हुए थे। देवदार जो सचमुच देवताओं का चहेता वृक्ष है, इतना अभिजात, कि लगता है बाकी प्रकृति के rough and tumble से उसे कोई मतलब नहीं, जैसे किसी महान चित्रकार के लैंड-स्केप्स के एलबम में से निकालकर उसे खड़ा कर दिया गया हो! ओवरकोट में भी ठंड मालूम हो रही थी। चलते चलते सत्य ने एक बेंच पर बैठने का प्रस्ताव किया।

तब फिर प्रमिला ने बहुत झिझकते हुए अत्यन्त संक्षेप में सादे से सादे शब्दों में अपनी कहानी कही। प्रमिला ने कहा—मेरी कहानी कुछ खास नहीं है सत्यबाबू। मेरी कहानी वही है जो राजेश्वरी की थी जो एक गुलाम देश में तमाम स्त्रियों की होती है। प्रेम की वही लम्बी चौड़ी, चंदन जैसी शीतल बातें जिनसे मन-प्राण जुड़ाता है...और फिर वही तमाम ज़हरीली घातें, चंदन से लिपटे हुए वही सब सांप जिनके नाम अलग अलग होते हैं मगर होते हैं सब सांप—

'बालकृष्ण ने जब मुझसे दगा की, उस वक्त सचमुच मैं प्रलय के किनारे आ लगी थी। मेरे लिए कहीं कोई कोना मुंह छिपाने के लिए नहीं बचा था। मैं अपने मां-बाप की बड़ी लाड़ली बेटी थी, मगर बाल-कृष्ण के पीछे मैंने उनसे भी बिगाड़ कर लिया था और सारा हैदराबाद मेरे और बालकृष्ण के आसन्न विवाह के बारे में जानता था। ऐसे में उस कायर ने मेरे छुरी भोंकी। मरने के सिवाय मेरे लिए दूसरी गति नहीं

थी। मैंने तब तक दुनिया ही कितनी देखी थी, मां के लाड़-प्यार में पली थी, कालेज जाती थी, आराम से दिन कट रहे थे। जीवन की कोई गहरी, न डिगने वाली आस्थायें भी मेरे पास नहीं थीं। वह तो उम्र के साथ साथ अनुभव के साथ साथ धीरे धीरे जिन्दगी में आती हैं और उन्हीं में मनुष्य पकता है—ईंट की तरह भी पकता है और फल की तरह भी पकता है। तब मेरे पास ऐसी भला क्या चीज़ होती। और ऐसे ही में मैंने एक कुमारी के सारे भोले विश्वास के साथ प्रेम किया। .....और जब बालकृष्ण ने मेरे संग विश्वासघात किया तो मेरे लिए विश्वास करने के क़ाबिल कोई चीज़ ही नहीं बची जिसका मैं विश्वास कर सकूं जिसका मैं आश्रय ले सकूं। इस एक विश्वासघात ने मेरी सारी शक्ति छीन ली और मुझे जीवन से ही वितृष्णा हो गई, घोर वितृष्णा, इतनी वितृष्णा कि उसके बाद फिर जिया नहीं जा सकता और शायद एक ही दिन की बात और थी कि मैं कोई अनर्थ कर बैठती जब मुझे पार्वती मिली—वही स्त्री जिससे मिलने मैं आज सबेरे बस स्टैन्ड गयी थी। वह कैसे अचानक मुझे मिली इसकी अलग एक छोटी सी कहानी है, लेकिन उसके अन्दर जाने की ज़रूरत नहीं है। असल बात यह है कि पार्वती मुझे मिली वैसे ही जैसे डूबते को तिनके का सहारा मिलता है, जैसे प्यासे को पानी की एक बूंद मिलती है, जैसे मरते हुए को संजीवनी मिलती है। पार्वती को मैं दूर दूर से जानती थी। मेरे ही कालेज से उसने एम० ए० किया था। मुझसे वह चार बरस आगे थी। मगर बड़ी मशहूर लड़की थी वह, कालेज की सार्वजनिक जिन्दगी में वह आगे आगे रहती थी, डिबेटों में, नाटकों में, हड़तालों में, सब में। कालेज की तमाम लड़कियां उसको जानती थीं और वह तमाम लड़कियों को जानती थी। इसी नाते शायद वह मुझको भी जानती रही हो, मैं नहीं जानती। मैं तो वैसे उसे नाम से जानती थी और इतना जानती थी कि और लड़-

कियों से पार्वती बहुत भिन्न है। बड़ा काम करती है...

'हां तो पार्वती एक दिन रात के नौ बजे भीगती भीगती मेरे घर आई। दो दिन से झड़ी लगी हुई थी और एकदम अंधेरी रात थी। हम-लोगों का घर शहर के एक छोर बंजारा हिल पर था। घर का वाता-वरण उस समय ऐसा हो रहा था कि जैसे सब मर गये हों और अपनी अपनी मौत का या एक दूसरे की मौत का सोग मना रहे हों या जैसे बहुत सी बारूद एक जगह पर इकट्ठा कर दी गई हो जिसमें एक चिन-गारी पड़ते ही विस्फोट हो जायेगा। मेरे मन की दशा यह थी कि मुझे एक एक पल पहाड़ मालूम हो रहा था कि कैसे अब इस जिल्लत का अंत हो, कैसे धरती फटे और मैं उसमें समा जाऊं, दीवार फटे और उसमें से कोई निकलकर मेरे पहलू में खंजर भोंक दे या कोई रहम-दिल आकर मुझे थोड़ा सा संखिया ही दे जाय....और तभी उतनी रात को कीचड़ पानी में लथपथ पार्वती आई। बरामदे में घुसते ही बायें हाथ को सबसे पहला कमरा मेरा था, इसलिए आने में कोई अड़चन भी नहीं हुई। दरवाज़े पर दस्तक हुई। मैंने दरवाजा खोला। पार्वती ने कमरे में दाखिल होते हुए कहा—मेरा नाम पार्वती कृष्ण-मूर्ति है। आप मुझे नहीं जानतीं पर मैं आपको जानती हूं। बाल-कृष्ण से आपकी शादी होने जा रही थी, यह भी मुझे पता है और अब यह शादी नहीं होगी यह भी मुझे पता है।....

'मुझे अच्छी तरह याद है पार्वती की इतनी directness मुझे उस समय बहुत pleasant नहीं मालूम हुई थी, मगर यह तो मैंने बाद को ही जाना कि पार्वती उस समय मेरे प्राण बचाने के लिए आई थी न कि अपनी pleasantness का सिक्का जमाने के लिए। Pleasant होने के मौके तो जिन्दगी में बहुत बार आते हैं, किसी के प्राण बचाने का मौका एकाध बार ही आता है।....बहरहाल पार्वती

ने कमरे में पैर रखने के साथ साथ अपना इतना सा जो परिचय दिया, उसके बाद मेरे पास कुछ बचा ही नहीं जिसे पर्दे की ज़रूरत होती।... पार्वती मेरे पास चार घंटे रही, जब मुझसे बिदा होकर उसने अपनी साइकल उठाई और मेरे कंपाउंड के बाहर निकली ही होगी कि गिरजेवर की घड़ी ने दो बजाया। बारिश ही में वह आई और बारिश ही में चली गई। सुनसान अंधेरे ही में वह आई और सुनसान अंधेरे ही में चली गई। और जितनी देर वह ठहरी उन चार घंटों में उसने कितनी तरह से न समझाई होगी अपनी बात! यह कहना तो शायद बात को बहुत बढ़ा चढ़ाकर नाटकीय ढंग से कहना होगा कि पार्वती की बातों ने उतनी देर में ही मुझमें जीने की लालसा भर दी। लेकिन इतना ज़रूर हुआ कि मौत की तरफ मेरे तेज़ी से बढ़ते हुए क़दम रुक गये, मुझे पैर टेकने को थोड़ी ज़मीन मिली, सर टेकने के लिए एक गोद मिली, मानवता में विश्वास खोकर जो प्रलय अन्धकार मेरे अन्दर घिर आया था, उसमें प्रकाश की एक पतली-सी किरन जगमगाई, मेरा मन जो उस समय केवल मरने-मरने की बात सोच रहा था, उसे जीने की भी एक पतली सी पगडंडी मिली, प्रकाश की उस किरन जैसी ही पतली, मगर किसी को मौत के रास्ते से खींच लाने के लिए शायद उतना ही बहुत होता है। और वह शायद इसलिए कि किसी को मौत के रास्ते पर लगाने की अपेक्षा उसे जीने के रास्ते पर लगाना सरल होता है क्योंकि जीना ही तो जीवन है।

'...सबसे पहले तो मुझे इसी बात से बड़ी प्रेरणा मिली कि पार्वती मेरे पास आई। आख़िर क्यों आई? उसे ऐसी क्या पड़ी थी जो मेरे पास आई? अगर दुनिया में सिर्फ बुरे ही बुरे लोग बसते हैं, स्वार्थी ही स्वार्थी लोग बसते हैं, दगाबाज ही दगाबाज बसते हैं तो फिर इस पार्वती को मेरी फिक्र क्यों हुई? दुनिया में हर क्षण लाखों लोग मरा करते हैं

उनमें से पता नहीं कितने आत्महत्या भी करते हैं ! तो फिर अगर दुनिया में सब बालकृष्ण ही बसते हों तो फिर क्यों कोई किसी की फिक्र करे?.....इतनी रात-बिरात, अकेले, बारिश में, इतनी दूर पार्वती को मेरे पास लाने वाली चीज़ क्या है, अगर वह इंसानियत ही नहीं है तो ? ! इसका मतलब यह है कि दुनिया में सब बुरे ही बुरे लोग नहीं बसते, अच्छे लोग भी ज़रूर हैं कहीं। हो सकता है कि कुछ कम हों लेकिन हैं ज़रूर। उस वक्त तो मुझे ऐसा ही लगा था, यों अब तो मेरा विश्वास है कि दुनिया में अच्छे लोग ही ज़्यादा हैं और जो बुरे हैं उनकी बुराई की जड़ें भी आज की इस बर्बर समाज व्यवस्था से पैदा होने वाली विकृतियों और कुसंस्कारों में ही हैं जो कि दूर किये जा सकते हैं और उनके दूर होने पर यह धरती ही स्वर्ग बनेगी... मगर खैर यह विश्वास तो मुझे बाद को मिला। उस समय तो पार्वती की इंसानियत ही मुझे सैराब करने के लिए काफी थी। फिर एक सवाल यह भी मेरे मन में उठा था कि पार्वती को अपने उत्सर्गपूर्ण जीवन की (जिसके बारे में दूर दूर से मैं भी कुछ न कुछ जानती ही थी) प्रेरणा कहां से मिलती है ? इतनी तेज़ लड़की थी पार्वती, उसने आखिर क्यों कष्टों की ज़िन्दगी अपनाई, यह रोज़ रोज़ मज़दूर बस्तियों में भटकना, उनकी दरखास्तें लिखना, उन्हें अख़बार पढ़कर सुनाना, उनके चीथड़ों गूदड़ों और नकबहे गन्दे बच्चों और गंदी स्त्रियों के बीच घंटों घंटों बैठना, फिर महीनों के लिए दूर दूर देहातों में चले जाना जहां पहुँचने के लिए अपनी दो टांगों के अलावा दूसरी सवारी भी नहीं मिलती, जहां आधुनिक ज़िन्दगी की कोई सुख सुविधा नहीं है, उल्टे भूख है और महामारी है, आज एक महामारी है तो कल दूसरी महामारी है, मलेरिया है, हैजा है, प्लेग है, चेचक है, डेंगू है और सबसे बड़ी महामारी अकाल है—सूखे हुए ताल,

सूखे हुए कुएं, सूखे हुए पेड़, सूखी हुई फसलें, सूखे हुए ढोर-डंगर, सूखे हुए बच्चे, लागर बुढ़ापा, पस्त जवानियां, जले हुए ठूंठों की तरह काले काले ठठरी जिस्म—काली भूखी मिट्टी की काली भूखी सन्तानें...पार्वती को इनके बीच इन्हीं की तरह रहना क्यों अच्छा लगता है ? आंखों को बड़ा सुख मिलता है ? ! उसने ऐसा सौदा क्यों किया ? पार्वती किसी भी कालेज में लेक्चरर हो सकती थी। बैरिस्टर बन सकती थी। या अगर यह सब कुछ भी नहीं तो किसी से ब्याह करके अपना घर तो बसा ही सकती थी। मगर पार्वती ने इनमें से एक भी रास्ता क्यों नहीं चुना ? यह कँटीला कँकरीला रास्ता क्यों चुना ? अगर यह उसकी किसी गहरी नैतिक आस्था या आन्तरिक विश्वास की मजबूरी नहीं थी तो दूसरी कौन सी मजबूरी थी ?

'पार्वती चली गई और मैं आकर अपने बिस्तर पर लटी तो बस यही खयाल मेरे दिमाग़ में चक्कर काट रहे थे, बार बार उसी घेरे में नहीं, पागल आंधी की तरह, बराबर ऊपर को उठते हुए।

'जैसा मैंने कहा, पार्वती के आने का मुझपर बहुत गहरा असर हुआ, जैसे पार्वती की शक्ल में मेरा ज़िन्दगी में खोया हुआ विश्वास लौटकर आया हो। पार्वती ने बातें जो कहीं वह तो और भी पुरअसर थीं, बिलकुल ऐसी कि जैसी कोई कुशल डाक्टर किसी मरते हुए आदमी की रगों में ज़िन्दगी का सिरम इंजेक्ट करे, कहां कौन सा इंजेक्शन कारगर होगा यह समझ बूझकर एक इंजेक्शन दे, फिर मरते हुए बीमार के चेहरे और नाड़ी पर उसका असर देखे और तब फिर दूसरा इंजेक्शन दे और तब फिर तीसरा और चौथा....इतने आत्मविश्वास से वह बात कर रही थी सत्यबाबू कि जैसे मेरा मानस अपने कंकाल रूप में उसके सामने खड़ा हो और मेरी बीमारी पक्की तरह उसकी गिरफ़्त में आ गयी हो.....'

पार्वती की बात करते करते प्रमिला तो गरमा गई ही थी, खुद सत्य ने बड़ी सुहावनी गरमाई महसूस की, उस किटकिटाती सर्दी में भी, खुले आकाश के नीचे, जब चांद देवदारु की सुइयों के बीच से बर्फीले पानी की गगरी उँड़ेल रहा था——उसी तरह जैसे बालकृष्ण की चर्चा के समय उसने एक अजब ठिठुरन महसूस की थी, एक अजीब सुरसुरी सी, जैसे धीरे-धीरे करके सर्दी से सारी इन्द्रियां अवसन्न हो जायेंगी—जैसे सारा सौर मंडल एकाएक ठंडा हो गया हो, कहीं किसी ओर कोई ऊष्मा न बची हो और हिमाद्रि सड़कों पर बहने लगा हो।.... पता नहीं ऐसा क्यों होता है ? आदमी बड़ा सेंसिटिव इंस्ट्रूमेंट है न, इसलिए पता नहीं वह हवाओं से और दिशाओं से क्या क्या असर लिया करता है।

प्रमिला ने अपना कहना जारी रक्खा—मेरे मानस को अपने सामने मेज पर नंगा लिटाकर उसकी रगों में पार्वती ने रुक-रुक कर ज़िन्दगी की सिरम के इंजेक्शन दिए, वैसे ही जैसे मैं देखती हूं डाक्टर आकर वीरेन्द्र को दे जाता है। पार्वती ने कहा, प्रमिला, इन बालकृष्ण जैसों के लिए तुम फिज़ूल अपने आपको घुलाओ मत। ये ऐसे ही होते हैं। इनका यही धंधा है। हजारों साल तक स्त्री पर राज करते करते, हज़ारों साल तक दुनिया को अपना हरम समझते-समझते, हज़ारों साल तक औरत की ज़िन्दगी से खिलवाड़ करते करते, अपनी इस वासना की बांदी के गालों में चिकोटी काटते काटते, बालकृष्ण ने (जो कि एक व्यक्ति नहीं टाइप है) यह समझ लिया है कि औरत की ज़िन्दगी यानी अस्मत यानी आबरू आतिशबाज़ी का एक अनार है, जिसमें आग लगाने का उसको जायज़ हक़ है, अपनी दिलबस्तगी के लिए, अपनी मौज के लिए—ताकि उसमें से रंगों के फुहारे निकलें जो आंखों को बड़ा सुख देते हैं, और इस खिलवाड़ में औरत की

ज़िन्दगी अगर जलकर खत्म हो जाती है तो हो जाये, वह भी मुनासिब ही है, कोई बुराई नहीं ! प्रमिला, ये प्रोफेशनल फिलैंडरर्स हैं, जिनका संस्कार इतना आसान न होगा। उम्मीद करनी चाहिए कि नये समाज के लिए जो संघर्ष हो रहा है उस संघर्ष के दौरान में ही इनमें से बहुतों का संस्कार हो जायगा, मगर जिनका नहीं होगा उन्हें उस नये समाज में डकैतों और खूनियों से भी ज्यादा कड़ी सज़ा मिलेगी, क्योंकि वह वर्गहीन समाज, जिसमें सब बराबर होंगे और सबसे पहले स्त्री और पुरुष बराबर होंगे, इस बर्बर युग के किसी भी अवशेष को सहन नहीं करेगा। और इस अवशेष को तो और भी नहीं जिसकी ज़हरीली जड़ स्त्री की हज़ारों साल की पराधीनता में है, पुरुष की मनोवृत्ति में से उसे उखाड़कर फेंकना होगा। और यह काम वह नया समाज करेगा। वह नया समाज पुरुष को स्त्री का सम्मान करना सिखलायेगा, देवी के रूप में नहीं, मानवी के रूप में, हवा में नहीं इसी ज़मीन पर ....मनु ने नारी को कहीं देवी भले ही कह दिया हो मगर उसने नारी को सन्तान-उत्पादन की भूमि के सिवा और कुछ नहीं समझा, सन्तान, जो पुरुष द्वारा अर्जित सम्पत्ति का उपभोग करे। उसने नारी को हीन से हीन कीड़ा समझा, इसीलिए उसके लिए हीन से हीन स्थिति का विधान किया। मनु की दृष्टि में नारी सब पापों का मूल थी, बुद्धि, संवेदना, सद्वृत्ति, सबसे शून्य, रिक्त। इस तरह देखो प्रमिला, तो एकदम अकारण नहीं है नारी की यह स्थिति—शासक वर्ग ने अपने दार्शनिक भी तो पैदा किये हैं और यहीं नहीं हर देश में। लिखित इतिहास के आरम्भ से नारी की वही स्थिति है, लेकिन अब इस स्थिति को बदलने का, नये इतिहास का युग आ गया। यह नया युग जरूरत हुई तो मार-मार कर पुरुष को स्त्री का सम्मान करना सिखायेगा... मगर उस युग को पास लाने के लिए स्वयं स्त्री को भी तो संघर्ष

करना पड़ेगा, यह थोड़े ही न होगा कि कोई आकर अपने आप उसके मुंह में पके आम का मीठा मीठा रस डाल जायेगा... उसके लिए सभी वंचित प्रताड़ित वर्गों को लड़ना होगा और इस लड़ाई में स्त्री को सबसे अधिक वंचित होने के नाते ही सबसे आगे होना चाहिए... और यह लड़ाई जो स्त्री अपने अधिकारों के लिए लड़ रही है, सामाजिक न्याय की उस बड़ी लड़ाई का ही एक टुकड़ा है जिसे शोषित मानवता, सारे मेहनतकश लोग लड़ रहे हैं ताकि मानव प्रगति की राह रोकने वाली, मनुष्य जाति की सृजन शक्ति को तिल तिल करके नष्ट करने वाली इस बर्बर व्यवस्था का अंत हो और मनुष्य की अशेष अनंत प्रगति का द्वार खुल जाये, जिस रास्ते सुन्दरी मानवता के एक एक पदाघात से (और वह पद भी कौन ? वाम !) रक्तपल्लव, मधु-पुष्प अशोक के नित नये सुनहरे और लाल फूल खिलेंगे, जब यह हथकड़ी और बेड़ी जो समाज को जकड़े हुए है तड़ाक् से टूट कर गिर जायेगी और आदमी जब अपना मेरुदंड सीधा करके खड़ा होगा तो उसका सिर चांद को छू लेगा और जब यही आदमी का बच्चा सूरज से रोटी पकायेगा...

'सत्यबाबू, अगर कहीं आपने उस समय पार्वती के मुख का भाव देखा होता, कैसी एक लुनाई आ गयी थी। उस वक्त उस रूखे और थोड़े कठोर से चेहरे पर एक मक्खन जैसी कोमल स्निग्धता आ गई थी। उस समय तो मैं उसे समझ भी नहीं सकी थी। काफी बाद में जाकर मैंने उसे समझा। मैं समझती हूं कि उस दिन की कल्पना करके वह एक personal triumph का भाव उसके चेहरे पर उभर आया था, कुछ यह भाव कि नई दुनिया जब आयेगी तब उसमें मेरा भी अवदान होगा, मैंने जो अपने जीवन का श्रेष्ठतम पवित्रतम अंश उसके संघर्ष को दिया है, उसकी सिद्धि होगी यह, प्रतिफल बरसों के उस कमर तोड़ने वाले परिश्रम का जो लाखों-करोड़ों लोग दुनिया

के कोने कोने में कर रहे हैं, जिनमें मैं भी हूं, अपनी जगह पर अपना छोटा सा मोर्चा संभाले, सारे कष्टों आपदाओं के बीच कर्म में लीन—इसी की लुनाई, इसी की स्निग्धता थी उसके चेहरे पर। उसके बिना शायद यह मरुभूमि का रास्ता किसी के तय किये तय न हो।' फिर थोड़ा रुककर प्रमिला ने कहा—सत्यबाबू, आपने वह पत्थर देखा है जिसके अन्दर पानी होता है ?

सत्य ने स्वीकृति में सिर हिलाया।

प्रमिला ने कहा—पार्वती को इधर मैंने जितना ही जाना उतना ही वह मुझे उस पत्थर सी मालूम होती है—कठोर, रूखे से बहिरंग के नीचे कैसा कोमल अन्तरंग, कितना मानवीय कितना ममतामय।..

सत्य ने कहा—प्रमिला जी, अब हमें चलना चाहिए, काफी रात जा चुकी, चांद कबका चला गया—

प्रमिला ने बेंच पर से उठते हुए कहा—आज मुझे कितनी खुशी हुई पार्वती से मिलकर, आपसे कैसे कहूं !.....और सत्यबाबू, पार्वती का सबसे बड़ा गुण है कि वह कभी किसी की खुशामद नहीं करती और न कभी किसी का दिल रखने ही के लिए हलका सा भी झूठ बोलती है। सत्यबाबू, यह है न बहुत बड़ी बात ? मैं तो समझती हूं कि इसका पालन करना बहुत ही कठिन है—अपनी खातिर नहीं तो दूसरे की खातिर तो आदमी छोटे मोटे झूठ बोल ही दिया करता है....मगर नहीं, पार्वती से आप उसकी भी उम्मीद नहीं कर सकते। ज़रा सोचिए उस रात भी जब वह आई थी—कितनी नाज़ुक घड़ी थी—तब भी उसने मुझे फिज़ूल humour नहीं किया। उस वक्त तो सच कहूं यह बात मुझे थोड़ी अखरी ही थी मगर बाद में मैंने उसके बड़प्पन को समझा। पार्वती ने चलते चलते मुझसे कहा—मैं जानती

हूं आप इस समय बड़ी दुखी बड़ी संतप्त हैं, मगर प्रेम के दुख और संताप से भी बड़े दुख और संताप हैं। मेरी रोज उनसे मुलाकात होती है, आप चाहेंगी तो आपसे भी हो जायेगी। मैं नहीं जानती, शायद यह बात मैं आपकी सान्त्वना के लिए भी कह रही हूं मगर उससे भी बड़ा कारण है कि मुझे समवेदना के नाम पर भी इस सत्य को दबाना अन्याय मालूम हो रहा है। मैं सच कहती हूं मिस लघाटे, अगर आप भी वह सब कुछ देख लें जो मैंने देखा है, तो फौरन आपका दिल मेरी बात की सचाई की गवाही दे देगा....और सत्य-बाबू मेरे दिल ने पार्वती की बात की सचाई की गवाही दी जब मैं उसके संग संग मजदूर बस्तियों में गई, दूर देहातों में गई, गरीब किरानी बाबुओं के घर में गई—यानी जहां जहां पार्वती जाती थी ......'

चारों ओर निशीथ की निबिड़ निस्तब्धता भांय भांय कर रही थी, चांद डूब चुका था, काफी काफी दूर पर लगी हुई म्युनिस्पैलिटी की लालटेनों की लाल लाल रोशनी सड़क पर फैल रही थी, आसमान से सर्दी की जैसे फुहारें सी गिर रही थीं, और सत्य और प्रमिला अभी कुछ चुप चुप से चले जा रहे थे। सत्य के दोनों हाथ ओवरकोट की जेब में थे और प्रमिला के दोनों हाथ बाहर थे। प्रमिला ने थोड़ी देर की खामोशी के बाद कहा—सत्यबाबू, मैं आजीवन पार्वती की ऋणी रहूँगी—नहीं, इसके लिए नहीं कि उस रात आकर उसने मुझे मौत के रास्ते से लौटा दिया, वह एक बड़ी बात है मगर उससे भी बड़ी बात यह है कि उसने मुझे सार्थक रूप से जीने की विधि बतलाई। मैं कहां कहां नहीं घूमी उसके साथ, क्या क्या नहीं किया, पांवों में छाले पड़ गये, हाथ में गट्ठे पड़ गये, और पड़ेंगे नहीं गट्ठे ? जिन्दगी में कभी तो कुदाली पकड़ी नहीं और पार्वती के संग मुझे सभी कुछ करना पड़ता। पार्वती के काम करने का तरीका यही था—

किसानों में काम करना है तो बिलकुल उन्हीं के जैसे हो जाओ, चौबिस घंटा उन्हीं के बीच रहो, और जैसे जैसे वे तुम्हें अपना आदमी अपना साथी समझने लग जायं, वैसे वैसे फिर खेत पर खलिहान में उनके संग काम भी कराने लगो। और इस तरह जब तक एक एक दो दो चार चार कार्यकर्ता एक एक गांव को अपना गढ़ मानकर उसमें काम करते हैं और दिन रात काम करके अपने को उसके अंदर खपा देते हैं, अपने को खाद बना देते हैं, तब कहीं जाकर क्रान्ति की वाणी दिल में उतरती है वर्ना तो बस कान से टकरा कर लौट आती है, नेता जी चाहे जितना गला फाड़ें कुछ होता जाता थोड़े ही है, कम्युनिस्ट का बिल्ला लगाने से थोड़े ही न जादू हो जायगा। कम्युनिस्ट नाम से नहीं काम से होता है। मैंने सैकड़ों ऐसे कम्युनिस्ट देखे हैं, और पार्वती भी उन्हीं में की एक रतन है और मैं आपसे कहती हूं सत्यबाबू कि इन लोगों ने अपना खून पसीना एक करके जो फसल वहां दक्षिण में बोई है वह जब तैयार होगी तब देखिएगा......

सत्य ने कहा—उसमें आपका भी तो खून पसीना मिला हुआ है, प्रमिला जी।

प्रमिला ने कहा—मेरा ऐसा बहुत क्या है उसमें, मगर हां कुछ तो है ही और वही मेरे जीवन का सबसे बड़ा गौरव है....मगर उसका श्रेय भी असल में पार्वती को मिलना चाहिए; मैं भी तो उसी के बोये हुए धान की एक बाल हूं।

सत्य ने अपने मन में कहा, अपनी कैसी अच्छी उपमा दी है प्रमिला ने, लम्बी छरहरी सुनहरी धान की बाल, वही हरियाली, वही ताज़गी, वही हवा के तेज़ झोंकों में लहराना।

'मेरे अन्दर पहले जिन्दगी का नया बीज और फिर नई जिन्दगी

का बीज पार्वती ही ने तो डाला। मैं तो मर चुकी थी हर तरह से, मुझे पार्वती ने जिलाया, पैरों पर खड़ा किया, आँधी के तेज झक्कड़ खिलाये, हां पैरों में छाले तक डाले....मगर उस सबके बाद भी, बल्कि कहूं कि उस सबके ज़रिये ही उसने मुझे सिखलाया कि ढंग से ज़िन्दगी को जीना भी एक कला है और सच्चा सुख भी उसी में है, उसी पांव के छाले और हाथ के गट्ठे में, अपने पड़ोसी अपने भाई अपनी बहन के काम आने में—अपने ही अपने लिए जीना तो सुअर की ज़िन्दगी है। जो ज़रा भी सहृदय है उसे जल्दी ही ऐसी ज़िन्दगी भारी मालूम होने लगती है मगर जो रुपए की खनक या कुंजड़े जमाने के शोर में पड़कर अपने दिल की आवाज़ को अनसुना कर देते हैं उन्हें फिर यह ज़िन्दगी ही सुअर बना भी देती है, इसमें भी कोई शक नहीं...'

सत्य बिना किसी टीका-टिप्पणी के एकदम चुपचाप प्रमिला की बातें सुन रहा था। ये तो बिलकुल उसके दिल की बातें थीं। पता नहीं कितनी बार उसने उषा से ऐसी ही बातें कही भी थीं। प्रमिला की बातें सुनते सुनते बस एक विचार सत्य के मन में आया कि प्रमिला को जरूर उषा से मिलाऊँगा, संभव है मेरी बातों से ज्यादा प्रमिला की बातों का असर हो।

दूसरे रोज़ सत्य भुवाली से रवाना हो गया। वीरेन्द्र प्रमिला की देख-रेख में है, इस विचार से सत्य के मन को बड़ी शान्ति मिली और जब वह चला तो उसके मन में वीरेन्द्र के लिए दुख ज़रूर था लेकिन कोई दुश्चिन्ता नहीं थी, देखरेख में तो कोई कसर नहीं होगी, मर्ज़ तो फिर जैसा है सो है ही, बड़ी हिम्मत मांगता है, बड़ा पैसा मांगता है, राज रोग नाम ही है, राजाओं का रोग....

सत्य वीरेन्द्र से विदा होकर चलने लगा तो वीरेन्द्र ने अपनी उसी

शाश्वत मुसकराहट से उसे बिदा देते हुए कहा—तुम कुछ फिकर न करना सत्य। मैं अभी मरूंगा नहीं, अभी बहुत कुछ देखना है मुझे, अभी हरगिज नहीं मरूंगा मैं। अभी मेरा एक फेफड़ा तो बिलकुल ठीक है लेकिन अगर जरूरत पड़ी तो बिना फेफड़े के भी जी लूंगा। Satya, you know, a communist, like the proverbial cat, has nine lives. आसानी से नहीं मरता कम्युनिस्ट.......और फर्ज करो मैं मरना ही चाहूं तो यह प्रमिला क्या मुझे मरने देगी!....

प्रमिला ने बहुत नाराज होते हुए कहा—यह क्या फिजूल की बकवास लगायी है आपने! बड़ी humorous बात कर रहे हैं अपनी समझ में!

वीरेन्द्र ने और भी मुसकराते हुए कहा—सत्य, अब तो हो गया तुम्हें मेरी बात का यकीन?!....

अब की प्रमिला बड़ी खफीफ हुई, मगर क्या कहती। पर सत्य ने प्रमिला का साथ देते हुए कहा—आपकी यह बात ठीक नहीं वीरेन्द्र भाई, आप खामखा प्रमिला के पीछे पड़े रहते हैं।.... अच्छा अब मैं चलूं, बस का वक्त हो गया है, और वीरेन्द्र की तरफ हाथ बढ़ाया।

वीरेन्द्र ने लेटे लेटे सत्य से हाथ मिलाया और कहा—आखिरी और इस वक्त सबसे जरूरी बात जो मुझे तुमसे कहनी है यह है कि मैं किसी तरह यहां चला जरूर आया हूं मगर इलाज के लिए मेरे पास पैसे नहीं हैं। बड़ा मरदूद खर्चीला मर्ज है, इसलिए अगर अपने खर्च से पैसे कभी उबरें, जो कि बहुत मुश्किल है, तो मुझे भी भेजना। तुम तो जानते हो सत्य मुझे अपने साथियों को छोड़ भला और किसका सहारा है। इसीलिए तुमसे इतना निःसंकोच होकर मांग रहा हूं।

वीरेन्द्र की बात से पता नहीं क्यों सत्य का दिल एकदम भर आया। क्या इस बात पर कि वीरेन्द्र इतना एकाकी है? या वीरेन्द्र की पानी जैसी, पहाड़ी झरने के पानी जैसी स्वच्छ सरलता पर? या अपने साथियों के प्रति उसके उस गहरे विश्वास पर जहां पहुंचकर रंग-बिरंगे शब्दों के कपड़े बदन में कांटे की तरह चुभने लगते हैं और नंगा होना ही अकेली गति रह जाती है? यह पवित्र नग्नता सब के बस की चीज़ नहीं है दोस्त, हर कोई इतने सहज रूप में मांग भी नहीं सकता। इतने सहज रूप में मांगने के लिए उतने ही सहज रूप में दे सकने की क्षमता पहले ज़रूरी है, वर्ना नहीं। जिसने ज़िन्दगी भर अपने को दिया ही दिया हो और कोई प्रतिदान न मांगा हो, वही ऐसे मांग सकता है जैसे वीरेन्द्र मांग रहा है—आंख बचाते हुए, याचन के स्वर में नहीं, आंख में आंख डालकर आदेश के स्वर में।

वह खैर जो भी हो, सत्य का दिल एकदम भर आया था और आंखें भी गीली सी हो रही थीं, इसलिए नज़र फेरे फेरे उसने सिर्फ इतना कहा—वीरेन्द्र भाई, आपकी ज़िन्दगी अकेले आपकी नहीं है।

इससे ज़्यादा वह कुछ नहीं कह सका।

प्रमिला उसे छोड़ने बस स्टैण्ड तक आई। बस छूटने का वक्त हो ही गया था। टिकट लेकर अपनी सीट पर बैठते बैठते सत्य ने प्रमिला से कहा—वीरेन्द्र भाई के बारे में मुझे बराबर लिखती रहियेगा।

प्रमिला ने कहा—यह भी कोई कहने की बात है?

सत्य ने कहा—आप वीरेन्द्र के पास हैं इसलिए मैं काफी इत्मीनान से जा रहा हूं।

प्रमिला ने कहा—वीरेन्द्र का बस चले तो आज मुझे पैक कर दें..

सत्य ने कहा—उसकी आप फिक्र न करें.....वीरेन्द्र भाई ने कभी किसी से खिदमत ली नहीं, सदा खिदमत की ही है इसीलिए किसी से खिदमत लेते उनके दिल पर गुजरती है। और खासकर आपसे उस हालत में जबकि आप नौकरी से लगी हुई हैं....मैं उनके दिल की कैफियत समझ सकता हूं मगर कहावत है कि रोगी और बच्चे की इच्छा का कोई मूल्य नहीं होता...प्रमिला जी, आप कभी अपने को अकेला न महसूस कीजिएगा——

२८

पांचवें दिन रात के नौ बजे सत्य वापस घर पहुंचा। दरवाजा खुला हुआ था। इतनी रात को ? जाड़े के दिनों में ? सत्य का माथा ठनका, जरूर कुछ असाधारण बात है। अन्दर घुसते हुए देहलीज पर उसके पैर ठिठके।

अरुण बीमार था।

उषा उसके सिरहाने बैठी थी। अमूल्य की मां भी करीब ही एक स्टूल पर बैठी हुई थीं। और खुद उषा की मां ओडिकोलोन की पट्टी तैयार कर रही थीं। उषा का एक पन्द्रह-सोलह साल का छोटा भाई रामू खड़ा था—देखकर ही लगता था कि अभी अभी कहीं से होकर आया है और फिर इशारा मिलने भर की देर है जहां भेजो तुरन्त दौड़ जायेगा।

यह दृश्य देखकर सत्य को बड़ी घबराहट मालूम हुई। अभी गये रोज ही कितने हुए, इस बीच आखिर क्या हो गया अरुण को—उसने हाथ का होलडाल और सूटकेस एक ओर को पटका और लपककर अरुण के पास गया। माथे पर हाथ रखा। जल रहा था। उषा से पूछा—किस दिन से ?....

जवाब के लिए उसने उषा की ओर देखा। उषा की आंखें सुर्ख और ओंठ सूजे हुए थे। उषा ने जवाब देने के लिए मुंह खोला, मगर कोई आवाज नहीं निकली। जैसे किसी ने उसकी जबान छीन

ली हो। घर में अगर अकेला सत्य होता तो सबसे पहले उषा सत्य के सीने में मुँह गाड़कर जी भरकर रोती, इन तीन दिनों में उसने कितना जब्त नहीं किया है, कितना रोना घुटघुटकर उसके अन्दर नहीं मरा है, अब सत्य को पाकर वह एकदम फूट पड़ना चाहती है। मगर कैसे करे, अमूल्य की मां के आगे बुक्का फाड़कर रोना भी अच्छा नहीं लगता। अपनी मां के गले लगकर तो काफी रो ली। उषा बेचारी क्या जवाब देती, ओठ जरा सा फड़के जरूर मगर फड़क-कर रह गये। सारी ताक़त तो उसकी अपने को ज़ब्त करने में लग रही थी। सत्य को पाकर उसका जी हुआ कि अपने को बिलकुल ढीला करके उसकी बांहों में छोड़ दे और कहे कि लो भाई, अब तुम अपने बेटे को भी देखो और मुझे भी, मुझसे अब और नहीं चला जाता।...कितना सहारा था उसे इस सत्य का और वही सत्य इतने दिन उसके पास नहीं था, उषा को रोना न आये तो क्या हो!

उषा बस निर्निमेष सत्य को देखती रही, कुछ बुदबुदायी भी मगर किसी को सुन नहीं पड़ा।

सत्य के सवाल का जवाब दिया अमूल्य की मां ने—आज यह तीसरा रोज़ है अरुण को पड़े। तुम शायद उसके एक या दो रोज़ पहले गये होगे....घबराओ नहीं, अरुण की तबीयत अब अच्छी है। मलेरिया है, कोई घबराने की बात नहीं है। पहले दिन अलबत्ता बड़ी चिन्ता हो गयी थी। १०५ डिग्री बुखार, बल्कि आध पौन डिग्री ज़्यादा ही चिन्ता कैसे न हो——मगर भैया तुम्हारी उषा तो बिलकुल पागल है...उसे अपने तन-बदन का होश थोड़े ही रह गया था। हाथ पैर कांप रहे थे और वह १०५ डिग्री बुखार में अरुण को यहां घर में छोड़कर डाक्टर बुलाने जा रही थी, एकदम

पगलियों की तरह, किसी चीज़ की कोई सुध नहीं। उस वक्त मोटर भी आकर उसे दबा देती तो उसे पता न चलता। रो नहीं रही थी उषा मगर रोने से भी हज़ार गुना बुरा हाल था, चेहरा एकदम पीला, जैसे किसी ने अभी अभी नली के ज़रिये उसका सारा लहू खींच लिया हो और आंखें मत्थे पर टंगी हुई जैसे किसी ने उन्हें गेलिस की तरह तानकर वहीं पर अटका दिया हो, एकदम शून्य निर्विकार चेहरा, सिवाय असहाय ममता के और कोई भाव नहीं था वहां। मैं भी मां थी इसलिए झट पहचान गयी। मैं आ रही थी कामाक्षी बाबू के यहां से, तुम नहीं जानते उनको। गोधूलि की बेला थी। मैं तो तुम्हारी इस पगली को देखकर एकदम अवाक्। मैं सोचने लगी : इस वक्त यह कहां पगलियों की तरह भागी जा रही है। इसके चेहरे की यह रंगत तो देखो ! इसके हवास दुरुस्त नहीं। ऐसे में तो यह किसी मोटर-वोटर के नीचे आ जायेगी।...बिलकुल पागल है तुम्हारी उषा, तुम इसे कभी छोड़-वोड़कर न जाया करो वर्ना यह ज़रूर किसी दिन कोई न कोई अनर्थ कर बैठेगी....अभी बिलकुल बच्ची है न इसलिए बड़ी जल्दी घबरा उठती है...फिर तो समय सब कुछ सिखा देता है, सहना भी ....सहते सहते खाल मोटी पड़ जाती है, कलेजा पत्थर हो जाता है—

उषा की मां ने कहा—बड़ी मदद की आपने वर्ना पता नहीं आज हमारे भाग्य में क्या लिखा था ....

अमूल्य की मां बोली—तुम आ भी गये, खोखा, और रात भी काफी गई इसलिए मैं अब चलती हूं....वैसे कोई तो नहीं घर पर जिसे मेरी ज़रूरत हो

अमूल्य की मां चली गई तो उषा की मां ने कहा—बड़ी भली स्त्री है। डाक्टर को ले आई, फिर उषी से मेरा पता पूछ-पाछ कर मुझको

खबर करने पहुंची—बड़ी मदद की बेचारी ने।

उषा की आंखों में भी कृतज्ञता थी।

सत्य ने कहा—मलेरिया है तब तो डरने की ऐसी कोई बात नहीं है।

अब उषा के मुंह से आवाज़ निकली—उस रोज़ कहां मालूम थी यह बात !...और फिर एक नन्हें से बच्चे की जान ही कितनी... अरुण इसके पहले कभी बीमार भी तो नहीं हुआ था।

सत्य ने कहा—मगर तुम सचमुच बड़ी पागल हो उषी...घबराने से कहीं काम चलता है....मुसीबत के वक्त तो आदमी को और भी ठंडे दिमाग से काम लेना चाहिए ......

अब इसका जवाब बेचारी उषा क्या देती। उसकी मां ने उसकी तरफ से सफाई दी—बेटा, कहते सब यही हैं मगर मुसीबत में किसके औसान खता नहीं होते ?! उषी की जगह तुम होते तो, उन्नीस-बीस, तुम्हारा भी यही हाल होता—अब बड़े आये हो नसीहत करने मेरी बेटी को। मुसीबत की घड़ी टल गयी है न, इसी से !

उषा ने कहा—नहीं, अम्मां, यह बुराई तो है मुझमें पर मैं क्या करूं, सबसे पहले मेरे हवास गुम होते हैं, हाथ पैर कांपने लगते हैं और कुछ भी नहीं सूझता। बुरी बात है यह। कष्ट में ही तो धीरज की परीक्षा होती है।

एक तो अरुण की हालत अब बेहतर थी, दूसरे सत्य के आ जाने से सबका तनाव कम हो गया।

उषा की मां ने कहा—अच्छा तो बेटी अब मैं चलूंगी। दो दिन से गई नहीं। अब उधर भी चलना चाहिए। सत्यबाबू आ गये, अब मैं

भी थोड़ा निश्चिन्त हो सकूंगी।....कहो तो रामू को वापस पहुंचा दूं....कोई काम पड़े....

सत्य ने कहा—नहीं अम्माजी, मैं तो हूं ही अब दौड़भाग के लिए। दूसरे अरुण की तबियत भी तो अब ठीक है। कितना बुखार है इस वक्त ?

उषा ने कहा—अभी घंटा भर पहले लिया था, १०१ था।

सत्य ने कहा—कोई बात नहीं। मलेरिया में तेज बुखार चढ़ता ही है। और चार छः रोज़ में ठीक हो जायगा...पर देखो तीन दिन में ही उसकी क्या हालत हो गयी है, एकदम बेहोश पड़ा है....

उषा ने कहा—एकदम सूख कर कांटा हो गया है—

उषा की मां ने कहा—बुखार चीज ही ऐसी है बेटी, बच्चे की क्या बिसात है उसके सामने। बुखार तो हाथी का मद तोड़कर रख देता है, हाथी का....

इस माघ की रात के दस बजे सर्दी का क्या पूछना। उषा की मां ने अच्छी तरह शाल लपेटा, रामू को हलके से धुड़कते हुए बोलीं—इस रामू को सर्दी ही नहीं लगती—एक पुलोवर में इसने जाड़ा काट दिया...उषी, तेरे ही हाथ का पुलोवर तो है यह...

उषा ने कहा—बड़ा पुराना हो गया भैया। अब इस साल तू इसको जरूर फेंक देना। मैं तेरे लिए नया बुनूंगी। मगर झंझटों से तो छुट्टी ही नहीं मिलती, अम्मां—

अम्मां ने कहा—गिरस्ती में ऐसा ही होता है बेटी....और अभी क्या, अभी तो एक है, जब भगवान की दया से और दो तीन हो जायंगे तब देखना, मरने को भी तो ठांव नहीं मिलेगी, मैं क्या जानती नहीं....

सत्य मामले की नजाकत को देखकर वहां से हट गया था। उषा ने लजाते हुए कहा—तुम भी कैसी बात करती हो अम्मां!....एक के पीछे तो मेरा यह हाल है, कईठो हो जायंगे तो पता नहीं, किसी दिन घबराकर मैं शायद संखिया ही खा लूं——

उषा की मां ने कहा—कैसी बुरी लड़की है! बच्चे तुझे काटते हैं? काटते हों तो ला मुझे दे दे, जैसे इतनों को पाल-पोस कर बड़ा कर दिया, वैसे ही इसको भी कर दूंगी। हां दूध अब नहीं उतरेगा, पर उसके लिए क्या, किसी को रख लूंगी, आजकल तो ऐसी दाइयां बहुत मिलने लगी हैं। नहीं, उसकी भी क्या जरूरत, बोतल के दूध पर भी बच्चे पलते हैं और फिर अब दूध छुड़ाने के भी तो दिन आ गये, दो दांत भी तो निकल आए, अब और कब तक चिचोड़ेगा—ला दे दे मुझे अरुण को—अगर इतना ही काटते हैं बच्चे तुझे.....

उषा ने कहा—देने की क्या बात है अम्मां, तुम्हारा ही बच्चा है....

उषा की मां ने प्यार में मुंह चिढ़ाते हुए कहा—देने की क्या बात है अम्मां!...अम्मां जैसे कुछ समझती ही नहीं! तू मेरे पेट से हुई है बेटी, मैं तेरे पेट से नहीं हुई...अपनी औलाद का प्यार ऐसा ही होता है....देने की बारी आयी तो देने की क्या बात है अम्मां! ....मां का दिल ऐसा ही होता है, परक्रीती (प्रकृति) ने उसे ऐसा बनाया ही है। ऐसा दिल न हो मां का तो न तो बच्चा दुनिया में आये और न पाल पोस कर बड़ा हो। मां अपना खून पानी एक कर देती है तो एक बच्चे की परवरिश होती है...मैं शर्त बदकर कहती हूं कि कोई आदमी एक बच्चे को, हां बस एक बच्चे को पाल पोस कर बड़ा तो कर दे, यह मां का ही जिगरा होता है। दांतों पसीना आ जायगा

और तब भी कुछ किये-धरे नहीं बनेगा। परकृती जिसको जो काम सौंपती है उसको पहले उसके योग्य बना देती है। बच्चा जमीन पर गिरता है इसके पहिले मां की छाती में दूध आ जाता है। सब सब काम नहीं कर सकते, इसीलिए सब का स्वभाव भी एक सा नहीं होता। आदमी और औरत का स्वभाव भी इसलिए फर्क होता है। मैं तो कहती हूं ये आदमी मां के दिल को समझ भी नहीं सकते....

सत्य बगल के कमरे ही में था। निकल आया और मुसकराता हुआ बोला—लगता है मेरी बात बहुत बुरी लग गयी आपको अम्मां जी। मैंने तो मजाक में कहा था—

उषा की मां ने कहा—नहीं, बेटा बुरा नहीं लगा मुझे, बुरा लगने की भला इसमें ऐसी कौन बात है....पर मैं एक बात कहती थी....औरत और मर्द का स्वभाव कभी एक सा नहीं हो सकता, परकृती को उनसे अलग अलग काम लेना मंजूर है न, इसीसे। उषी अपने दिल का कच्चापन कबूल करती है, यह अच्छी बात है, उसका ध्यान अब अपने दिल को पक्का करने की तरफ जायगा...मगर क्या करे बेचारी औरत, बच्चे को संकट में देखकर उसे फिर कहीं कुछ सूझता ही नहीं।

फिर जैसे कोई बड़ी राज़ की बात कर रही हो, बोली—असल बात यह है न कि बच्चे ही में तो उसके प्राण बसते हैं, बच्चे से अलग उसकी जिन्दगी कहां...... तुमने भी बेटा वह हीरामन तोतावाली कहानी ज़रूर सुनी होगी, जिसके अन्दर किसी राक्षस के प्राण बसते थे....सो मां भले राक्षस न हो पर उसके प्राण तो ज़रूर अपने हीरामन तोते में बसते हैं... मां की जान लेनी हो तो उसके तोते की गर्दन मरोड़ दो, मां का काम तमाम हो जायगा। क्यों, कुछ झूठ कहती हूं उषी ?

उषा इसका भला क्या जवाब देती। चुप रही।

तब उषा की मां ने अरुण को अपनी निगाहों से सहलाते हुए कहा—सचमुच, देख, कैसा सूखकर लकड़ी हो गया है बेचारा......पता नहीं अभी और कै रोज में बुखार छूटेगा...पर देखना उषी, अबकी वह जैसे ही अच्छा हो तू उसे मछली का तेल जरूर पिलाना, उससे हड्डियाँ मजबूत होती हैं और देख एक नौकर तू जरूर रख ले, पता नहीं कब क्या जरूरत पड़ जाती है, जैसे अबकी ही बार नौकर होता तो तू उसे भेजकर मुझको खबर करवा देती, नौकर नहीं था तभी तो तू बीमार बेहोश लड़के को महरी की बिटिया के भरोसे छोड़कर पगल की तरह डाक्टर की तलाश में गई....नहीं, एक नौकर के बिना कभी काम नहीं चल सकता—

उषा ने कहा—मिलते जो नहीं। हम लोग तो खोज खोज कर हार गये

अम्मा ने कहा—तो क्यों न मैं तेरे दातादीन को भेज दूं, तुझे चाहता भी बहुत है, बुड्ढा आदमी है, बच्चे की अच्छी देख-भाल कर लेगा—

उषा ने कहा—नहीं अम्मां, दातादीन को भेजने की जरूरत नहीं, वहां का काम भी तो नहीं चलेगा दातादीन के बिना। इस बार और खोज लूं मगर कोई आदमी अब भी नहीं मिला तो दातादीन को बुला लूंगी।

उषा की मां रामू को संग लेकर चली गयीं।

सत्य ने कहा—अम्मां जी बहुत बोलती हैं, मगर पता नहीं क्यों मुझे उनका बोलना बड़ा अच्छा लगता है। बड़ी दानिशमन्द हैं, बहुत पते की बात कहती हैं...

उषा भी मां की ही बात में खोई हुई थी। पहले उसके मन में एक ग्लानि सी थी। मां की बात से वह दूर हो गई। ग्लानि बहुत

बुरी चीज है, उससे कभी कोई अच्छा नतीजा नहीं निकल सकता। उस रास्ते चलकर वह शायद कभी अपने मन को पक्का न कर सके, मां के पद की गरिमा कौन जाने उसे ठीक ही कर दे—यही सब विचार उसके मन में आ-जा रहे थे।

अब उषा को सत्य के खाने की फिक्र हुई। इधर तीन दिन से कुछ भी कच्चा पक्का रींध के खा लिया जाता था। लिहाजा इस वक्त चौके में कुछ भी खाने की तलाश वैसी ही थी जैसे बिल्ली के दड़बे में छीछड़े की। उषा ने पूछा—क्या खाओगे ?

सत्य ने कहा—उसकी तुम फिकर न करो, मैंने स्टेशन पर यों ही कुछ अटरम-शटरम खा लिया था—

उषा ने कहा—झूठ बोलते हो, तुमने कुछ खाया-वाया नहीं है।

सत्य—नहीं उषी, सच कहता हूं। जनवरी के महीने में तो साढ़े नौ का वक्त काफी देर कहलाता है, इसलिए मैंने स्टेशन ही पर पेट पूजा कर ली थी।

रुपए में सवा सोलह आने झूठ बात थी। उषी को भी विश्वास नहीं आया। पूछ बैठी—अच्छा बताओ क्या क्या खाया ?

सत्य इस बेतुके सवाल के लिए बिलकुल तैयार नहीं था, चकबका गया, मगर खैर, कुछ भी आंय-बांय बताकर उसने छुट्टी ली। जरा सोचने की बात है, कैसे वह इस वक्त उषा को चौके में भेज दे।

अरुण गहरी नींद में सो रहा था। उषा ने उसके गले में हाथ लगाकर देखा—पसीना हो रहा है। लगता है, घंटे दो घंटे में बिलकुल उतर जायेगा....मगर पता नहीं पूरी तरह छुटकारा कब मिलेगा बेचारे को....

सत्य ने कहा—छूट ही जायगा एक दो अँतरे के बाद। परेशानी की अब कोई बात नहीं है।

उषा और सत्य भी जब सोने के लिए बिस्तर पर गये तो उषा ने स्वभावतः उसकी यात्रा के बारे में जानना चाहा—कैसी हालत है तुम्हारे दोस्त की ?

सत्य ने कहा—बहुत अच्छी नहीं । भरोसा अगर है तो वीरेन्द्र के हौसले का । वही चीज उसे उस खंदक से निकाल ले तो निकाल ले वर्ना मुश्किल है । मर्ज़ बहुत बढ़ जाने पर छोड़ा है हरामजादों ने । एक फेफड़ा तो बिलकुल चलनी हो गया है । उसे तो सुला ही देना होगा सदा के लिए । बड़ा कठिन आपरेशन है । छः पसलियां काटनी पड़ेंगी, दो दो करके तीन बार में कटेंगी । देखो क्या होता है । मगर भाई, है एक ही बहादुर आदमी । उसकी वही जानी-पहचानी मुसकराहट अब भी है, कहीं कोई घबराहट नहीं, माथे पर शिकन तक नहीं । क्या खूब आदमी है, बड़ी मजबूत will power होनी चाहिए उसके अन्दर

—अच्छे तो हो जायंगे ?

—अब यह मैं क्या जानूं—रोग भी कठिन है, रोगी भी । बराबर का जोड़ है । अखाड़े में उतरे हुए हैं । पता नहीं कौन किसे पटक दे । ....बस एक कमजोरी है वीरेन्द्र की —पैसे की । पैसा उसके पास नहीं है और यह रोग मरदूद ऐसा है कि इसमें पानी की तरह पैसा बहाना पड़ता है—

—तुम्हारी पार्टी कुछ नहीं करेगी ?

—पार्टी अपने साथियों को जो दिन-रात उसी का काम करते हैं, उनको नमक रोटी खिलाने तक को तो है नहीं पार्टी के पास ! कई कई दिन का फाका हो जाता है और जब खाने को मिलता भी है तो क्या मिलता है, जरा जाकर एक दिन उनके मेस में देखो तो...

और उस पर से ये साले पूंजीपतियों के अखबार कहते हैं, हमें मास्को से पैसा आता है !!! आता है तो कौन हड़प जाता है बीच ही में, कहीं दिखाई क्यों नहीं देता ?!

—अरे छोड़ो भी उस बात को, मुझे ये सब सुनाने से फायदा ?!

—गुस्सा आ जाता है न उषा। कहां असलियत तो यह है कि हमारे पास इतना भी पैसा नहीं कि हम अपने एक बेहतरीन साथी को मौत से बचा लें और कहां बात करने वालों के मुंह में जैसे लगाम ही नहीं—जो जी में आया कह रहे हैं ! गुस्सा नहीं आयेगा ?

—ठीक है गुस्सा, मगर पैसे का क्या होगा ? झंखने से तो मसला हल नहीं होगा !

—तुम्हारा कहना बिलकुल ठीक है उषी, मगर मैं अकेले कितना क्या कर सकता हूं। वैसे मैं तुमसे पूछे बगैर वीरेन्द्र को वचन दे आया हूं कि मुझसे जो कुछ बन पड़ेगा करूंगा। वीरेन्द्र ने जब खुद ही मुझसे कहा तो फिर अपनी सब दिक्कतों के बीच भी मुझसे मुंह नहीं चुराते बना।

—बड़ा अच्छा किया। ऐसे वक्त मुंह चुराते तो ज़िन्दगी भर तुम्हें अपने आप से मुंह चुराना पड़ता। तकलीफ तो हमें होगी, मगर मौत की तकलीफ से तो हर तकलीफ घटकर होती है। इस तकलीफ में भी सुख होगा। मेरी तरफ से तुम कोई बात दिल में न लाना। तुम्हारे ऐसे एक अच्छे साथी के लिए तकलीफ उठाने में मुझे भी सुख होगा—

—मैं जानता था इस काम में तुम जरूर मेरा साथ दोगी। मगर तुम्हारे मुंह से उसी बात को सुनकर मुझे और भी सुख हुआ।... एक बात कहूं ? बुरा न मानना। सुख के साथ साथ मुझे हलका सा आश्चर्य भी हुआ....

—क्यों? तुमने सोचा था कि मैं इस बात के लिए तुम्हें बुरा-भला कहूंगी ?! तुम दिल ही दिल में मुझे कितना बुरा समझते हो।

—देखो रानी, मैंने पहले ही शर्त करा ली थी कि बुरा न मानना। तुम्हारी तो नाक पर गुस्सा रहता है —

—ऐसी बुरी बात कहते हो, फिर कहते हो नाक पर गुस्सा रहता है !

—तुम तो अपने मन ही से सब कुछ समझ लेती हो और नाराज़ हो जाती हो। तुमने यह कैसे जान लिया कि मैंने सोचा तुम मुझे बुरा-भला कहोगी, लेकिन हां यह कि तुम इन शब्दों में, इस पुरज़ोर तरीक़े से मेरी ताईद करोगी, यह मैंने ज़रूर नहीं सोचा था। ईमान की बात तो यही है। मैंने सोचा था तुम इसे नियति जानकर या मेरी सनक जानकर बस स्वीकार कर लोगी, शायद थोड़ा भुनभुनाओ भी, 'एक नौकर रखने तक की तो समाई नहीं है मगर शौक़ चर्राया है दानी कर्ण बनने का! बड़े धन्नासेठ हैं न आप जो ज़माने की परवरिश कर लेंगे! वही मसल है आप मियां मांगते द्वारा खड़े दरवेश।....'

उषा मुसकरा दी और सत्य के छोटे छोटे बालों को अपने दोनों हाथों में भरने की कोशिश करते हुए बोली—बाल भी तो नहीं हैं तुम्हारे! सचमुच बड़े पाजी हो! बात सारी कह दी, मगर वही अंग्रेजी सल्तनत वाला कायदा, the thin end of the wedge first!

सत्य आज सचमुच बड़ा खुश था मन ही मन और सोच रहा था—और दिन होता तो इतने ही पर तिनग जाती....इन चार-पांच दिनों में ही यह जादू कैसे हो गया। जरा टटोलूं, कहीं यह उस किताब का तो असर नहीं है।

बोला—कैसी लगी वह फ़ूचिक वाली किताब तुम्हें, फांसी के तख्ते से.....

उषा ने कहा—तुमने भी क्या बात पूछी! वह भी क्या कोई साधारण किताब है जैसी और सब किताबें होती हैं—वह तो किसी के दिल का खून है जो उन पन्नों पर होकर बह गया है! क्या मर्द आदमी था! मिट गया मगर टूटा नहीं। कितनी छुरियों की धार मुड़ गयी होगी उस चट्टान से निडर सीने से टकराकर, कितने नेज़े भोंथे हो गये होंगे, मगर उसके पास हर सवाल का जवाब एक और बस एक—पर्वत का मौन...क्या क्या नहीं सहा उसने मगर आखिर तक ज़बान नहीं खोली, दुश्मन को भेद की एक बात नहीं बतायी। कितना बहादुर आदमी था! मैं पढ़ती थी और रोती थी, रोती थी और पढ़ती थी, मगर ये आंसू सस्ती करुणा के नहीं थे, ट्रैजेडी के थे, शेक्सपीरियन ट्रैजेडी के या ग्रीक ट्रैजेडी के। (उस वक्त भी सत्य को बिजली चमकने की तरह, उषा के संग अपनी पहली मुलाक़ात के दिन याद आ गये जब ब्रैडले की शेक्सपीरियन ट्रैजेडी और लूकस की ग्रीक ट्रैजेडी इन्हीं किताबों के माध्यम से उषा के संग उसकी जान-पहचान गहरी हुई थी! उसके साथ ही साथ उसे राज की याद आई और फिर राज की ट्रैजेडी के पांचवें ऐक्ट की याद आई मगर उस सबको उसने बलात् बाहर निकाल फेंका।)....कैसा अतिमानवी साहस और कैसा उसका विचित्र पुरस्कार, सचमुच कैसी उलटी-पुलटी दुनिया है यह....

सत्य ने कहा—यह दुनिया उल्टी-पुल्टी है, तभी तो उसको बदलने के लिए इतना पराक्रम उससे जूझ रहा है....

उषा ने कहा—वह तो मुर्दे में भी जान फूंक दे, ऐसी किताब है। बीसों-पचीसों जगह रोमांच हो आता है। जो cause इतने बड़े बलिदान की शक्ति देता है, वह निश्चय ही छोटा cause नहीं है,

हो नहीं सकता ।....मैं सच कहती हूं सत्य, खुद तुमको समझने में मुझे उस किताब से मदद मिली है। पता नहीं मेरे किस मर्मस्थल को जाकर उसने छू दिया है। मैं खुद नहीं समझ पाती, लेकिन निश्चय ही मेरे भीतर कुछ चीज़ बदली है, कोई चीज़ झरी है और नया कोई बीज गिरा है...अब मैं तुमसे शायद कम झगड़ूं....

सत्य ने चुटकी ली—बड़े एहसान हैं मुझपर जूलियस फूचिक के ! उषा ने अपनी बात के उसी रौ में कहा—मज़ाक़ नहीं सत्य, तुमको घर की ओर से उदासीन देखकर मुझे तुमपर बेइन्तहा खीझ आती रही है। ऐसा नहीं, शायद आगे भी आयेगी, मगर तब भी अब वह बात नहीं होगी ! फूचिक की मूर्ति झट मेरी आंख के आगे आकर खड़ी हो जाती है। खड़ी रहती ही है। फूचिक ने मुझे नई आंखें दी हैं।....मगर तो भी सत्य अभी यह समझना मुझे बाक़ी है कि क्रान्ति के लिए ज़रूरी है घर की ओर से उदासीन रहना, कि मसजिद में तो तुम चिराग़ जलाओ चाहे अपना घर अँधेरे में पड़ा रहे—

सत्य ने कहा—उषी यह तो वहम है तुम्हारा—

उषा ने बहस बचाते हुए कहा—होगा, वहम ही होगा। फिर थोड़ा रुककर कहा—एक बात पूछूं ? सच कहना मेरी बातों से क्या तुमको ऐसा लगता है कि मैं तुम्हें गिरस्ती के जंजाल में फंसाकर मार डालना चाहती हूं। क्या मैं सचमुच इतनी नीच हूं कि तुम अगर अपने किसी साथी के भले के लिए कुछ करके आओ तो मैं इसके लिए तुमसे रार करूं ?! सच्ची सच्ची कह दो बस एक बार....

सत्य ने उषा की ठुड्डी छूते हुए कहा— रानी, तुमको मैं क्या समझता हूं और क्या नहीं समझता, इसके लिए बारबार गंगाजली न उठवाओ तो काम न चले ?!

उषा ने तब भी स्वस्ति न अनुभव करते हुए कहा—देखो फुसलाओ

मत मुझको। तुम दिल में मुझको जरूर ऐसा ही कुछ समझते हो, मगर यह तुम्हारी भूल है। मैं इतनी पतित नहीं हूं....कहते कहते उषा का गला भर आया।

सत्य ने उषा को प्यार से झिड़कते और अपनी ओर खींचते हुए कहा—छी। कैसी बात करती हो तुम!

तभी पास की किसी घड़ी ने एक बजाया था। सत्य ने लिहाफ और गले तक खींचते हुए कहा—बड़ी रात गयी। अब सोना चाहिए उषी।

उषा ने हाथ बढ़ाकर पालने में लेटे हुए अरुण को ठीक से ओढ़ाया और उसके बदन को छूते हुए बोली—बुखार बिलकुल उतर गया मालूम होता है।

दूसरे रोज़ सत्य से न रहा गया और उसने राज की मृत्यु के बारे में उषा को बतला दिया—जितना कुछ उसे प्रमिला से मालूम हुआ था, सब।

पहले तो वह कांपी एक बार, फिर आंखों से आंसू टपटप गिरने लगे। आँसुओं के बीच उषा ने कहा—तुम्हें याद है उस रात जब तुम उनको रिक्शे पर चढ़ाकर आए थे तो तुमने क्या कहा था। तुमने कहा था—उषी, मुझे बड़ा डर लगता है...राज अब उस जगह पर खड़ी है जहां उसका भटक जाना ही स्वाभाविक होगा...मुझे बड़ा डर लगता है उषी।..इसी तरह बड़ी देर तक हम लोग राज की बातें करते रहे थे।....मैं झूठ नहीं कहती सत्य, वैसी भली स्त्री तुम्हें मुश्किल से मिलेगी, सबकी तकलीफ-आराम में साथ देती थी और आराम में चाहे एक बार न भी दे तकलीफ में जरूर देती थी। मैं ऐसे पता नहीं कितने केस जानती हूंगी। औरों की क्या कहूं, खुद मेरे साथ उसने जो जो एहसान किये हैं....

फिर एक साथ ही सत्य और उषा दोनों को ख़याल आया कि उन दोनों को संग लाने वाली राज ही थी, राज ही के यहां दोनों की पहली मुलाकात हुई थी और फिर दोनों को एक दूसरे के पास लाने में राज का कितना हाथ न था ! कितनी मुलाक़ातें उसी ने ठीक की थीं।

इसी तरह राज के सम्बन्ध की तमाम बातें उन दोनों ने सोच डालीं, राज के अनेक चित्र उनकी आँखों के आगे आये और गये। उन तमाम चित्रों के ऊपर था राज का वह सदा का चित्र, वही श्वेत परिधान और श्वेत परिधान में लिपटी हुई वही क्लान्त मुसकराहट, और वही बेबाक खुला हुआ चेहरा और फिर पता नहीं कब उनके देखते देखते वह मुसकराहट बुझ गयी और वह श्वेत परिधान कफन में तबदील हो गया मगर वह चेहरा मौत में भी उतना ही बेबाक रहा जितना ज़िन्दगी में था, सरल जिज्ञासा का वह भाव लिये हुए जिसे मौत भी नहीं पोंछ सकी : मेरा क्या अपराध था जिसका मुझे यह दंड मिला..

२६

सत्य के पास बराबर प्रमिला के खत आते रहे। वीरेन्द्र कैसे डटकर तपेदिक से लड़ता रहा, मगर कैसे उसकी हालत गिरती गई, कैसे उसे सैनेटोरियम का सबसे अनुशासित मरीज होने का पुरस्कार मिला यह सब सत्य को बराबर प्रमिला के खत से मालूम होता रहा। फिर ११ ता० को खत आया कि १४ को वीरेन्द्र पर एक बहुत कठिन आपरेशन किया जायगा, उसके एक फेफड़े को सदा के लिए सुला देना होगा, तभी जाकर उसका जख्म भरेगा। वर्ना जख्म कभी नहीं भरेगा। फेफड़े तक पहुंचने के लिए छः पसलियां काटनी होंगी। दो दो करके तीन बार में पसलियां कटेंगी और तब जाकर आपरेशन पूरा होगा। बड़ा कठिन आपरेशन है। पहले इसके लिए लोग स्विटज़रलैंड जाया करते थे, मगर अब अपने हिन्दोस्तानी डाक्टर भी काफी सफलतापूर्वक यह आपरेशन करने लगे हैं। मगर फिर भी आपरेशन कठिन तो है ही। . . .तो भी वीरेन्द्र को रत्ती भर परीशानी नहीं है, जैसे कोई बात ही न हो। मैंने तो ऐसा आदमी ही नहीं देखा, कभी कभी तो बल्कि मुझे चिढ़ भी आती है आपके इन दोस्त पर। आदमी को इतना भी मज़बूत नहीं होना चाहिए, वर्ना फिर डर लगने लगता है ऐसे आदमी से। वीरेन्द्र के संग भी यही बात है। आदमी के चरित्र में कहीं कुछ कमजोरी भी जरूरी होती है, उसके बिना आदमी जीवित रक्त मांस का आदमी नहीं मालूम होता, कुछ ऐब्स्ट्रेक्शन जैसा हो जाता है and I have a terror of abstractions!

सत्यबाबू आप यक़ीन नहीं करेंगे, तीन दिन बाद यह आपरेशन है और वीरेन्द्र के माथे पर एक शिकन नहीं है न उनकी किसी बात से पता चलता है कि उनको इसकी हलकी सी भी कोई परीशानी है....

इसके जवाब में सत्य ने बस इतना लिखा—मैं अपने वीरेन्द्र भाई को अच्छी तरह जानता हूं। उनके लिए कुछ भी कठिन नहीं। और उनकी वह मुसकराहट, that stubborn smile, which, I am sure, even death will not vanquish. आपरेशन टेबुल पर आख़िरी मिनट तक तो वह अलग न होगी, देख लीजियेगा....आपरेशन का हाल फ़ौरन लिखियेगा।

१४ तारीख की ही लिखी हुई प्रमिला की चिट्ठी उसे मिली : आपरेशन पूरी तरह सफल रहा...आपरेशन के बाद होश आने के साथ साथ उनके चेहरे पर मुसकराहट आई....आपरेशन के ठीक पहले थोड़ी देर को उनके चेहरे पर घबराहट जरूर आ गयी थी, मगर उन्होंने उस पर काबू पा लिया। वीरेन्द्र के मन की ऐसी प्रबलता देखकर डाक्टर खुद दंग है।...चलो, एक तो खैरियत से खत्म हुआ।

एक ही नहीं तीनों खैरियत से खत्म हुए।

मगर इन्हीं दिनों इस आपरेशन के अलावा एक और इम्तहान के बीच से वीरेन्द्र गुज़र रहा था। उसके बारे में प्रमिला ने कभी कुछ नहीं लिखा। उसके बारे में लिखा खुद वीरेन्द्र ने :

.....डाक्टर ने मुझे ज़रा सा भी स्ट्रेन करने को मना किया है लेकिन मेरे दिल और दिमाग़ पर जो स्ट्रेन है उसका हाल तो डाक्टर को नहीं मालूम। ....सत्य, वह बात यह है कि प्रमिला को मुझसे प्रेम हो गया है। है न दिल्लगी की बात ? मगर क्या करोगे,

प्रमिला हुई ऐसी पागल लड़की।.....मैं तुमसे क्या बताऊं सत्य, बहुत ही पागल लड़की है प्रमिला। जिस दिन मेरा थौरोकोप्लास्टी का पहला आपरेशन होने वाला था, उसके अगले रोज़ वह मुझसे क्या कहती है कि मैं आपसे शादी करूंगी। पहले तो मेरी समझ ही में नहीं आया कि यह बात क्या हुई। मैंने ज़रूर बेवकूफ की तरह उसको देखा होगा क्योंकि प्रमिला ने अपनी बात दुहराई, कहा—मैं आपसे शादी करना चाहती हूं।....स्वर बिलकुल निष्कंप था। मैंने मन में कहा—खिलवाड़ में नहीं कह रही है...तब तो मुझपर जैसे बिजली सी गिरी: यह क्या कह रही है? इसका सिर तो नहीं फिर गया है? यह बात इसको सूझी तो कैसे? प्रमिला की बात पर मेरा एक मन तो यह करता था कि खूब जोर से ठठाकर हँसूं, दूसरा मन यह करता था कि चार तमाचे लगाकर उसे लखनऊ भेज दूं और तीसरा मन करता था कि उसका सिर अपनी बांहों में लेकर उसे छाती से लगा लूं.... जो प्यार प्रतिदान भी न मांगता हो, उसके आगे तो आदमी और भी निरस्त्र हो जाता है.....

मैंने कहा—यह तुम्हें हो क्या गया है?

प्रमिला ने कहा—कुछ भी तो नहीं। मैं बिलकुल सही दिमाग़ में बात कर रही हूं। मुझे कुछ भी नहीं हुआ है।

मैंने अब की ज़रा कठोर स्वर में कहा—सही दिमाग़ के लोग ऐसी बातें नहीं किया करते।..मुझसे शादी?! कौन कहेगा कि तुम्हारा दिमाग सही हालत में है?! और जब तुम्हें भी मालूम है कि कल ही मेरा एक मेजर आपरेशन होने वाला है।

प्रमिला ने कहा—इसीलिए तो मैं चाहती हूं कि आज ही—

मैंने कहा—और अगर कल मुझे कुछ हो गया?

प्रमिला ने कहा—हो आपके दुश्मनों को। आपको क्यों कुछ होगा?

मैंने कहा—मान लो।

प्रमिला ने कहा—क्यों मान लूं।

तब मैंने पैतरा बदला—तब फिर आज ही क्यों ? मुझे ठीक हो लेने दो.....

अब तो प्रमिला बड़ी खफीफ हुई क्योंकि असल बात यह थी कि वह उसी रोज़ सब कुछ तय-तमाम कर डालना चाहती थी, इसीलिए कि कुछ ठीक नहीं था दूसरे रोज़ क्या हो। और इसीलिए मैं प्रमिला के हठ को और भी नहीं समझ पाया। मैंने सीधे सीधे उससे कहा—देखो प्रमिला, झूठ मत बोलो। प्यार में झूठ के लिए कोई जगह नहीं होती। मैं जानता हूं और तुम भी जानती हो कि तुम आज ही मेरे सामने शादी का प्रस्ताव इसलिए रख रही हो कि कल को कौन जाने मैं रहूं रहूं न रहूं !

प्रमिला ने झपटकर मेरे मुंह पर हाथ रख दिया और बोली—कैसी अशुभ बात मुंह से निकालते हैं !

—मैं पूछता हूं प्रमिला यह खयाल ही तुम्हारे दिल में कैसे आया ? मुझसे शादी करके तुम्हें क्या मिलेगा ? लाओ अपना हाथ तो दिखाओ—लगता है दिल के सौदे में धोखा खाना ही तुम्हारे भाग्य में लिखा है। पहले तुम आफत की मारी जा टकराईं उस मरदूद बालकृष्ण से—और अब तुम्हें मुहब्बत सूझी है एक लाश से !

प्रमिला ने कहा—फिर वही बात !

मैंने प्रमिला को मनाने के अन्दाज़ में कहा—तुम चिढ़ती हो तो जाओ मैं नहीं कहता। नाराज़ मत हो इतना। तुम कम्युनिस्ट हो प्रमिला, इतना अनरियलिस्टिक नहीं होना चाहिए तुमको। भला मुझसे शादी करके तुमको क्या मिलेगा ? जाओ किसी अच्छे जवान तन्दुरुस्त नेक आदमी से शादी करो, अपना घर बसाओ, तुम्हारे सुख

की राह वह है।

—और आपके ?

—मेरा सुख तो अब मौत के साथ इस संघर्ष में है प्रमिला....और तुम लोगों के सुख में....कितनी खुशी न होगी मुझे तुम्हारा बसा हुआ घर देखकर !....मैं यहां लेटा-लेटा इन्तजार करता रहूंगा कि तुम एक रोज़ एक बड़ी सुहानी सुनहरी सुबह एक सुन्दर स्वस्थ आदमी को लेकर मुझे देखने आओगी और कहोगी—इनसे मिलो वीरेन्द्र, यह हैं मेरे पति। अभी कल ही तो हमारी शादी हुई है... कहां तो मेरी आंखें राह देख रही हैं उस आदमी की और कहां तुम एक गरीब, बीमार, मरते हुए आदमी को मेरे सामने पेश करती हो और चाहती हो कि मैं इस संबन्ध को 'क्लेस' कर दूं। नहीं प्रमिला वह मुझसे नहीं होगा।

प्रमिला ने कहा—लेकिन अगर मुझे यही गरीब, बीमार, मरता हुआ आदमी चाहिए तो ?!

—तो फिर मुझे मजबूर होकर तुम्हें किसी पागलखाने में भरती करना पड़ेगा....

प्रमिला ने कहा—वीरेन्द्र, मैंने एक बार पांसा फेंका, वह बुरी तरह गलत पड़ा। अब दूसरी बार पांसा फेंकने की हिम्मत मुझमें नहीं है। इसलिए अब मैं ऐसे की हो जाना चाहती हूं जिसे मैंने ठोंक बजाकर देख लिया है.......

—यही तो बात है। ठोंक-बजाकर तुमने देखा कहां ! ठोंकतीं बजातीं तो तुम्हें घड़े की पेंदी के उस छेद का भी पता चल ही जाता जिससे सारा पानी धीरे-धीरे करके चू जायगा और घड़ा रीता रह जायगा।

—आप मेरी फिक्र छोड़ दीजिए। मैं बच्चा नहीं हूं। मैं जानती हूं मैं क्या करने जा रही हूं।

—तुम कुछ नहीं करने जा रही हो। This is stark lunacy. I won't have it.

—मैं तुमसे और कुछ नहीं मांगती। मैं बस तुम्हारा नाम अपने संग जोड़ना चाहती हूँ। इसके लिए भी इनकार कर दोगे?

—हां! क्योंकि मैं तुम्हारा जेलर नहीं बनना चाहता, मैं अपने नाम की जंजीर को तुम्हें नहीं जकड़ने दूंगा—भले उसके प्रति तुम्हारा कितना ही मोह क्यों न हो...पर यह तुम्हें हो क्या गया है प्रमिला? जरूर तुम्हारे दिमाग में फितूर आ गया है! Phew! I never associated this sentimental stuff with you.

प्रमिला ने जैसे रुआंसे से स्वर में कहा—मुझे तुम्हारा शरीर नहीं चाहिए वीरेन्द्र। क्या शरीर के बिना प्रेम नहीं हो सकता? मैं सच कहती हूं मैं इस बीमार वीरेन्द्र को नहीं, उस अग्निशिखा को चाहती हूं जो कि तुम्हारे अन्दर है, जो कि तुम हो....

मुझे अब गुस्सा आ गया। मैंने कहा—प्रमिला, I am not used to this baby talk. कहीं कोई अग्निशिखा-वग्निशिखा नहीं है, और जो है इन दो सांसों का प्राण है, कौन जाने कल ही बुझ बुझाकर खत्म हो जाये! कह नहीं सकता, मुमकिन है न भी हो। मगर कौन कहे कि क्या होगा और क्या नहीं होगा। तुम कह सकती हो? ....और प्रमिला दुनिया में कोई प्यार ऐसा नहीं है जो शरीर का एकदम तिरस्कार करके चल सके। बाप-बेटे तक के प्यार में शरीर को दखल होता है—यह छूना-छाना, नोचना-बकोटना, चूमना-चाटना और क्या है। और शरीर का तिरस्कार मान लो तुम कर भी दो तो क्या प्राणों का तिरस्कार भी कर सकोगी? और यहां तो प्राणों की अग्निशिखा ही स्याह आंधी के झोंकों में कांप रही है प्रमिला...हां अगर तुम्हारा प्रेम प्राणों का तिरस्कार भी कर सकता है तो इसका तो

मतलब है कि तुम्हें मुझसे नहीं किसी apparition से प्रेम है जिसे तुमने खामखा मेरा नाम दे दिया है और अगर ऐसी बात हो तो फिर उसे विवाह आदि संबन्धों की क्या ज़रूरत ! वह तो दूसरे ही धरातल की चीज़ है—वह तो प्रेत आत्माओं का मिलन है ।

प्रमिला ने फिर कुछ कहने के लिए मुंह खोला तो मैंने ज़ोर से उसे डांट दिया—बस अब बन्द करो प्रमिला, बहुत हो चुका यह मज़ाक । मैं तुम्हें हरगिज़ एक लाश से शादी नहीं करने दूंगा, खास करके जब वह लाश मैं ही हूं । . . . और मुझमें कोई अग्निशिखा-वग्निशिखा नहीं है । यह सब फिजूल की बकवास है । और जो है, वह मुझमें भी है तुममें भी है , सत्य में भी है, वह अग्निशिखा तो पार्टी है, क्रान्तिकारी आन्दोलन है . . .

सत्य, मेरी डांट खाकर प्रमिला चुप हो रही लेकिन तबसे मुझे बराबर बुरा लग रहा है कि मैं उससे इस जंगली तरह क्यों पेश आया । तुम जानते हो, मुझे कभी गुस्सा नहीं आता । फिर उसी रोज़ कैसे आ गया । ज़रूर मैं बहुत कमज़ोर हो गया हूं . . . . .

मेरा आपरेशन सफल रहा । उसके बारे में तो प्रमिला ने तुम्हें लिखा ही होगा । मगर उसके संबन्ध में एक बात प्रमिला ने न लिखी होगी क्योंकि उसे उसका पता नहीं । आपरेशन की सफलता का एक बड़ा कारण मेरे अन्दर की शक्ति है जिसमें प्रमिला के प्यार ने चौगुना इज़ाफा कर दिया ।

सत्य, तुमको प्यार की शक्ति के बारे में लिखने की जरूरत नहीं । प्यार में कितनी विराट् शक्ति होती है, यह मैंने इन्हीं दिनों आकर जाना......प्रमिला को मेरी यह बात नहीं मालूम । वह तो बस इतना जानती है कि मैं उससे नाखुश हूं । पागल लड़की, उसे

क्या पता। तुम्हीं बताओ मैं कैसे उसकी जिन्दगी की हरी-भरी फुलवारी को उजाड़ना मंजूर कर लूँ ? Murder may suit me for a while ; but can I for that reason murder anyone ? मैं कभी न कर सकूँगा। If I ever did it, I should begin to loathe myself. Yes, my conscience--where shall I tuck it away ?| No. No. No. It is a radiant young life, I should never never agree to inject it with my bacteria of death !......

३०

सत्य के मन की बनावट कुछ ऐसी है कि जल्दी पता नहीं चलता कि वह कब और कैसे कोई असर कबूल करती है, किसी से कभी कोई असर क़बूल करता भी है या नहीं, यह भी पता नहीं चलता। मगर असलियत यह है कि अपने खास तरीके से सत्य अपने आस-पास के तमाम असरों को क़बूल करता है। मगर उसमें उतनी तेजी शायद नहीं होती, उसका तरीका शायद कुछ धीमा है, उसके दिल और दिमाग की चलनी के छेद शायद बहुत छोटे हैं इसलिए चीज़ को छनकर नीचे पहुंचने में कुछ देर लगती है। इसीलिए बहुत बार खुद सत्य को पता नहीं चलता कि किसी बात का उसपर असर क्या हुआ!

ज़ाहिरा तो भुवाली यात्रा का कोई असर सत्य पर नहीं हुआ, मगर असल में जब वह वहां से लौटा तो उसने अपने खून में एक नयी ही गर्मी महसूस की, एक नयी ही ताजगी जैसे भुवाली के सारे चीड़ के दरख्तों की महक उसके फेफड़ों में भर उठी हो। इतने वर्षों के बाद फिर वीरेन्द्र से मिलकर उसने अपने अन्दर बड़ी ताक़त महसूस की। जेल के अन्दर भी वीरेन्द्र का ऐसा ही एलेक्ट्रिक असर उसके ऊपर हुआ था और इस बार दिक़ की गँठीली उंगलियों के शिकंजे में गिरफ्तार वीरेन्द्र का भी वैसा ही असर हुआ। मौत को चुनौती देने वाले उसके शान्त साहस और उद्दाम जीवन-लालसा, जनक्रान्ति में उसकी गहरी निष्ठा, उसके आडम्बरमुक्त स्नेह—इन सबसे ही तो बना था वीरेन्द्र का व्यक्तित्व।

ऐसे व्यक्तित्व का असर न पड़ना ही अस्वाभाविक होता और फिर प्रमिला, उसकी जिन्दगी का दर्द और फिर उस दर्द के ऊपर उसकी जीत, एक जीवन आदर्श के सहारे—यह क्या कोई छोटी बात है। दर्द में से ही जब इन्सान की तरह जीने की कोई तदबीर निकल आती है तो बात कहां से कहां पहुंच जाती है! कितना निखार दिया है इस चीज़ ने प्रमिला को, जैसे मिलावट सब क्षार हो गयी हो और दमकता हुआ कुंदन निकल आया हो! जिन्दगी के और सारे नाते-रिश्ते खत्म करके अब उसने बस नई जिन्दगी से अपना अकेला नाता जोड़ लिया है और तकलीफों के बीच भी सुखी रहने का ढंग पा लिया है। यही चीज अगर राज को मिल गई होती..मगर मिलती कैसे, वह भी क्या कोई राह में पड़ा हुआ अधेला है जो यों ही मिल जाता है?! उसको पाना तो खुद एक साधना है, बहुत सी अग्नि-परीक्षाओं के बीच से गुज़रना है और इसीलिए राज को वह चीज़ नहीं मिली क्योंकि वह सूत जो उसे जिन्दगी के संग जोड़े हुए था, कच्चा था, कमज़ोर था और वहां ज़रूरत थी चीमड़ तांत की।..

भुवाली से लौटकर सत्य के अन्दर जो तेज़ी आयी थी, उसको उषा ने भी लक्ष्य किया। एक रोज़ मुसकराते हुए बोली—देखती हूं घर के अन्दर अब फिर तुम्हारे पैर नहीं टिकते, दौड़ धूप बहुत बढ़ गयी है!

सत्य ने भी मुसकराकर जवाब दिया—पहाड़ का असर है..पहाड़ से मेरे स्वास्थ्य को बहुत फायदा पहुंचा है....

उषा ने कहा—तीन ही रोज़ में कायाकल्प हो गया!

सत्य ने कहा—रानी, तीन रोज तो बहुत होते हैं, कभी कभी तीन सिकेन्ड भी कायाकल्प के लिए काफी होते हैं!

उषा ने कहा—लगता है उस प्रमिला से तुम्हारी लाग-डांट हो गई!

सत्य ने कहा—नहीं लाग-डांट की तो कोई बात नहीं। एक ही तो जीवन मिलता है रानी, दौड़-धूप के लिए, उसके बाद तो अनन्त विश्राम।......उसमें भी अगर आदमी अपने हाथ-पैर दिल-दिमाग को बहुत संभालकर संभालकर सूम की तरह (जो किसी को पैसा भी देता है तो अँगूठे से मींजकर) खर्च करे तो सब में जंग लग जाता है। मरने के बाद आदमी अपने काम से ही याद किया जाता है, कि उसने अपने देश और समाज के लिए क्या किया.....

उषा ने चुटकी ली—अच्छा तो शेख जी अपनी आक़बत सुधार रहे हैं?

सत्य ने कहा—देखो अब ज्यादा शरारत करोगी तो पिटोगी मेरे हाथ से ··

उषा ने कहा—सुनो तुम एक बार अपनी प्रमिला को यहां बुलाओ न, मैं भी तो एक नज़र देख लूं ....

सत्य ने कहा—शेक्सपियर ने ठीक कहा है Jealousy thy name is woman.

उषा ने कहा—तुमने शायद संशोधित संस्करण से पढ़ा है! मैंने पढ़ा था: Frailty, thy name is woman. मगर तब प्रमिला न थी वर्ना शायद शेक्सपियर यह बात न लिखता!—कहकर उषा मुसकराई।

सत्य ने कहा—क्या मामला है भई, आज बड़े form में हो!

सत्य ने तेजी से घर में घुसते हुए कहा—बड़ा ग़ज़ब हो गया उषा।

उषा ने कहा—क्यों क्या हुआ?

—सुना है यहीं नैनीजेल में लाठीचार्ज किया गया है ?

—किस पर ?

—हमारे साथियों पर, और नहीं क्या खूनियों डकैतों पर !

—क्यों बात क्या हुई ?

—पूरी बात तो कल मालूम होगी...मगर पता चला है कि अमूल्य को बहुत सख्त चोट आयी है। सर फट गया है। बचने की उम्मीद कम है।

—अच्छा !

—हां।....मगर यह उड़ती-उड़ती खबर है। पार्टी दफ्तर में, सुनी....रात काफी जा चुकी है पर जरा जाऊं प्रफुल्लबाबू के यहां, मुमकिन है अब तक उनके पास और कुछ खबर आयी हो।....

जाकर बस लौटना हाथ लगा। उस वक्त और खबर नहीं मिली। और खबर मिली दूसरे रोज जब आठ बजे सबेरे सत्य प्रफुल्लबाबू के यहां पहुँचा। खबर लाने वाला आकर जा चुका था और जेल कमेटी का खत भी आग की नजर किया जा चुका था।

जाड़ा गर्मी बरसात हर मौसम में प्रफुल्लबाबू सबेरे ही नहा लेने के आदी हैं। कहते हैं इससे आयु बढ़ती है। यों बढ़ती हो चाहे न बढ़ती हो, अगर आयु का मतलब यही लें कि अपनी जिन्दगी का कितना हिस्सा आपने किसी मसरफ में लगाया और कितना गुल्ली-गबाड़ी में बरबाद किया तो निश्चय ही सबेरे नहा लेने से आयु बढ़ती है क्योंकि दिन जल्दी शुरू हो जाता है और आदमी दिन भर में ज्यादा काम कर लेता है यानी जीवन को ज्यादा सक्रिय रूप में जीता है और वही तो असल आयु का बढ़ना है। और अगर किसी की जिन्दगी बेमसरफ है तो फिर वह क्या पचास बरस क्या पांच सौ बरस, सब बराबर है....

आज भी प्रफुल्लबाबू हस्बमामूल नहा धोकर बाक़ायदा कंघी-कंघी करके आरामकुर्सी में लेटे कोई किताब पढ़ रहे थे। वह किताब में ध्यान निविष्ट करने के लिए अपने आप से बाक़ायदा कुश्ती लड़ रहे थे क्योंकि जबसे जेल का आदमी आकर गया था, उनकी आंखों के आगे जेल का दृश्य आ आकर खड़ा हो जाता था, कितना ही उसको झटक कर दूर करने की कोशिश करते थे ढीठ मक्खी की तरह वह दूर होता ही न था। और जेल का जो दृश्य उनकी आंखों के आगे खड़ा होता था उसकी भी दो शक्लें थीं—एक तो कुछ हिम्मती नौजवान जेल के भीतर आत्मरक्षा में पुलिस से लड़ते हुए और दूसर पहले के ऊपर Super-imposed, एक बहुत बड़ा सा लहू-ल लुहान सिर, अमूल्य का सिर, उनके बेटे उनके 'खोखा' का बड़ा सा लहूलुहान सिर, उनके खोखा का जो इधर कई बरस से उनका पुत्र नहीं सबसे अन्तरंग मित्र था, पुलिस की लाठी से फटा हुआ खोखा का सिर....प्रफुल्लबाबू का मन अत्यन्त उद्विग्न था और वे किताब की मदद से उस उद्वेग को शान्त करने के लिए अपने आप से संग्राम कर रहे थे। पर इस समय यह उद्वेग उनके संन्यासी मन पर भारी पड़ रहा था और उन्हें बारबार अपना काली डंडी का मोटा चश्मा उतारकर अपने कुर्ते के दामन से पोंछना पड़ता था....आज पता नहीं क्यों उनका चश्मा पसीज रहा था....

सत्य कमरे में दाखिल हुआ तो प्रफुल्लबाबू कुर्ते के दामन से चश्मे को पोंछकर नाक पर चढ़ा ही रहे थे। सत्य दबे पांव चुपके से आकर तख्त पर बैठ गया। धीमे से बोला—दादा, और कोई खबर आई?

प्रफुल्लबाबू चौंक गये: तुम? कब आये?

—देखा नहीं आपने, अभी तो आकर बैठा हूं।

—अच्छा....तुमने कुछ पूछा था?....

—हां, और कुछ खबर आई ?

प्रफुल्लबाबू ने बाहर बरामदे की तरफ उंगली से इशारा करते हुए कहा—ज़रा धीमे बोलो....

सत्य ने वहीं से देखा अमूल्य की मां बैठी चंचला को दूध-रोटी खिला रही थीं।

प्रफुल्लबाबू ने कहा—अमूल्य की मां को मैंने अभी कुछ नहीं बतलाया है। बतलाना तो होगा, बतलाऊंगा, पर जरा रुककर, सह नहीं सकेगी बेचारी। तुम तो जानते हो, मां का दिल....यों भी तो उसका हार्ट वीक है।....कहते हुए प्रफुल्लबाबू ने उठकर दरवाज़ा ओढ़काया, नाक साफ की और सत्य के चेहरे की व्यग्रता को पढ़ते हुए बोले—बतलाता हूं, बतलाता हूं। अभी तो गया है वह आदमी, घंटा भर भी नहीं हुआ होगा...सबको बहुत पिटाई पड़ी है सत्य, कई को बहुत चोट आई है, खोखा का सिर खुल गया है। वह खबर बिलकुल सही है।

—किस बात पर हुआ, यह कुछ पता चला ?

—बात तो कुछ भी नहीं थी। बहुत छोटी सी बात थी। जेलवाले इधर हफ्तों से बहुत खराब राशन दे रहे थे, एकदम सड़ा हुआ आटा और चावल ऐसा कि कहना मुश्किल चावल में कंकड़ है या कंकड़ में चावल ! जेलकमेटी ने कई बार एतराज़ किया, सुपरिन्टेन्डेन्ट को खबर भेजी कि आजकल बहुत खराब राशन आ रहा है, लोग खा खाकर बीमार पड़ रहे हैं, हम ऐसा राशन नहीं लेंगे.....कौन सुनता है, सब कान में तेल डाले पड़े रहे...एक बार दो बार तीन बार चार बार कितनी बार शिकायत न की होगी क़ैदियों ने..खुद यह जेल का सिपाही कह रहा था....कोई सुनवाई नहीं हुई और होती भी कैसे, यह सुपरिन्टे-न्डेन्ट भी तो एक दागी आदमी है, पता नहीं बरेली जेल में कितने

कैदियों का हाथ-पैर तोड़कर यहां आया है....गरज़ जब किसी ने बात नहीं सुनी और लोग बीमार पड़ने लगे और जो बीमार पड़े उनकी दवा-दारू की भी रत्ती भर व्यवस्था नहीं की गई तो फिर अगत्या जेल कमेटी को बग़ावत का झंडा उठाना पड़ा....और जेल के अन्दर तो जानते ही हो बग़ावत का मतलब होता है No lock up...वही कल शाम को क़ैदियों ने No lock up का एलान किया और बस फिर क्या था, इसी का तो इन्तज़ार था हलीम को, शुरू हो गई पिटाई, घंटे भर तक हुआ लाठीचार्ज, रूई की तरह धुनकर रख दिया। यह आदमी कह रहा था कई को सख्त चोटें लगी हैं। पता नहीं अमूल्य अब कैसा है ?....कहानी खतम करते करते प्रफुल्लबाबू का चश्मा फिर पसीज उठा था और वह कुर्ते के दामन से उसे पोंछ रहे थे।

तभी किसी भारी शरीर के ज़मीन पर गिरने की आवाज़ आई। प्रफुल्लबाबू उठकर अन्दर भागे। अमूल्य की मां फर्श पर बेहोश पड़ी थीं। प्रफुल्लबाबू ने दौड़कर बाल्टी से पानी लिया और अमूल्य की मां के मुंह पर उसके छींटे मारने लगे। सत्य ने झपटकर एक बंगला पत्रिका उठा ली और उससे हवा करने लगा।

कोई दो मिनट बाद उन्होंने आंख खोल दी मगर उठ नहीं सकीं, अस्पष्ट बुदबुदायीं—ओरा आमार खोखार माथा भेंगे दियेछे...तुमि आमा के बोलो नि....तुमि आमाके बोलो नि अथच आमि शब शुने नियेछि....ओरा आमा खोखार माथा भेंगे दियेछे। (उन्होंने मेरे खोखा का सिर तोड़ दिया है। तुमने मुझको नहीं बतलाया पर मैंने सब सुन लिया है। उन्होंने मेरे खोखा का सिर तोड़ दिया है !)

प्रफुल्लबाबू ने सान्त्वना देते हुए कहा—चुप कोरे शुये थेको। किच्छू हय नि, शब ठीक होये जाबे। (चुपचाप लेटी रहो, कुछ नहीं हुआ। सब ठीक हो जायगा।)

फिर सत्य की ओर मुड़ते हुए बोले—उषा को यहां आने के लिए कह देना। दिन भर यहीं रहेगी, अमूल्य की मां के पास। मेरा रहना ज़्यादा ठीक होता क्योंकि मैं जानती हूं कब क्या करना होता है। लेकिन आज मैं नहीं रह सकूंगा। हम लोग अभी मजिस्ट्रेट के यहां चलेंगे। मैं कहूंगा कि मैंने सुना है जेल में लाठीचार्ज हुआ है जिसमें मेरे लड़के अमूल्य बनर्जी का सिर फट गया है, मैं उसे देखना चाहता हूं, मुझे जेल के अन्दर जाने की इजाज़त दीजिये——मजिस्ट्रेट के यहां हमारा जाना बहुत ज़रूरी है इसलिए तुम अभी घर जाओ। और उषा को संग लेकर लौट आओ। फिर हम लोग मजिस्ट्रेट के यहां चलते हैं, दो माएं भी हमारे संग चलेंगी, मैंने उन्हें ख़बर करवा दी है—

मजिस्ट्रेट के यहां बैठे बैठे इन चार जनों को तीन घंटा हो गया मगर मजिस्ट्रेट साहब के हुजूर में इन्हें नहीं पेश किया गया। इनके बाद बीसियों लोग आते गये और मजिस्ट्रेट साहब से मिलते गये, मगर इनका नम्बर नहीं आया। ये तो बस अपने नाम भेजकर बैठे रहे, कुढ़ते रहे, झींखते रहे, झींखते रहे, कुढ़ते रहे, बैठे रहे और अब वह नौबत आ गयी थी कि सत्य ने ज़बरदस्ती मजिस्ट्रेट साहब के सामने पहुंचने का फैसला किया। वह न बुलाते हों तो न बुलायें मगर हमें तो उनसे मिलना है और हम मिलेंगे! वह हमसे मिलना नहीं चाहते हैं इसलिए नहीं बुलाते, मगर हमको तो उनसे मिलना है इसलिए हम तो मिलेंगे ही। इस फैसले को सत्य और प्रफुल्ल अमल में लाने ही वाले थे जब मजिस्ट्रेट साहब अपने कमरे से निकलकर बरामदे में आ खड़े हुए और इन लोगों को बुलवाया।

ये लोग चार सीढ़ी नीचे पोर्टिको में खड़े रहे और वह चार सीढ़ी ऊपर बरामदे में खड़ा रहा, थोड़ी अकड़ और ज़्यादा अकड़फूं के साथ,

हिटलर के गुटका संस्करण की मुद्रा में।

जैसे जानबूझकर अपमानित करने के लिए मजिस्ट्रेट बड़े उद्धत स्वर में बोला—कहिए कैसे आए आप लोग?

सत्य ने जवाब तलब करने के स्वर में कहा—हमने सुना है कि कल शाम आपने जेल में लाठी चार्ज करवाया है। क्या यह बात ठीक है?

मजिस्ट्रेट ने कहा—मैं आपके सवाल का जवाब देने के लिए मजबूर नहीं हूं....

सत्य ने कहा—लाठीचार्ज हुआ या नहीं हुआ, हम जानना चाहते हैं।

मजिस्ट्रेट ने कहा—लाठीचार्ज हुआ या नहीं हुआ इससे आपको क्या बहस? सरकारी बयान कल के अखबार में पढ़ लीजिएगा, मैंने रिपोर्टरों को बुलाकर कह दिया है....

प्रफुल्लबाबू बोले—रिपोर्टरों को बुलाकर आपने उनसे क्या कहा और क्या नहीं कहा, यह बाद की बात है। जब हम आपने आमने-सामने पूछ रहे हैं कि कल शाम नैनी जेल में लाठीचार्ज हुआ या नहीं हुआ तो आप हमको जवाब क्यों नहीं देते? जवाब तो आपको देना होगा, इसी के लिए हम साढ़े तीन घंटे से भूखे-प्यासे बैठे हैं...जब आपके सब मिलने जुलने वाले खत्म हो गये तब आपने हमें दर्शन दिया और अब भी आप हमें जवाब नहीं देंगे! जवाब आपको देना होगा, चाहे फिर आप यही कहिए कि लाठीचार्ज नहीं किया गया है—

प्रफुल्लबाबू के तेवर देखकर मजिस्ट्रेट सिटपिटा गया। यहां बँदर-भभकी नहीं चलेगी। जवाब देना होगा। यह खयाल करके उसने कहा—यह सही है हमको हलका सा लाठीचार्ज करना पड़ा। क़ैदी बग़ावत पर आमादा थे, उन्होंने बंद होने से इनकार कर दिया था। अब कहिये आपको क्या कहना है?

प्रफुल्लबाबू ने कहा—हमने सुना है बहुत सख्त लाठीचार्ज किया गया है और कई डेटेन्यूज़ को गहरी चोटें आई हैं। मैंने सुना है मेरे लड़के अमूल्य बैनर्जी का सिर फट गया है। मैं उसको देखना चाहता हूं।

मजिस्ट्रेट ने कहा—अच्छा ऽऽ, तो अमूल्य बैनर्जी आपका लड़का है? वही तो रिंगलीडर था!

प्रफुल्लबाबू ने कहा—आपकी राय हमें नहीं चाहिए, मैं अपने लड़के को देखना चाहता हूं। आप मुझे जेल में जाने की इजाज़त दीजिए।

मजिस्ट्रेट ने कहा—यह नहीं हो सकता। क़ायदा नहीं है।

प्रफुल्लबाबू ने प्रायः चीखते हुए कहा—जेल के अन्दर पोलिटिकल्स पर लाठीचार्ज करने का क़ायदा है, और मां बाप को अपने ज़ख्मी बेटे को देखने का क़ायदा नहीं है?!

मजिस्ट्रेट ने भी अपने स्वर को चढ़ाते हुए कहा—मैंने कह दिया यह नहीं हो सकता। आपको और कुछ कहना है?....

और फिर बग़ैर एक मिनट रुके वह अन्दर चला गया।

इस तरह मजिस्ट्रेट के संग मुलाक़ात खतम हुई।

प्रफुल्लबाबू के गुस्से का ठिकाना नहीं था—शेर को गोली लगने पर उसका जो हाल होता है। सत्य ने इसके पहले कभी प्रफुल्लबाबू को गुस्से में नहीं देखा था। उनका गौर मुखमंडल तमतमा गया था, नथने फूल गये थे और आंख में एक भयानक, ठंडी, सान पर रखे हुए छुरे जैसी चमक थी।

रास्ते में ही प्रफुल्लबाबू बोले—तुम्हें पता है न, आज शाम को एक मीटिंग है?....मैंने तुम्हें शायद बताया नहीं, क़ैदियों ने इस लाठीचार्ज

के खिलाफ प्रोटेस्ट में भूख हड़ताल भी कर दी है.....

सत्य ने कहा—तब तो मामला और भी तूल पकड़ेगा।

प्रफुल्लबाबू ने कहा—पकड़ने दो तूल! एक बार पकड़ ले जितना तूल पकड़ना हो। बहुत घुटन भी अच्छी नहीं।

फिर थोड़ी देर खामोशी रही। दोनों रिक्शे आगे पीछे चल रहे थे। एक में दोनों महिलाएं थीं और एक में ये दोनों।

प्रफुल्लबाबू अन्दर ही अन्दर खौल रहे थे। ब्लडप्रेशर बहुत बढ़ने पर डाक्टर कोई रग खोलकर कुछ खून निकाल देते हैं और ब्लडप्रेशर गिर जाता है। काश कि ऐसी कोई रग होती जिसे खोलकर प्रफुल्लबाबू का गुस्सा कम किया जा सकता! लेकिन अगर होती भी तो क्या तुम उस बाप का गुस्सा कम कर सकते हो जिसके बेटे को जेल के अन्दर लाठियों से कूंचा गया है?!

घर पहुंचकर सत्य ने और प्रफुल्लबाबू ने देखा कि उषा अमूल्य की मां के माथे पर गीली पट्टी रख उन्हें पंखा झल रही है। और अमूल्य की मां अस्पष्ट बुदबुदाहट के स्वर में, उखड़े-पुखड़े स्वर में कोई कहानी सुना रही है। अपने बेटों के बचपन के संस्मरण जिससे अमूल्य अक्षय-निधि मां के पास दूसरी नहीं होती, किसी भी मां के पास चाहे वह गोरी हो, काली हो, लाल हो, पीली हो.....

प्रफुल्लबाबू ने मुसकराते हुए कहा—तुम तो चार ही घंटों में सब कुछ सीख गयीं, बेटी।

उषा ने कहा—कुछ तो नहीं, और उठने लगी।

प्रफुल्लबाबू ने कहा—बैठी रहो, बैठी रहो। हम लोग यहां बाहर के कमरे में बैठेंगे।

बाहर के कमरे में आने के साथ ही प्रफुल्लबाबू ने विक्षिप्त की तरह

सत्य को पकड़कर छाती से लगा लिया और कुछ देर वैसे ही उसे छाती से चिपकाए खड़े रहे। सत्य ने गरमगरम आंसू की दो बूंदें अपनी गर्दन पर महसूस कीं.....फिर उसे वैसे ही झटककर अलग करते हुए, चोट खाए हुए पिता का अचल रोष आंखों में भरे प्रफुल्ल-बाबू ने कहा—सत्य, उन्होंने मेरे खोखा के सिर से खून गिराया है... तुम मेरे बेटे हो सत्य...अमूल्य की मां तुम्हारी मां है।...

सत्य ने कहा—मैं जानता हूं दादा।

प्रफुल्लबाबू ने कहा—नहीं तुम नहीं जानते....तुम जो कुछ जानते हो वह नहीं....मैं तुमसे आज एक भीख मांग रहा हूं पर वह भीख नहीं पिता का अधिकार है ...आज शाम की मीटिंग में तुम नहीं बोलोगे, आज मुझे बोलने दो... Let me shoot today.

सत्य ने आपत्ति की—दादा, सब बड़े revengeful हो रहे हैं... देखा नहीं मजिस्ट्रेट ने अभी हमसे किस तरह बातें कीं....आपका बोलना ठीक नहीं होगा...मां की तबीयत का हाल आप देख ही रहे हैं और अब इस उम्र में आपका...

प्रफुल्लबाबू ने आहत होते हुए कहा—मेरी उम्र की फिक्र मत करो सत्य। मैं अभी मरा नहीं हूं। मैं अभी बहुत जिन्दा हूं और सत्य, तुम अभी बच्चे हो....तुम्हारे अरुण के सिर से जब खून गिरेगा तब तुम मेरी बात को समझोगे....लड़ाई में घायल बेटे का बाप कभी बुड्ढा नहीं होता सत्य, कभी नहीं.... I have strong nerves and I can shoot Satya......उन्होंने खोखा का सिर खोल दिया है....मैं तुम्हें कैसे बतलाऊं मगर क्यों नहीं, तुम्हारे अन्दर भी तो कुछ सुलग रहा होगा....उस आग को मुझे बाहर लाना ही होगा, out from here, कहकर उन्होंने सीने पर हाथ

रक्खा, ठीक जगह बतलाने के लिए कि वह आग कहां जल रही है और बोले—यहीं ठीक यहीं and I must throw it out, this round red ball of fire. I must or it will burn me up.... तुम क्या यह चाहोगे सत्य कि मैं सदा भट्ठी के ऊपर बैठा रहूं।... आज की मीटिंग में मैं बोलूंगा सत्य और तुम नहीं बोलोगे...एक बार अपने मुंह से कह दो तो मुझे तसकीन हो जाय.....

सत्य ने कहा—उस मीटिंग में आज धर-पकड़ जरूर होगी दादा और मां की तबीयत का हाल आपकी आंखों के सामने है....

प्रफुल्लबाबू ने अब की अधीर और रुष्ट होते हुए कहा—अमूल्य का खून से लथपथ सिर भी मेरी आंख के सामने खड़ा हुआ है सत्य, मैं चाहूं भी तो उसे अनदेखा नहीं कर सकता......

सत्य ने कहा—अच्छा तो आपका जब इतनी हठ है....

प्रफुल्लबाबू के चेहरे पर तृप्ति की मुसकराहट आ गई, सत्य के कंधों को पकड़कर जोर से झकझोरते हुए बोले—मैं जानता था सत्य, तुम मेरी मदद को आओगे...तुम्हारे हाथ में अमूल्य की मां को छोड़कर मैं बहुत बेफिक्री से जा सकूंगा....

सत्य ने कहा—और अगर मैं भी नहीं रहा....

प्रफुल्लबाबू ने कहा—तुम कैसे नहीं रहोगे, तुमको रहना होगा.... मैं तुमसे भीख और किस चीज़ की मांग रहा हूं...तुम आज नहीं बोलोगे। आज मैं बोलूंगा। तुमको बहुत मौक़े मिलेंगे, तुम्हारी सारी ज़िन्दगी आगे पड़ी हुई है। मेरा तो अब अन्त समय है..मैं जानता हूं मुझे तुमको इस तरह नहीं बांधना चाहिए। मगर तब भी मैं बांध रहा हूं—क्योंकि चारा नहीं है। अमूल्य की मां का यह हाल

नहीं होता तो मैं तुमको भी न रोकता और अपने अन्तःकरण की आवाज़ पर चलने देता. . पर आज तो तुम्हें मेरा हठ मानना ही पड़ेगा। साला मजिस्ट्रेट कहता था क़ायदा नहीं है, अब देखूं कैसे रोकते हैं बच्चू. . If they don't let me in peacefully, I am going to shoot my way in....

३१

जेल के अन्दर सियासी क़ैदियों पर लाठीचार्ज की ख़बर तेज़ी से शहर में फैल गयी थी। और गो काफी बड़ी संख्या में लोग इसको भी शासनतन्त्र की साधारण दिनचर्या मान बैठे थे, (क्योंकि उन दिनों प्रायः रोज़ ही किसी न किसी जेल के लाठीचार्ज या फायरिंग की खबर रहती थी) मगर तब भी मीटिंग के लिए बहुत काफी लोग जमा हुए। सरकार की तरफ से भी बड़ी बड़ी तैयारियां थीं। दो लारी भरकर पुलिस शान्तिरक्षा के लिए खड़ी कर दी गई थी और पता नहीं कितने खुफिया पुलिस श्रोताओं में बिखेर दिए गए थे। फ़िज़ा में काफी सनसनी थी.......

प्रफुल्लबाबू को इस सबका कुछ ग़म नहीं था। उनके भीतर तो अलग ही एक यज्ञ कुंड धधक रहा था। वह तो घर से निकले ही थे यह कहकर—देखो, अगर आज मैं रात को न लौटूं तो घबराना मत। मैं खोखा को देखने जा रहा हूं। पता नहीं कितनी चोट लगी है उसे। ...यहां यह सत्य और यह बेटी उषा है, तुम्हें कोई तकलीफ नहीं होगी।

तकलीफ होने की बात सुनकर अमूल्य की मां उस तकलीफ में भी मुसकरा दी थी जिसका आशय था—कैसी बात करते हो! जिस मां के दो बेटे जेल में हों जिनमें से एक का सिर फट गया हो और दूसरे के मुंह से अभी दूध की बास भी न गयी हो, उससे तकलीफ की बात कहते हो ? ! क्या है तकलीफ और क्या है आराम ? यह दुनिया क्या है ? हमीं तुम क्या हैं ? कहीं कुछ नहीं है। तुम जो ठीक समझो।

तुम्हें भी मैं रोकूंगी नहीं और रोकने से रुक ही कौन जाता है!
.....तुम भी जाना चाहते हो तो तुम भी जाओ.....ज़रा सोचो
उस नन्हें से दूध-पीते ज्योती ने एकबार मुझसे कहा था —मां, दिल
जिस बात की गवाही दे वह करना ही चाहिए नहीं तो फिर धीरे धीरे
दिल कुछ भी कहना ही छोड़ देता है....ज़रूर खोखा ने उसे यह
बात सिखा-पढ़ाकर मेरे पास भेजा होगा....मैं अपने बच्चों की इस
बात को अब मानने लगी हूं....तुम्हारा दिल भी जिस बात की
गवाही दे तुम ज़रूर करो। मेरी फिक्र छोड़ दो। अब मुझे तकलीफ
में ही आराम मिलेगा। तुम ज़रूर जाओ खोखा के पास। मैं जानती
हूं वह तुम्हें बुला रहा होगा। मैं अपने खोखा को खूब जानती
हूँ। उसके सिर से जब ख़ून का फ़ौवारा छूटा होगा उस वक्त
उसने ज़रूर एक बार पुकारा होगा—मां...बाबा...और फिर ओंठ
सी लिये होंगे और फिर एक बार उफ तक न की होगी। मैं खूब जानती
हूं अपने खोखा को, बड़ा हठीला है, सदा से उसका यही हाल है
.....कहते हुए उन्होंने आंचल के छोर को आंख में लगा लिया...

प्रफुल्लबाबू तो खूब समझ बूझकर, पूरी तैयारी करके निकले
थे। उन्होंने पुलिस की यह बहार देखी तो हलका व्यंग का स्मित उनके
ओंठ के कोनों में फैल गया।

दूसरे ही नम्बर पर उन्हें बोलना था और उन्होंने बोलना शुरू
किया—भाइयो और बहनो, मेरे बेटो और बेटियो, पार्टी सेक्रेटरी
अमूल्य बैनर्जी के बारे में मुझे कुछ नहीं कहना है। उसके बारे में अभी
एक कामरेड ने आपको बतलाया और मेरे बाद दूसरे बतलावेंगे। मैं
अपने बेटे अमूल्य के बारे में आपसे बोलूंगा।.....मजिस्ट्रेट का बयान
आप सबने देखा होगा। उससे ज्यादा नीच, निर्लज्ज और ढीठ बयान
दूसरा नहीं हो सकता। अपनी समझ में उन्होंने लाठीचार्ज की बड़ी

अच्छी सफाई दी है, मगर मैं जानना चाहता हूं कि क्या उन्होंने हम सब को बिलकुल गधा समझ लिया है? बयान में कहा है कि क़ैदी बगावत पर आमादा थे! वाह रे बग़ावत! नंगे हाथों वह क्या जेल की दीवारें ढाकर रख देते?! आखिर क्या कर लेते? क्या कर सकते ही थे वह! मैं पूछता हूं कि उनकी जगह मजिस्ट्रेट साहब ही होते तो (श्रोताओं में से किसी की आवाज़ आई: वह दिन भी आ रहा है!) नहीं मैं उस दिन की बात नहीं कर रहा हूं। वह दिन आये या न आये, मैं तो महज़ मिसाल के लिए कह रहा हूं कि मान लीजिए इन क़ैदियों की जगह मजिस्ट्रेट साहब ही होते तो खाली हाथ वह क्या ग़ज़ब ढा देते, क्या प्रलय मचा कर रख देते? माना कि मजिस्ट्रेट साहब की नज़ीर साधारण आदमियों से नहीं दी जा सकती मगर तो भी आदमी को बात ऐसी कहनी चाहिए जो लोगों के गले से उतरे —बग़ावत पर आमादा थे! कोई सबूत है आपके पास? जी हां, क्यों नहीं है, उन्होंने मेस के तमाम लोटे-गिलास थाली–कटोरी जमा करके बारक में रख लिये थे और ईंट-पत्थर इकट्ठा कर लिये थे... माना कि आप जो कुछ कहते हैं सब सही, मगर उसके बाद अब ज़रा सोचिए, कैसे अक़्ल के मारे होंगे वे लोग जो अपने इस नायाब हथियार-खाने के बल पर, इन कटोरियों और थालियों और टूटी हुई कुर्सियों और मेजों की टांगों और ईंट पत्थरों के बल पर बग़ावत करने निकले हैं! और किसके खिलाफ़? जिनके पास बन्दूकें हैं संगीनें हैं और वायरलेस है जो पलक झपकते भर में जेल को हथियारबन्द पुलिस से भर दे सकता है! इन ताक़तों के खिलाफ़ जेल के क़ैदी, साठ साठ फुट ऊंची दीवारों के पीछे बन्द, अपने ईंट-पत्थर से बग़ावत कर रहे थे! साफ़ बात आप क्यों नहीं कहते, इन झूठे झूठे इलज़ामों के पीछे क्यों मुंह चुराते फिरते हैं? मगर कौन कहे साफ़ बात और कैसे कहे—उसके

लिए तो दिल के अन्दर सच्चाई चाहिए। तब फिर बताइये जो झूठ का व्यापार करने निकला है वह साफ बात कैसे कहे? आज हम लोग सबेरे मजिस्ट्रेट साहब के बंगले पर गये थे, इसी लाठीचार्ज के बारे में पता लगाने। आप यक़ीन नहीं करेंगे, हज़रत बग़लें झांक रहे थे, बग़लें—बिलकुल चोरों की तरह। बड़ी मुशकिल से तो उन्होंने यह क़बूला कि लाठीचार्ज हुआ है....यह तो हालत है आज़ाद हिन्दुस्तान के मजिस्ट्रेटों की। और मैं कहता हूं आप साफ बात कहिए, खुला खेल फर्रुखाबादी। मुझे तो पसन्द आये यह बात अगर आप साफ साफ कहें कि जी हां हमने लाठीचार्ज किया और कैदियों को सबक़ सिखाने के लिये किया ताकि वे भूल न जायं कि वे क़ैदी हैं और हमारे ताबे हैं और हमें उनकी आज़ाद तबीयत एक आंख नहीं भाती और जो हमसे ऐंठकर बात करेगा उसका हम सर तोड़ देंगे, हमारा यह स्वराज गांधी बाबा की अहिंसा पर नहीं डंडे पर टिका है....यह जेल है, खालाजी का घर नहीं है, यहां हम तुम्हें भूखा रखें तो तुम्हें भूखा रहना होगा, नंगा रखें तो तुम्हें नंगा रहना होगा, सड़ा अनाज खिलायें तो सड़ा अनाज खाना होगा, ज़मीन पर सुलायें तो ज़मीन पर सोना होगा, आसमान से चिपका दें तो आसमान से चिपके रहना होगा, सर के बल खड़ा रखें तो सर के बल खड़ा रहना होगा, कान पकड़ कर उठक बैठक करायें तो कान पकड़ कर उठक बैठक करना होगा, मुर्गा बनायें तो मुर्गा बनना होगा, दिन रहते बारक में बन्द करना चाहें तो दिन रहते बारक में बन्द हो जाना होगा, खेलने का सामान न दें तो घोखना होगा, पढ़ने का सामान न पहुंचने दें लालटेन न दें तो सरे शाम सो जाना होगा यानी बंदर की तरह हमारे इशारे पर नाचना होगा (नाच बंदरवा नाच) और जो ज़रा सी भी किसीने चीं-चपड़ की तो हम उसका सर तोड़ कर रख देंगे, सारी अकड़ हिरन हो जायगी। खिलवाड़ बनाया है, यह जेल है जेल। ज से जंट! ज से जल्लाद। ज से जेल। ज से जहन्नम..

जी हां साफ बात यह है, हिम्मत हो तो कहिये। तब कम से कम आपकी हिम्मत की तो दाद दी जा सकती है। अभी आपको हम किस बात की दाद दें? क्या इस बात की कि आपने मेरे खोखा का सिर तोड़ दिया है और अब इतनी भी इन्सानियत आपमें नहीं है कि एक नजर मुझे देख लेने दें उसको कि मरहम पट्टी हुई कि नहीं. कि उसे वहीं अपने साथियों के संग रखा गया है या उठाकर अस्पताल में डाल दिया गया है जहां कोई उससे एक घूंट पानी के लिए पूछने वाला भी न होगा? मगर यह सवाल मैं किससे कर रहा हूं? कौन इसका जवाब देगा? क्या वे जो अपनी सारी इंसानियत धो-धाकर पी गये हैं जिनके दिल पत्थर के हैं?

मगर दोस्तो आओ अब हम गम के आंसू बहाना बंद करें। ये आंसुओं से पसीजने वाले नहीं हैं। कोई सत्ता आंसुओं से नहीं पसीजती। यह मेरी कमजोरी है कि मेरी आंखें नम हो गईं। पता नहीं ईश्वर का यह कैसा विधान है कि वहां बेटे के सर से खून गिरता है तो यहां बाप की आंखों से! पता नहीं वह कौनसी तारबर्की है जो दोनों को आपस में जोड़े रहती है....मगर नहीं, अब मेरी आंखों में कभी आँसू नहीं आवेंगे, मैं आपके सामने शपथ लेकर कहता हूं, अब मेरी आँखें कभी नम नहीं होंगी और आइये आज हम सब मिलकर इस जगह से एलान करें कि जो जुल्म उन्हें हम पर तोड़ने हों वे तोड़ें, हमें सब मंजूर, सब मंजूर, मंजूर नहीं बस एक बात, घुटने टेकना। यह तो आखिरी दम तक की हमारी लड़ाई है, इसमें घुटने टेकना कैसा?

इस बात पर इतने जोर से तालियों की गड़गड़ाहट हुई कि पुलिस-वाले मशीनी खिलौने के सिपाहियों की तरह चौंक कर अलर्ट पर आ गये और कान खड़े करके आफिसर के आदेश की प्रतीक्षा करने लगे। मगर कोई आदेश नहीं आया।

तालियों की गड़गड़ाहट थम जाने पर प्रफुल्लबाबू ने कहा—आखिर में एक बात और कहना चाहता हूं जो शायद अप्रासंगिक नहीं है भले उसका सीधा संबन्ध आज की घटना से न हो मगर अमूल्य से है और मुझसे है और मैं सोचता हूं कि आप सबों से है। और वह बात यह है कि अब तक कई मामलों में मेरे कम्युनिस्टों से खासे गहरे मतभेद थे और मेरी और अमूल्य की अकसर दो दो चोंचें हो जाया करती थीं मगर कल शाम अमूल्य के सिर से जो खून गिरा है उसने उन तमाम मतभेदों को धो डाला है, और मैं अपने को अमूल्य के बहुत पास पा रहा हूं। कई बार अमूल्य से मेरी झड़प हो जाती थी, ये झड़पें इधर-उधर की बातों पर होती थीं, मगर उन सब की तह में बात यह होती थी कि मुझे अमूल्य की कुछ बातें इसलिए अखर जाती थीं कि मुझे उनमें देशप्रेम की कमी दिखाई देती थी...और उनमें निश्चय ही वह देशप्रेम नहीं होता था जिससे आम तौर पर हमारी आपकी मुलाकात होती है, वह दिखावटी देशप्रेम जो बातें बड़ी लम्बी चौड़ी बघारता है मगर जिसके अन्दर तत्व कुछ नहीं होता, विशुद्ध लल्लो-चप्पो। उसे आग पर चढ़ा दो पल ही भर में वह ऐसा उड़ जायेगा कि उसका दाग भी बर्तन में ढूंढ़े न मिलेगा। अमूल्य का देशप्रेम निश्चय ही ऐसा नहीं था। वह गहरा था इसीलिए जबान पर कम और अमल में ज्यादा दिखाई देता था। उसका देशप्रेम 'हिन्द' नाम की किसी निरी भौगोलिक इकाई तक सीमित नहीं था। उसके लिए देशप्रेम का मतलब था यहां की मिट्टी से प्यार, यहां के रहने वालों से प्यार, यहां के फल-फूल से प्यार। उसका प्यार सच्चा था इसीलिए उसने अपने सिर के खून से अपने देश की मिट्टी को सींचा....और वह जो दूसरा वाला देशप्रेम था उसकी भी असलियत आजादी के इस साल डेढ़ साल के अन्दर ही खुल गयी है। वह देशप्रेम एक नकाब है, एक

झिलमिल पर्दा जिसके पीछे घूसखोर, परमिटबाज, कुनबापरवर दलालों का असली चेहरा छुपा हुआ है। उनके लिए देशप्रेम भी चकलेबाजी का ही दूसरा नाम है, इसीलिए आज वे दोनों हाथ से और अपनी लम्बी लिबिर लिबिर करती हुई जीभ से अपनी तिजोरियां भर रहे हैं। मैंने अब सच्चाई देख ली है, भले यह रक्तांक्त सच्चाई मुझे अपने ही बेटे के खून के बीच से दिखाई दी हो मगर अब मैंने सच्चाई देख ली है और अब से अमूल्य ही मेरा मार्गदर्शक होगा, मेरा पिता।......

तालियां अभी गड़गड़ा ही रही थीं, नारों की गूंज अभी हवा में कांप ही रही थी जब पुलिस इंसपेक्टर ने मंच से उतरते हुए प्रफुल्लबाबू के पास पहुंचकर कहा—आपकी गिरफ्तारी का वारंट है!

प्रफुल्लबाबू ने मुसकराते हुए चुटकी ली—बहुत बेहतर, मगर वारंट की जरूरत आपको कबसे पड़ने लगी! जेब में और कितने सादे वारंट पड़े हैं..... Carte blanche..फ्रेंच रिवोल्यूशन...... कलम दूं, भर लीजिए......

कहने की जरूरत नहीं कि अनपढ़ पुलिस इंसपेक्टर मजाक नहीं समझा। सभा में थोड़ी खलबली हुई, मगर तभी माइक पर से आवाज आई : साथियो, अपनी जगह पर बैठे रहिए, किसी के उठने की जरूरत नहीं है। सभा की कार्रवाई बदस्तूर चलती रहेगी। ये गिरफ्तारियां कौम का गला नहीं घोंट सकतीं। हम उस देश के हैं जो अपनी घुट्टी के साथ रक्तबीज की कहानी को पीता है। जहां एक बूंद खून गिरेगा वहां इसी मिट्टी में से सौ और लड़नेवाले उठ खड़े होंगे। हमारी मिट्टी की तासीर यही है। हमारा पुराण यही है। किसी में सकत हो तो इस पुराण को बदले, इस इतिहास को बदले, इस मिट्टी की तासीर को बदले............

सत्य ने घर पहुंच कर ख़बर दी। अमूल्य की मां ने इस नई चोट को भी सह लिया। मालूम होता है अब वह उस जगह पहुंच गयी थीं जहां चोट चोट नहीं रह जाती, इस क़दर भिद जाती है वह ज़िन्दगी की सांस सांस में कि हर सांस में दर्द होता है मगर सांस आती रहती है और सांस का आना ही बड़ी बात है क्योंकि उसी से शायद धीरे-धीरे करके ज़ख्म भर भी जाता है यानी जिस ज़ख्म के लिए ऐसा मुमकिन है और जितना भी मुमकिन है...

३२

घटनाओं की इस नयी करवट से ज़ाहिरा उषा का कोई संबन्ध नहीं था, वह अब तक इन काविशों से जैसी अलग-अलग थी वैसी ही अलग-अलग रही आयी मगर असलियत कुछ और थी। जो महाभारत इस वक्त बाहर चल रहा था, बहुत कुछ वैसा ही महाभारत उषा के अन्दर भी चल रहा था, उसने अपने छोटे से सुख, अपने छो से प्यार (जो इस मानी में छोटा नहीं है जिस मानी में हम कहते हैं फलां बहुत छोटा आदमी है बल्कि छोटे बच्चे की तरह छोटा जो शायद जलते हुए घर में भी अपने नन्हें से घरौंदे और उसके गुड्डे-गुड़ियों में ही डूबा रहता है और उस आग से बेखबर जो खुद उसको झुलसाने के लिए बढ़ रही है अपनी तितलियों और परियों के पीछे भागता रहता है!), अपने छोटे से परिवार, अपनी छोटी सी बँगलिया, अपनी छोटी सी ज़िन्दगी—जो किसी को नहीं छेड़ती और न यही चाहती है कि कोई उसको छेड़े—उन सब की तमाम वासनाएं जो उसने अपने मन के किसी अत्यन्त निभृत निगूढ़ कोने में शायद खुद अपने आप से भी छिपाकर रख छोड़ी थीं, उन सब तक इस महाअग्नि की जीभें पहुंच गयी थीं....उसको बड़ी बेचैनी थी मगर ऐसी सँड़सी में वह पकड़ गयी थी कि अपने उस लाक्षागृह को बचाना भी उसके बस में नहीं था और बचाना तो दरकिनार, शायद उसका मातम करना भी अब उसके बस में नहीं था, कहीं वह अपने ऊपर नफरत से हँस न दे—जहां इस विराट् अग्नि में सभी कुछ जल रहा है और धुआं हो रहा

है, न जाने कितने सपने, कितनी उमंगें, कितने हौसले, कितनी चाहें, कितनी प्रतिभाएं, कितनी सब कुछ, न जाने कितने चांद और सूरज, कितनी चमेलियां और कितने गुलाब, कितनी शाप-दग्ध मेनकाएं और कितने पंचशर ऋतुराज,...........जहां इस विराट् अग्नि में सभी कुछ जल रहा है, वहां मुझको ही अपनी टुटही खटोली का सबसे ज्यादा मोह क्यों हो और उसे बचाकर ले जाऊंगी भी कहां? इस अग्नि से त्राण कहां? और बचाकर होगा भी क्या? उस प्रेत साम्राज्य में जिसमें सिर्फ मैं रहूंगी और होंगी असंख्य भूखी, शापग्रसित छायाएं—उसमें किस काम आयेगी मेरी यह टूटी सी खटोली, मेरी यह झुलसी हुई सोनचिरैया, यह स्वर्णमृग...नहीं नहीं सब मृगछलना है...जहां सब कुछ जल रहा हो वहां जलने में ही सुख है, अपनी अस्थियों की समिधा अग्नि को समर्पित करो, क्योंकि यह किसी की बीड़ी के टुर्रे से सुलगी हुई ओछी आग नहीं, सृष्टि के नवजन्म का यज्ञकुंड है, हम सभी जिसके अग्निहोत्र हैं......कोई चिन्ता न करो बेखटके चलो...इस मन्वंतर के बाद जब इस धरा का नया जन्म होगा, नयी बस्ती बसेगी, नये अलाव जलेंगे, नये फूल खिलेंगे, नये चांद और सूरज धरती की कोख से निकल कर किरणों की वल्गा अपने हाथों में लेंगे तब तुम छूट थोड़े ही जाओगी, उस रथ पर सब सवार होंगे, सब, सारी धरा, वह रथ आज का यह रथ नहीं होगा जिसपर कोई एक पुरुषश्रेष्ठ बैठकर असंख्य मानवों को अपने पहिये तले रौंदता है.....

उषा तुझको अपनी छोटी सी ममताएं बांधे हुए हैं और इधर देख इस स्त्री को जिसके दो बेटे जेल में हैं और आज जिसका पति भी जेल चला गया! इनको नहीं प्यारी थी अपनी गिरस्ती? ये कुंजी ताले के भीतर छिपाकर नहीं रख सकते थे अपना घर-संसार? तब फिर क्यों तुड़वाया अपना सिर अमूल्य ने और क्यों गया जेल ज्योती, जो मेरे रामू की ही उम्र का होगा और जिसके अभी पतंग उड़ाने

के दिन थे और कौन-सी वह चीज़ थी जो कल प्रफुल्लबाबू को भी वहीं खींच ले गयी, उस खूनी दलदल में ?......क्या न गुज़रती होगी मां के दिल पर—तेरा अरुण तो अभी डेढ़ पौने दो साल का है। तेरी ममता भी तो अभी उतने ही दिन की है। जब तू रात रात जागकर, न जानें किन किन मुसीबतों के बीच से होकर अपने जिगर का खून पिलाकर अपने इसी अरुण को पचीस बरस का कर देगी और जब वह ऐसे ही एक रोज़ जेल चला जायगा और वहां कुछ हत्यारे उसका सिर तोड़ देंगे———भगवान न करे ऐसा हो ! —तब मैं तुझसे पूछूंगी कि कैसा लगता है। तब तू शायद इस स्त्री के दर्द को ठीक से समझ सकेगी। बारह-तेरह साल का अरुण जिसे तुझसे चिपक कर सोना अच्छा लगता है, जो कुत्ते के नन्हें नन्हें प्यारे प्यारे पिल्लों की तरह दिन में दस बार आकर तुझे सूंघ जाता है वह जब तुझसे एक दिन यों ही अचानक, बिना बादल की बिजली के टूटने की तरह तुझसे छीन लिया जायगा, तब तू समझ सकेगी कि ज्योती के चले जाने से मां के दिल पर क्या गुज़री है और क्यों अपने इस भयानक दर्द के बीच भी उन्हें चंचला को दूध मिला या नहीं मिला इसकी याद नहीं भूलती...ज्योती के लिए शायद कभी दूध का प्रबन्ध नहीं हो सका मगर चंचला के लिए है....ममता की कैसी कचोट कैसी पीर न उठती होगी मां के हृदय में.....लेकिन उस सब के बाद भी जिन्दगी जैसी है वैसी है। एक बार तूने ज्योती की मां को अपनी जिन्दगी को कोसते, भुनभुनाते सुना ? यहां तक कि अपने उस दर्द के बीच भी जब उन्हें किसी बात का होश नहीं रहता ? हां, पीड़ा है, मगर वह दूसरी ही पीड़ा है, वह आत्म-दान की पीड़ा है, वह पीड़ा यह नहीं है कि मेरी जिन्दगी ऐसी न होकर फूलों की सेज क्यों नहीं हुई ? इन तकलीफों के बीच भी यह एक अत्यन्त सुखी परिवार है। ज्योती की मां शायद किसी क़ीमत

पर अपनी इस ज़िन्दगी को किसी दूसरी ज़िन्दगी से बदलेंगी नहीं और न कभी चाहा होगा बदलना, चाहे उस दूसरी ज़िन्दगी में कितना ही पैसा क्यों न हो, कितना ही आराम क्यों न हो। वर्ना अगर चाहतीं ही और प्रफुल्लबाबू के जो को लग जातीं तो कब तक सिद्धि न होती, आगे-पीछे होती ही, ज़रूर होती।.......

....उस दिन साहनी साहब के यहां से लौटकर सत्य से मेरी लड़ाई हो गयी थी। मुझे बस यही लगता था कि जब सबकी ज़िन्दगी में चैन है, आराम है, मौज है, मज़ा है तब हमीं क्यों उससे वंचित रहें? दुनिया में अलख जगाने का ठेका हमीं ने लिया है? जो दुनिया का तरीक़ा है वही हमारा हो, हम क्यों ज़माने भर का पाप अपने सर पर ओढ़ते फिरें?.....इन्हीं सब बातों को लेकर मेरे मन में सत्य के ख़िलाफ बहुत कटुता भर रही थी। इसीलिए सत्य की सारी बातें मुझे आदर्शवादी पोंगापन मालूम पड़ीं और मैं उनसे लड़ पड़ी, मगर वह शायद ग़लत नहीं कहते थे, ज्योती की मां के संग चार दिन रहकर मुझपर अब यह सच्चाई उजागर हो रही है, कि इतनी पीड़ा के संसार में, जिसमें छोटी बड़ी इतनी ज़िन्दगियां चिटख चिटख कर जल रही हैं, हम अपने छोटे से घोंसले की बात नहीं कर सकते, वह घोंसला खुद झुलस कर ज़मीन पर आ रहेगा...सत्य ने यह सब कुछ मुझसे ज्यादा देखा है इसीलिए मेरी बात से उनके दिल को चोट भी बहुत लगी होगी...

तभी उषा को सत्य की आवाज़ सुन पड़ी—तुम आज घर कैसे आ गईं उषी? दादा के यहां नहीं सोओगी?

उषा ने कहा—नहीं, उन्हींने मुझे भेज दिया। वैसे उनकी तबियत भी आज अच्छी थी और फिर उनका मंझला लड़का भी आ गया।

—कौन? टुटू?

—हां, शायद टुटु ही तो। अमूल्य से छोटा है जो।

—कोई काम मिला उसे ?

—मैं क्या जानूं। मां बेटे में उसकी बाबत कोई बात भी नहीं हुई।

—कल पूछूंगा उससे...तुम अभी सोयीं नहीं ? काफी रात आई......

—क्यों ? क्या बजा है ?

—बारह बज चुका है। मुझे बहुत देर हो गयी एक मीटिंग में.. और खैर मैंने तो सोचा भी नहीं था कि घर पर आज तुमसे भेंट हो जायगी। सत्य मुसकराया।

उषा ने भी मुसकराकर कहा—सफाई मत दो, मैं जानती हूं किसी काम से ही तुम्हें देर हुई होगी। जरूरी काम सर पर आ पड़ता है तो कोई घड़ी-घड़ी घड़ी नहीं देखता....

सत्य ने झट इस बदले हुए स्वर को लक्ष्य कर लिया। बड़ी खुशी हुई पर उसने कुछ कहा नहीं। बोला—तुम अब तक जगी कैसी पड़ी हो ?

उषा ने कहा—पिया का पंथ निहार रही थी....

सत्य ने कहा—सच....और इसके पहले कि वह अपना बचाव कर सके सत्य खाट की पाटी पकड़कर झुका और.....

उषा ने कहा—कैसे हो जी ? बुड्ढे होते जा रहे हो मगर ये छोकरों के ढंग नहीं जाते....

सत्य ने कहा—कौन बुड्ढा होता जा रहा है ? मैं ? मैं च्यवन ऋषि हूं......

उषा ने कहा—. . . .क्या कहते हैं च्यवन ऋषि के ! च्यवन ऋषि इतनी बीड़ी नहीं पीते थे ! खुद तो बदबू कर ही रहे थे मुझे भी लेकर सान दिया. . . . . .

सत्य ने कहा—इस बदबू में तुम्हें इंक़लाब की खुशबू नहीं आती ? मेरे बहुत से साथियों को आती है. . . .

उषा ने कहा—बड़े पाजी हो तुम. . .जिसके पीछे न पड़ जाओ !

सत्य ने पूछा—अरुण की खांसी कैसी है ?

उषा ने बिस्तर से उठते हुए कहा—ठीक है। देखते नहीं कैसा हाथ पैर फैलाए सो रहे हैं।

सत्य इस वक्त दुनिया का सबसे सुखी आदमी था।

तभी चौके में से उषा की आवाज़ सुनाई दी—आओ।

सत्य अच्छी तरह हाथ पैर धोकर चौके में पहुंचा। बोला—अब तो च्यवन ऋषि नहीं गंधा रहे हैं ?

उषा ने कनखियों से देखकर कहा—मैं क्या जानूं ? . . . . .

सत्य ने कुछ कहा नहीं। बस उषा को देखता रहा।

उषा ने कहा—घूरते क्या हो, खाना क्यों नहीं खाते ? . . . . . कुलवधू को घूरते तुम्हें शर्म नहीं आती. . . . .

अब भी सत्य ने कुछ नहीं कहा। वैसे ही देखता रहा।

अब उषा ने थोड़ा लजाते हुए कहा—आज कई दिन के बाद हम लोग साथ साथ खा रहे हैं. . . . .

सत्य ने रोटी का टुकड़ा तोड़ते हुए कहा—हाँ. . . . .

कितना तृप्त अनुभव कर रहा था वह इस समय !

खाते क्यों नहीं ? खाना ठीक नहीं बना है क्या ?

बहुत अच्छा तो बना है।

तो फिर खाते क्यों नहीं ?

खा तो रहा हूं।

खा रहे हो कि ऊंघ रहे हो ?

ऊंघ नहीं रहा हूं रानी, सोच रहा हूं मुझसे भी ज्यादा कोई सुखी होगा दुनिया में ——

एक तो मैं ही हूं।

नहीं, मुझसे ज्यादा नहीं।

कैसे मालूम। आओ नापें !

३३

प्रफुल्लबाबू के जेल पहुंचने के पहले ही भूख हड़ताल, चौबीस घंटे में ही अंशत: सफल होकर खत्म हो चुकी थी मगर तब भी जैसे जेल में दाखिल होते ही अग्निदीक्षा जरूरी हो, उनको भी भूख हड़ताल के मैदान में उतरना पड़ा। बात यह हुई कि जेल वालों ने सताने के लिए प्रफुल्लबाबू को अलग एक बारक में बंद किया जिसमें बस दो लोग थे, एक वह खुद और दूसरा एक खोसला नाम का पंजाबी जिसे किसी कंपनी का रुपया गबन करने के जुर्म में सजा हुई थी, भला बताइये उसके संग प्रफुल्लबाबू का क्या जोड़ था मगर तो भी जहां सताना ही मकसद हो ?

मगर प्रफुल्लबाबू तैयार कब थे सताये जाने के लिए। उन्होंने भूख हड़ताल बोल दी।

उधर मेन बारक में कब की यह खबर फैल चुकी थी कि अमूल्य के बाबा भी पकड़कर आ गये हैं और सब उनका इंतजार भी कर रहे थे कि अब आते हैं अब आते हैं ---

जेल का बेतार का तार भी तो अजीब होता है। प्रफुल्लबाबू ने अभी मुश्किल से एक क़दम जेल के फाटक के भीतर रखा होगा कि पता नहीं किस तरह उनकी आमद की खबर जिसको होनी थी हो गयी। रात भर पुलिस की हिरासत में रहने के बाद सबेरे ही सबेरे वह जेल लाए गए थे। जब बारह बजे तक वह मेन बारक में नहीं आए तो सबों ने अपनी तरफ से जोर लगाना शुरू किया। उधर प्रफुल्लबाबू

ने भूख हड़ताल कर ही दी थी। बारे शाम के छः बजते बजते, ताला-बंदी के पहले पहले प्रफुल्लबाबू मेन बारक पहुंच गए। वहां चौदह डेटेन्यू थे जिनमें थोड़ी बहुत चोट तो सभी को आई थी, मगर तीन को ज्यादा चोटें आई थीं और उन तीन में भी अमूल्य के सर में तो बहुत ही गहरा जख्म हो गया था।

प्रफुल्लबाबू ने ग्यारह आतुर कंठों से ग्यारह मिनट में जो कुछ सुना वह कुल मिलाकर यह था: कोई सोलह घंटे बाद तो उसे होश आया था। कोई समझता थोड़े ही था कि अमूल्य बचेगा। मगर डाक्टर ने कहा है कि अब वह खतरे को डांक गया है। छोटा डाक्टर हमारा हमदर्द है, बहुत नेक आदमी है। उसने भी अगर हमारे संग जोर न लगाया होता तो साले ले ही गये थे अमूल्य को अस्पताल और वहां सचमुच ही वह उसे मार डालते। मगर हम लोगों ने कहा—हम अपने साथी को वहां जाने नहीं देंगे। आपका बहुत जी चाहे तो एक बार फिर लाठीचार्ज कर लीजिए। मगर हम हरगिज अमूल्य को यहां से हटाने नहीं देंगे। यहां हम उसकी जितनी अच्छी देख-रेख करेंगे आपके आदमी थोड़े ही न कर सकेंगे। चोट संगीन है और हम रिस्क लेने को तैयार नहीं हैं। आप यहीं पर इलाज कीजिए।....इस तरह हम सब इसी जगह पर रहे और इलाज चल रहा है। काफी मजा है। कई को मेडिकल राशन मिलने लगा है, अच्छा हुआ आप भी आगये। हमें एक बुड्ढे पुराने साथी की जरूरत थी भी, जबसे बिशनसिंह गये हम सब लड़के ही लड़के यहां रह गये हैं......

जिस तरह की सेवा-शुश्रूषा अमूल्य को यहां मिल रही थी, वह जेल के अस्पताल में तो खैर क्या घर पर भी मिलनी मुशकिल थी। इतना तो उन्होंने भी नहीं सोचा था। दोनों रात पारी बांध बांध कर जगाई हुई थी। तीमारदारी में कहीं किसी तरफ चूक नहीं हुई थी।

सब काम इतनी सफाई और फुर्ती से हो रहा था जैसे पता नहीं कब की ट्रेन्ड नर्स हों यह !

प्रफुल्लबाबू अमूल्य के सिरहाने जाकर खड़े हुए । अमूल्य का बस आंख नाक मुंह का हिस्सा खुला हुआ था । बाक़ी सब सिर-विर तमाम आड़ी तिरछी पट्टियों से ढंका हुआ था । अमूल्य इस वक्त भी गुनूदगी की हालत में पड़ा हुआ था । उसको प्रफुल्लबाबू की आहट नहीं मिली । प्रफुल्लबाबू ने धीरे से आवाज़ दी—खोखा ?

अमूल्य को आवाज़ कुछ परिचित ज़रूर लगी, लेकिन सिर से ढेरों खून निकल जाने से दिमाग़ एकदम खाली खाली हो रहा था । आंख बंद किए किए ही उसने अपने उस दिमाग़ी धुंधलके के बीच से पहचानने की कोशिश की कि यह किसकी आवाज़ है मगर पहचान नहीं सका । बोला—के ?

प्रफुल्लबाबू ने आवेग से कांपते हुए स्वर में जवाब दिया—एइ जे आमि , बाबा....

बाबा ? यहां ? कैसे ? अमूल्य को विश्वास नहीं हुआ । उसने पट्टी सरकाकर पलकों को आज़ाद किया और आंख मिचमिचा कर देखा—हां तो !...और आवेग के ज्वार में उसका सिर तकिये से क़रीब नौ इन्च ऊपर को उठा मगर फिर बड़े ज़ोर का चक्कर आया, अंधेरा सा छाने लगा और सिर फिर से तकिये पर गिर गया । अमूल्य फिर कुछ देर वैसे ही एकदम खामोश निश्चल पड़ा रहा, जैसे ताक़त बटोर रहा हो । फिर बोला—कैसे आए तुम ?

—वैसे ही जैसे तुम....मगर वह सब बातें पीछे होंगी अभी तू सो जा....तकिया ठीक कर दूं, टेढ़ी हो गयी है ।

एक सवाल यों ही अनायास प्रफुल्लबाबू के मन में आया— वह कौन सी चीज है जो इन लड़कों को आपस में इतना बांध देती है ? इतना तो एक सगा भाई भी दूसरे के लिए नहीं करता !

जैसे परिवेश के प्रभाव में पड़कर अनायास यह सवाल उनके मन में आ गया था, वैसे ही उनके जिन्दगी भर के संचित ज्ञान और अनुभव ने यों ही राह चलते जवाब भी दे डाला, जैसे कोई खास बात न हो ! एक जीवनोद्देश्य....मीरा का वह भजन क्या है...मोरे जनम मरन के साथी ! असल चीज़ वही है और वह बहुत ही बड़ी चीज़ है ।

प्रफुल्लबाबू की दो रातें बहुत कठिन कटीं, कुछ पता नहीं चलता था कि क्या होने वाला है । अमूल्य के पास कुर्सी पर बैठे बैठे रात बीत जाती । मगर अमूल्य की मां का खयाल करके बाहर वह खबर यही भेजते कि अमूल्य अच्छा हो रहा है, खतरे की कोई बात नहीं है । आखिरकार चौथे रोज़ छोटे डाक्टर ने, जिसे कैदियों से सचमुच सहानुभूति थी, जैसे सब के घावों पर ठंडा फाहा रखते हुए घोषणा की कि अब अमूल्य बाबू डेंजरज़ोन को पार कर आए हैं, ज़ख्म को हील होने में बस जितना समय लगे......

ज्योती को जेल वालों ने कोरी प्रतिहिंसावश अलग एक बारक में चोर और गिरहकट छोकरों के साथ बंद कर रखा था । हफ्तों से इस बात के लिए संघर्ष चल रहा था कि ज्योती को भी यहीं अपने बड़े भाई के संग रखा जाय, कि साधारण इंसानियत की बात यही है वग़ैरह वग़ैरह मगर जेलवालों पर किसी बात का कोई असर नहीं था । उन चोर और गिरहकट छोकरों के बीच मारे गुस्से और तिलमिलाहट के ज्योती सचमुच पागल हुआ जा रहा था, चिल्ला चिल्ला कर गालियां बकता, अपने कपड़े फाड़ डालता, बंदरों की तरह दांत निकालकर

काटने के लिए दौड़ता, यह सब कुछ हो रहा था, जेलवाले उसे आगरे के पागलखाने भेजने तक की बात कर रहे थे ! प्रतिहिंसा की भी कोई हद है ? बर्बरता की भी कोई सीमा है ?

प्रफुल्लबाबू ने छोटे डाक्टर से यह बात कही तो उसने शर्म से सिर झुका लिया। बोला—मैं तो कहते कहते हार गया....कितनी बार और कितनी तरह से मैंने कहा होगा मगर उनके कान पर जूं नहीं रेंगती। उल्टे मैं बुराई मोल ले रहा हूं। पर उसकी मुझे चिन्ता नहीं है। यही ढर्रा रहा तो मैं तो छोड़ छाड़कर चल दूंगा, इस रोज़ रोज़ की किचकिच से तो जान बचेगी, कहीं किसी क़स्बे में जाकर प्रैक्टिस करूंगा, चाहे दो पैसा कम भी मिले मगर सन्तोष तो रहेगा। इतना अन्याय नहीं देखा जाता, जैसे सताने ही पर कमर कस ली हो सबों ने......

छोटा डाक्टर तो इसी तरह पता नहीं कब तक बोलता चला जाता, मगर तभी एक वार्डर ने आकर खबर दी कि सपरूंडंट साहब बुला रहे हैं।

बेचारे प्रफुल्लबाबू दिल ही दिल में हैरान हो रहे थे, भला बताइये इस हरमजदगी की भी कोई इन्तिहा है, यानी खामखा, बैठे बिठाए लोगों को सता रहे हैं, जैसे वह खुद अपने आप में एक लक्ष्य हो और हो भी क्यों न, इसी बात की तो उन्हें तनख्वाह मिलती है—लोगों को परीशान करने की नयी नयी तदबीरें निकालने के लिए ! ज़रा सोचिए उस लड़के को गिरहकटों के संग बन्द कर रखा है और खुद मुझे उस चार सौ बीस के संग बन्द कर दिया ! वह तो कहिए मैं पहले ही खम ठोंककर मैदान में उतर न जाऊं तो शायद अब तक वहीं बन्द होता और रूपया ग़बन करने के दो चार हथकंडे सीख रहा होता

...जेल के अन्दर भी यही बात और बाहर भी यही बात—बाहर वह मजिस्ट्रेट साहब हैं जिन्हें बात करने की भी तमीज नहीं ! वाह रे न्याय और सुरक्षा के पहरेदार ! वाह रे जनता के सेवक !.... सारा ढांचा ही सड़ा हुआ है। समाज के दुश्मनों ने अपनी हिफाजत के लिए हुकूमत की यह इमारत खड़ी की है। सिवाय इसे तोड़कर गिरा देने के दूसरा चारा नहीं है...खूब साहब, सड़ा गला अनाज न खाइये तो वह आपका सर तोड़ देंगे ! आज मैं ने खोखा के सर का जख्म देखा—ओफ कितनी हनकर लाठी मारी है, सीसे वाली मूंठ पूरी घुस गयी है, भेजा निकल आया है, हे ईश्वर, कैसे हत्यारे हैं ! मगर घबराओ मत यारो, आज नहीं तो कल हमारी भी बारी आयेगी !

३४

अमूल्य की मां, टुटु (हां, सत्य ने ठीक सोचा था टुटु घूम फिरकर वापस आ गया है, नौकरी नहीं मिली) सत्य, उषा और नन्हें अरुण का यह परिवार लस्टम पस्टम चला जा रहा था जिसमें रूपए पैसों का भराव तो खैर कहां से होता मगर हां दूसरा कोई रीतापन नहीं था। कुल मिलाकर सुखी ही कहना चाहिए उसे। प्रफुल्लबाबू ने गाढ़े वक्त के लिए चार सौ रूपए बचाकर रखे थे, वह शायद इसी वक्त के लिए थे, बड़ा सहारा मिला उनसे। यह सही है कि सत्य ने कभी किसी बात से इनकार नहीं किया और न शायद कभी करता मगर उसकी हैसियत ही कितनी, एक सौ चालीस रूपया तनख्वाह मिलती थी और यही पचीस तीस रूपया ऊपर से, जो वह पत्रों में लेख-वेख लिखकर कमा लेता था। जो आजकल बन्द था। इन दिनों क्या होता है एक सौ चालीस-पचास रूपया ? रुपये की कीमत तीन आना भी तो नहीं है। बड़ी मुशकिल से काट कसर करके किसी भांति निबाह हो रहा था। और काट कसर भी आदमी करे तो काहे में करे, खाने में, कि कपड़े में कि काहे में। फिजूल-खर्ची को तो यों ही घर के बजट में दखल नहीं है।

एक दिन उषा ने पूछा - क्यों जी, तुम्हारे यहां कुछ तरक्की-वरक्की नहीं होती ? पांच बरस तो हो ही गये होंगे तुमको और तनख्वाह वही एक सौ चालिस——

सत्य ने कहा—वही एक सौ चालिस कैसे, एक सौ पन्द्रह से स्टार्ट किया था मैंने...पांच साल में पचीस रुपए तरक्की बहुत है...

उषा ने कहा—इतना चलता है तुम्हारा अखबार, कभी कोई बोनस-वोनस भी तुमको मिलते नहीं देखा.....

सत्य ने ठहाका मारकर हँसते हुए कहा—तुम्हारी बात! वहां हर रोज़ छँटनी की ही हवा गर्म रहती है और तुम्हें बोनस की पड़ी है। मेरे देखते देखते न जानें कितने लोग छांट दिए गए। मालिकों का बस चले तो सात आदमी का काम एक आदमी से करायें...और फिर मुझ पर तो आजकल उनकी खास कड़ी निगाह है।

उषा ने पूछा—क्यों ?

सत्य ने कहा—मेरी दूसरी ऐक्टिविटीज़ उन्हें पसन्द नहीं। लगता है यहां से बिस्तर गोल करने का वक्त आ गया। आज जेनरल मैनेजर ने मुझे बुलाया था....कहने लगा, मिस्टर सत्यवान, या तो आप नौकरी ही कर लीजिए या फिर लीडरी ही कर लीजिए.....

उषा ने पूछा—तुमने क्या कहा ?

सत्य—मैंने कहा, आप मेरे काम में कोई नुक्स देखें तो कहिए... कहना तो यह भी चाहता था कि आप मेरे फ़ादर कनफेसर तो हैं नहीं, कि आपको इस बात में भी दखल हो कि दफ्तर के बाद में कहां जाता हूं, क्या करता हूं, किससे मिलता हूं। मगर मैंने कहा नहीं, बात खामखा तूल पकड़ जाती।

उषा ने कहा—अरे, कही देते, क्या करता, निकाल ही तो देता कोई फांसी तो चढ़ा न देता......

सत्य ने कहा—तुम्हारी बात से मुझे बड़ी ताक़त मिलती है उषी,

मगर रोटी का मसला इतना आसान नहीं।

उषा ने कहा—वह तो मैं भी समझती हूं मगर यह अंधेर भी तो नहीं देखी जाती। वह क्या यह समझते हैं कि उन्होंने तुमको गुलाम मोल ले लिया है- ...

सत्य ने बड़ी सादगी से कहा—हां, वह तो ऐसा ही समझते हैं... आज तो खैर बात यों ही टल गयी, उषी, मगर पता नहीं क्यों मुझे लगता है कि अब ज्यादा दिन और चलेगा नहीं.....कुछ दूसरी भी जुगत करनी चाहिए......

उषा ने बहुत उत्साहित होते हुए कहा—मैं नौकरी कर लूं ?

सत्य ने कहा—कोई बुराई तो है नहीं.....

उषा ने कहा—मैं तो खुद इधर हफ्तों से सोच रही थी। अब तो अपना अरुण भी बड़ा हुआ. कुछ घंटों के लिए तो मुझको छोड़ ही सकता है। बस एक आया रखनी पड़ेगी, ढूंढ़-ढांढ़ कर सस्ती सी...

सत्य ने मुसकराते हुए कहा—तुम तो पहले से सब सोचे बैठी हो..

उषा ने कहा—जबसे अरुण का दूध छूटा तबसे यह बात मेरे ध्यान में है। तुमको ऐसा चक्की के बैल की तरह पिसता देखकर मुझे अच्छा थोड़े ही लगता है। मगर हां जब तक अरुण छोटा था, मजबूर थी। मगर अब तो वैसी बात नहीं है। अब तो वह मुझे छोड़कर रह सकता है ....

सत्य को बड़ा प्यार आया अपनी इस नन्हीं सी गुड़िया पर जो इतनी समझदार, इतनी दूरंदेश है।

क्या काम करोगी ?

किसी छोटे मोटे स्कूल में मास्टरी। और नहीं क्या गवर्नरी !

....ग्रेजुएटों को आजकल पूछता ही कौन है। लड़की हूं इसलिए थोड़ी उम्मीद भी है। लड़का होती तो कोई चालीस रुपए की क्लर्की को भी न पूछता....

सत्य ने दिल्लगी की—अच्छा तो अभी आप लड़की बनी हुई हैं! ब्याहने जोग लड़का हुआ मगर माता जी को अभी लड़की बनने से ही फुरसत ही नहीं ......

उषा ने लाज के मारे लाल होते हुए कहा—कैसी बात करते हो! ब्याहने जोग लड़का हुआ कहते शर्म भी नहीं आती ?

सत्य ने उषा की परीशानी का भरपूर आनन्द लेते हुए कहा—कोई झूठ कहता हूं—गांव में होतीं तो सूप में लिटाकर लड़का साल भर पहले ब्याह गया होता.....

उषा ने कहा—अपना भी ब्याह इसी तरह क्यों नहीं कर लिया।

सत्य ने कहा—मेरा क्या बस था, मां-बाप की गलती थी।

अरुण साहब ज़मीन पर बैठे अपने घोड़े का मुंह रगड़ रहे थे—शरीफ आदमी की तरह वह दम्पति के इस वार्तालाप में कोई दिलचस्पी नहीं ले रहे थे, चाहिए भी नहीं! घोड़े को घिस लिया तो उसे उठाकर दूर फेंक दिया और फिर गाय को उठा लिया और उसके संग वही हरकत शुरू कर दी। अपने काम में मशगूल थे, दीन दुनिया से उन्हें कोई बहस नहीं थी।

सत्य ने लपककर उन्हें गोद में उठाया तो उन्होंने बड़े जोर से प्रतिवाद किया और पूं पूं करने लगे।

उषाने कहा—उतार दो न, वह खेलना चाहता है, और पिता जी हैं कि उनका प्यार उमड़ा है! खेलते लड़के को कभी गोद में नहीं लेना चाहिए इतनी सी बात तुमको नहीं मालूम ? !

और खेलती लड़की को ? कहते हुए उषा को गोद में उठा लिया।

यह तुम्हें क्या हो गया है ? भूत सवार हो जाता है क्या कभी कभी ? लाऊं झाड़ू ! छोड़ दो-मुझे-यह-सब बात-पसन्द-नहीं-अभी-कोई-आजाये-तो-क्या-कहे ?

कहेगा क्या, यही कहेगा Mr and Mrs Satyavan are making love. Nothing wrong there. You are my wife. It is perfectly legal. If you question that I can produce documents. They are safely deposited in my archives !

उषा ने हाथ पैर फटकारते हुए कहा—देखो मुझे सीधे से ज़मीन पर उतार दो वर्ना ठीक नहीं होगा, मैं चिल्ला पड़ूंगी, मुझे यह सब खेल पसन्द नहीं। हमलोग बड़े बड़े हुए अब हमको यह छोकरपन शोभा नहीं देता—नये नये जोड़ों के लिए भी तो कुछ छोड़ो. . . .

सत्य ने कहा—हम सदा नये रहेंगे। हम कभी पुराने नहीं होंगे।

उधर अरुण ने क्या समझा कि उसकी मां को बप्पू (पता नहीं उसको यह बप्पू कहना किसने सिखा दिया !) मार रहे हैं, भला यह कैसे हो सकता है, वह सजग प्रहरी की तरह सन्नद्ध हो गया और चीख चीख कर रोने लगा !

तुरत उसका असर हुआ, सत्य ने झट उषा को जलते हुए आलू की तरह ज़मीन पर रख दिया !

उषा ने झिड़की के स्वर में कहा—देखो तो, तुमने हँसते-खेलते बच्चे को लेकर रुला दिया, बड़े मुरहे हो !

ग़लत थोड़े ही कहती हो। मूल में ही तो मैं पैदा हुआ था।

वह तो मैं तुम्हारी कुंडली देखे बिना भी जान गई, तुम्हारे लच्छनों

से....मगर आज यह इतनी खुशी किस बात की उबली पड़ रही है ? क्या नौकरी से छुट्टी मिल जाने की संभावना पर ?

उंह, वह सब तो लगा ही रहता है उषी । जो पड़ेगी, झेल ली जायगी, झूठमूठ घबराकर जान देने वाले दूसरे होते होंगे...दूसरे अब तो मुझे तुम्हारी बहुत बड़ी ताक़त मिल गई....

वह नई ताक़त क्या मिल गयी जो पहले नहीं थी !

पहले भी थी मगर अब और हो गयी...और सच बात यही थी कि जो भराव (मुझसे सुखी कौन है ? मुझे अब और क्या चाहिए ?) सत्य इस वक्त महसूस कर रहा था, वह इसके पहले कभी उसने नहीं महसूस किया था । उषा अब उसकी पत्नी ही नहीं, साथी थी, हमसफर थी, हमदम थी, असल चीज़ यही है ।

इस वक्त उसकी खुशी का यह आलम था कि जैसे ज़मीन से कुछ ऊपर वह हवा में पैर बढ़ाता चला जा रहा हो, मगर यह एक अजब बात थी कि अम्मां से अलग होने का ज़ख्म आज तक हरा था । बहुत सोच विचार कर ही सत्य ने यह क़दम उठाया था और उसका असर भी आपसी संबन्धों पर अच्छा ही हुआ था, मगर तब भी... सत्य के दिल में एक चिलक सी उठती । हमेशा नहीं, उस वक्त जब उसके दिल का प्याला खुशी से छलक रहा होता, जैसे कि इस वक्त । बस यही एक ख़याल आता कि काश, अम्मां भी हमारे साथ होतीं ! अरुण उन्हें पूरे वक्त उलझाये रखने के लिए काफी था ! सच कहता हूं उनकी उम्र बढ़ जाती । बच्चों का नटखट खिलाड़ीपन बुड्ढों पर संजीवनी का काम करता है..मगर नहीं वह नहीं होना था, सितारों का खेल ही कुछ इस तरह का है ...इसमें ग़लती शायद किसी की नहीं थी, युगसंधि में पैदा होने की जहां बहुत सी क़ीमत अदा करनी

पड़ती है, वहां यह भी एक क़ीमत है....नया ज़माना जब आयेगा तो वह इन टूटते फूटते परिवारों को भी खड़े होने के लिए एक नई बुनियाद देगा....

यही सब सोचते सोचते और यह इरादा करके कि आज दफ़्तर से सीधा अम्मां के पास चला जाऊंगा, सत्य खा पी कर दफ़्तर चला गया।

३५

मेज पर प्रबन्ध संपादक का रुक्का पड़ा था —मुझसे फौरन मिलिए।

प्रबन्ध संपादक के संग उसकी अधिकांश बातचीत अंग्रेजी में हुई थी। पर उसे हिन्दी करके दिया जा रहा है।

प्रबन्ध संपादक जी ने कहा—मिस्टर सत्य, कल आपके जाने के बाद मैं फिर आपके ही बारे में सोचने लगा कि आपका यहां रहना अब उपयोगी होगा या नहीं ?—

सत्य ने कहा—श्रीमान्, 'अब' का मतलब मैं नहीं समझा। कल से आज तक में ऐसी क्या नयी बात हो गयी ? मैं तो समझता हूं कल स्थिति का काफी स्पष्टीकरण हो गया था।

प्रबन्ध संपादक जी ने कहा—मिस्टर सत्य, बात कल से आज तक की नहीं है और न मैं समझता हूं कल स्थिति का काफी स्पष्टीकरण ही हुआ था.....

सत्य ने कहा—अब आप जैसा समझें। मैंने तो अपनी तरफ से बात साफ कर दी थी·····

प्रबन्ध संपादक जी ने कहा—मिस्टर सत्य, आप दो टूक बात करते हैं, मैं इस चीज़ की क़द्र करता हूं मगर मैं सोचता हूं कि हमें अब आपकी सेवाओं से वंचित होना ही पड़ेगा—

सत्य ने गुस्से को पीकर शब्दों को जैसे चबाते हुए कहा—

इस बात को आप यों क्यों नहीं कहते कि आप मुझे काम से अलग कर रहे हैं ?

प्रबन्ध संपादक जी ने उसी ठंडे स्वर में कहा—आपको वे शब्द प्रिय हों तो आप वैसा ही समझ लें। मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

सत्य ने पूछा—क्या आप मुझे यह बतलाने की कृपा करेंगे कि मुझे क्यों कार्यमुक्त किया जा रहा है ?

प्रबन्ध संपादक जी ने कहा—आप हठ करेंगे तो मैं बतला ही दूंगा, पर वह अनावश्यक सा ही है ...आपके विचार और आपके स्वभाव दोनों ही के संग हमारा निर्वाह कठिन है।

सत्य नेकहा—आपका आशय है कि मैं बहुत उद्धत हूं, बहुत झगड़ालू हूं !

प्रबन्ध संपादक जी ने बहुत नाटकीय ढंग से कान पर हाथ रखते हुए कहा—नहीं, वैसा मैं कैसे कह सकता हूं। जीवन में मैंने कभी असत्य भाषण नहीं किया।...मिस्टर सत्य, झगड़ालू तो आप नहीं हैं, मगर आपके स्वभाव में चिन्तनस्वातन्त्र्य ज़रा ज्यादा है—क्षमा कीजिएगा मिस्टर सत्य, इतना चिन्तनस्वातन्त्र्य और इतना आत्म-गौरव चलता नहीं जीवन में....

सत्य को लगा जैसे किसी ने मोमबत्ती की लौ उसकी ठुड्डी से ला-कर लगा दी। बोला—परामर्श के लिए अनेक धन्यवाद, मैं तो....

प्रबन्ध संपादक जी ने बात काटते हुए कहा— अब यही देखिए न, आपके शब्दों में कितनी तिलमिलाहट है ! आप किसी की बात सह नहीं सकते—मनुष्य को सहनशील होना चाहिए। जीवन में सहनशीलता ही सफलता की सीढ़ी है.....

सत्य ने कहा—मगर मैं तो....

प्रबन्ध संपादक जी ने दुबारा बात काटते हुए कहा—मैं और कह क्या रहा हूं मिस्टर सत्य, आपके स्वभाव में हिंसा की मात्रा बहुत है, आपका स्वभाव विद्रोही का है। हमें विद्रोही नहीं चाहिए। हमें आदेश पालन करने वाले चाहिए। आप आदेश का पालन नहीं करते। आप सदा अपने मन की करते हैं। समाचारों के संपादन तक में... कोई कहां तक निगरानी रख सकता है.....आप अपना काम कम्युनिस्ट चतुराई से करते हैं मगर मेरी आंखों को तो आप धोखा दे नहीं सकते ....

सत्य का भी पारा अब गर्म होने लगा—मुझे कभी किसी को धोखा देने की जरूरत नहीं पड़ी.....

प्रबन्ध संपादक जी ने भी डपटते हुए कहा—तब फिर आप रूस की खबरें क्यों इतनी मोटी मोटी सुर्खी लगाकर छापते हैं? यह देखिए आज आपने किया है...कहते हुए उन्होंने अखबार सत्य की तरफ बढ़ाया।

सत्य ने अखबार बिना लिये, खबर पर नजर दौड़ाकर कहा—इसमें बुरा क्या किया मैंने? आप इस खबर को महत्वपूर्ण नहीं समझते कि जब बाक़ी दुनिया में और खुद हमारे देश में भी, चीज़ों के दाम लगातार बढ़ते जा रहे हैं और आसमान से बात करने लगे हैं, सोवियत रूस में तीसरी बार यह प्राइस कट हुआ है, तमाम चीजों के दाम कम हुए हैं और लोगों की क्रयशक्ति बढ़ी है?

प्रबन्ध संपादक जी ने खिसियाते हुए कहा—खबर महत्वपूर्ण थी या नहीं थी, इस प्रश्न पर मैं आपसे बहस नहीं करना चाहता, आपको

आदेश क्या दिया गया था ? आपको आदेश दिया गया था कि रूस की खबरें कम से कम दीजिए और कभी अगर देनी ही पड़ें तो किसी ऐसी ही वैसी जगह खूब पतला सा हेडिंग लगाकर दे दिया कीजिए... मगर आपको आदेश पालन से क्या ग़रज़, आपका बस चले तो आप पहले पेज पर बैनर हेडलाइन देकर इस खबर को छापते ! अनुशासन, कर्तव्यपालन, इस सब का तो जैसे हिन्दुस्तान में किसी को कोई विचार ही नहीं। इसी से तो यह देश तबाह हुआ जा रहा है।

सत्य ने स्थिति को समझकर अपनी तरफ से बात खत्म करते हुए कहा—श्रीमान् जी, ऐसा अंध अनुशासन तो आपको बैलों की नियुक्ति से ही प्राप्त होगा......

सत्य की इस बात पर प्रबन्ध संपादक जी का जो हाल हुआ, वह देखने क़ाबिल था। नपुंसक क्रोध से कांपते हुए बोले—तो....तो....म्....म्...मुझे बैल ही चाहिए।....अगले महीने से आप अपने को कार्यमुक्त समझें।

३६

शाम को सत्य घर के लिए चला तो उसके मन की बड़ी विचित्र सी स्थिति हो रही थी। साइकल के पैडिल बहुत धीमे और भारी चल रहे थे और मन का आकाश पता नहीं कैसी कैसी दुश्चिन्ताओं से घिरा हुआ था—क्या होगा अब ? लड़ तो आये बहुत ठाठ से, रूबरू, मगर यह भी कुछ सोचा कि अब होगा क्या ? थोड़ा दब ही जाते तो ऐसी कौन सी हेठी हो जाती ? हमेशा झगड़ा किया ही नहीं जाता, कभी कभी झगड़ा बचाया भी जाता है। सब काम पहलू बचाकर करना चाहिए, यह नहीं कि दूर से मेढ़े की तरह दौड़ते हुए आए और ईंट से सिर दे मारा ! जानवर और आदमी में यही तो फर्क है कि जानवर सोच नहीं सकता, आदमी सोच सकता है। सच सत्य, तुम्हारे reactions अकसर बहुत animal तरीके के हो जाते हैं। मैनेजिंग एडिटर से तुम जा टकराये, इससे बताओ किसको क्या फायदा हुआ ? सबसे पहले तो अब तुम्हारे सामने रोटी का सवाल पैदा हो गया। दूसरी बात, अखबार में अब तक जो थोड़ी बहुत ऐसी खबरें निकल भी जाती थीं उनसे भी अब हाथ धो बैठो। नहीं, दो एक हैं जो बराबर इसकी कोशिश में रहेंगे मगर अब वह बात कहाँ ! अपना मोर्चा बहुत कमजोर हो गया। कहने का मतलब यह कि तुम्हारे झगड़ा करने से या ठकुरैती अक्खड़पन से बात करने से न तो तुम्हारा कोई फायदा हुआ और न समाज का। यह सरासर लड़कपन था तुम्हारा जो आज मैनेजिंग एडिटर से भिड़ गये। जरा सा एक polite जुमला

कह देते, बात बन जाती, मगर उसका खयाल आपको होता तब तो !' आप तो सेर को सवा सेर बनने की धुन में थे ! सोलहों आना लड़कपन था, सोलहो आना ।....खैर वह तो जो हुआ सो हुआ—बीती ताहि बिसारि दे । बिगड़ी बात अब तो बनने से रही । अब आगे क्या हो यह बताओ । चारों तरफ तो कम्युनिस्ट जूजू बनाकर रखे हुए हैं, अखबार वाले यों ही उनकी तरफ से बहुत चौकन्ने रहते हैं, गोया पता नहीं कम्युनिस्ट क्या कर डालेंगे, दूसरे तमाम अखबारों में ज़ोर-शोर से छँटनी चल रही है । किसी कालेज-वालेज में जगह मिलने का कोई ज़िक्र ही नहीं । किसी गवर्नमेन्ट कालेज में तो जगह मिलेगी नहीं । एक तो कम्युनिस्ट—सबसे बड़ा disqualification—दूसरे अनट्रेण्ड । खाली-खूली एम० ए० को कौन पूछता है आजकल, टके सेर भी तो कोई पूछता नहीं । हां मुमकिन है बहुत दौड़ भाग करने से प्राइवेट कालेज में जगह मिल जाय । मगर प्राइवेट कालेज में जाना तो अपनी मिट्टी पलीद करना है । हफ्ते में चालीस पीरियड पढ़ाइए, ऊपर से दिन में दस बार मैनेजिंग कमेटी वालों को मक्खन लगाइये और जरूरत पड़े तो सेक्रेटरी साहब के घर के लिए तरकारी भाजी भी खरीद कर लाओ....न बाबा, मेरे किए न होगा । मुझे चिनियाबदाम का खोंचा लगाना मंजूर मगर ऐसी मास्टरी मंजूर नहीं !......दिमाग तो बहुत हैं हुजूर के— यह भी मंजूर नहीं और वह भी मंजूर नहीं और लड़ने में भी आप बड़े हातिम हैं तो फिर आप क्या कीजिएगा ? कुछ कीजिएगा भी या यों ही तीन तीन पेटों के कुएं भर जायंगे ? अरे करूंगा क्या, फ्रीलांसिंग करूंगा । है तो बहुत कुछ आकाशवृत्ति वाला मामला मगर कुछ तो आमदनी हो ही जायगी । सभी की हो जाती है, मेरी भी हो जायगी । लेकिन उसी के भरोसे अब नहीं चलेगा । उषी को अब जल्दी

ही कुछ करना पड़ेगा। .....मगर हो यार तुम अच्छे-खासे गावदी, बैठे बिठाये मुसीबत मोल ले ली। मोल तो ली ही है मुसीबत तुमने—आ बैल मुझको मार और काहे को कहते हैं.....

इतनी देर तक तो यह विचारधारा चलती रही, मगर तभी पता नहीं कहां से पेट के मरोड़ की तरह उसने अपने सीने में विद्रोह उठता हुआ महसूस किया अच्छा बस अब बन्द कीजिए यह लानत फटकार। मैंने कह दिया मुझसे किसी साले की बात नहीं सही जाती। तुम जानते हो मैं यों ही काफी बचकर चलता हूं, अपनी तरफ से कोई ज्यादती नहीं करता, लेकिन तब भी अगर कोई मुझे दुखियाता है तो फिर मेरी बर्दाश्त से बाहर हो जाता है। भला बताओ मैंने ऐसी क्या बारूद भर दी थी अखबार में जो प्रबन्ध संपादक जी पर इतनी गराँ गुजरी ? अब किसी को अगर इतनी बात की भी आज़ादी न हो तो यह कैदखाने से भी बढ़कर गुलामी है ! देखा जायगा जो होगा, कोई न कोई रास्ता निकलेगा ही। स्वाभिमान खोकर मैं कुछ भी लेने को तैयार नहीं हूं और सच बात तो यह है कि स्वाभिमान खोकर किसी को कुछ मिलता भी नहीं और अगर कुछ मिलता भी है तो वह टिकता नहीं। आदमी जिन्दगी में कुछ भी करे, उसकी बुनियाद स्वाभिमान होना चाहिए। स्वाभिमान खोकर आदमी को बस कुत्तों जैसा दुरदुराना हाथ लगता है....एडिटर साहब जिस तरह बात कर रहे थे उसका बस यही एक जवाब था। कुछ बुरा नहीं किया....रही यह मुसीबत, वह आज नहीं तो कल आने वाली ही थी, तुम लाख करो कोई न कोई बात निकल ही आती ....—

इसी सब उधेड़बुन में सत्य साहब घर आ गये और उन्हें अम्मां के पास जाने का खयाल भी नहीं आया और अगर आया ही होता तो शायद वह आज न जाता—इतनी बड़ी वारदात को सबसे पहले

उषी को बतलाना ज़रूरी था।

उषी बाहर वाले बरामदे में ही मिली। कोई अख़बार हाथ में लिये हुए थी और अरुण साहब, बीते भर के आदमी, कुर्सी पकड़ कर खड़े हुए अख़बार को मुस्तक़िल फटाफट हाथ मार रहे थे। उनके हाथी-घोड़े गुड्डे-गुड़ियां सब खिलौने पास ही ज़मीन पर पड़े अपने नाम को रो रहे थे। अरुण साहब को उनमें ज्यादा दिलचस्पी नहीं थी, उनके लिए सबसे अच्छा खिलौना उनकी मां थी और मां के हाथ में अगर कोई किताब या अख़बार हुआ तो वह।

सत्य घर आया तो तबीयत बहुत खुश तो थी नहीं। एक तो यों ही दिन भर की थकन और चिड़चिड़ापन, दूसरे यह वाकया। तबीयत काफी बुझी बुझी सी थी बावजूद इसके कि वह खुश रहने की कोशिश कर रहा था। उषा ने इतना सब तो समझा नहीं और समझती भी कैसे। उसने कुर्सी से उठते हुए अपनी उसी लुभावनी मुसकराहट से इस थके हुए बटोही का स्वागत किया और कहा—इस लड़के को पढ़ने से अदावत है, पता नहीं कहां का कुलच्छनी पैदा हुआ है। तुम देख लेना तुम्हारा लड़का घसियारा निकलेगा, घास छीलेगा—

सत्य ने भी मुसकराकर कहा—ठीक तो है, बाप जान भी तो यही करते हैं।

सत्य ने बात मुसकराकर ज़रूर कही थी मगर तब भी अगर स्वर में नहीं तो उसकी ध्वनि में और उस ध्वनि की गूज में एक भारीपन ज़रूर था जिसे उषा ने पकड़ लिया। कल की बात भी अभी उसके दिमाग़ में ताज़ा थी। बोली—दफ्तर में आज कोई नया गुल तो नहीं खिला ?

सत्य ने कहा—नहीं, कोई खास बात नहीं, आज नोटिस मिल गया।

उषा ने कहा—वह तो कल ही मिल गया था।

सत्य ने कहा—वह नोटिस थोड़े ही था, नोटिस तो आज मिला कि बोरिया-बधना लेकर अब खिसको।

उषा को सहसा विश्वास नहीं हुआ। बोली—सच ?

सत्य ने कहा—आज झड़प हो गई मैनेजिंग एडिटर से।

उषा ने पूछा—किस बात पर ?

सत्य ने जवाब दिया—और किस बात पर होती। उनका खयाल है कि मैं उनके अखबार को कम्युनिस्ट बनाये दे रहा हूं....सोवियत के नये प्राइस कट की खबर मैंने जरा अच्छी तरह display करके दे दी थी। इसी पर आगबबूला हो गये। आज मेरी पेशी हुई।

उषा ने कहा—कहते होंगे क्यों फ्लेश किया ढंग से—किसी कोने-अँतरे में दे देते ताकि खबर kill हो जाती।

सत्य ने प्रसन्न होते हुए कहा—वही तो बात है उषी।...पता नहीं सोवियत रूस के नाम से इन सालों की जान क्यों निकलती है ! किसी शुमार में तो आप हैं नहीं और चले हैं दुश्मनी भुनाने—

उषा ने कहा—छुटभैये ही तो और कूदते हैं ! मालूम कैसे हो कि छुटभैये हैं !.....तो फिर तुमने कहा क्या ?

सत्य ने कहा—मैंने कहा, खबर इतनी महत्वपूर्ण थी, मैं कैसे उसे सातवें पेज के छठे कालम के नीचे पतला सा बारह प्वाइंट का हेडिंग लगाकर दे देता, मैं तो नहीं कर सकता ऐसा। प्रबन्ध संपादक जी बोले, आपको आदेश क्या दिया गया था। मेरे जी में तो आया कि कहूं ऐसे आदेश की ऐसी तैसी, मगर मैंने बहुत बनाकर बात कही, मैंने कहा, ऐसा अंध आदेशपालन तो आपको बैलों की नियुक्ति

से ही प्राप्त होगा। इस पर जानती हो उस खरदिमाग ने क्या कहा? बोला—तो फिर मुझे बैल ही चाहिए ....बस इतनी सी बात हुई.....

उषा ने कहा—ठीक तो कहा तुमने। साले हाथ-पैर बांधकर रखना चाहते हैं। अच्छा किया तुमने डटकर जवाब दिया।

सत्य ने चिन्ता के स्वर में कहा—वह सब तो ठीक है उषी, मगर अब होगा क्या? नौकरी इतनी आसानी से तो मिलती नहीं आज-कल—

उषा ने सत्य की बांह पकड़कर अपनी तरफ खींचते हुए कहा—चलो अभी तो मुँह हाथ धोओ, नाश्ता-पानी करो, फिर सोच लेंगे, कोई न कोई रास्ता निकल ही आयेगा। अगर कुछ भी नहीं होता, तो अब कुछ दिन घर पर तुम बैठना मैं तुम्हें कमाकर खिलाऊंगी। अभी कल ही हम लोगों ने बात की थी कि मुझे भी कहीं कोई काम ढूंढ़ लेना चाहिए। अब ज़रा और जी जान से मुझको काम ढूंढ़ना पड़ेगा, बस।

सत्य ने पूछा—मिल जायेगा?

उषा ने सरल आत्मविश्वास से कहा—क्यों नहीं मिलेगा? बाबू जी का अच्छा खासा असर है कुछ लोगों पर। काम मिल जायेगा, तुम घबराओ मत....हां यह है कि अब ज़रा और कम में निबाह करना पड़ेगा सो उसमें कोई बात ही नहीं। हम लोग तो तकलीफ भी उठा सकते हैं—अरुण को कोई तकलीफ न हो बस इस बात का ख्याल रखना पड़ेगा। अरुण को कोई तकलीफ नहीं होनी चाहिए वर्ना मेरी बर्दाश्त के बाहर हो जायगा। खुद हम लोगों पर जितनी तकलीफ पड़नी हो पड़े उसका मुझे ज़र्रा बराबर भी ग़म नहीं। जहां सब मुसीबतों के शिकार हैं वहां एक हम भी सही...मगर सुनो

वीरेन्द्र को अब रुपए कहां से भेजोगे ?

सत्य ने कहा—उसका अब क्या सवाल है. भेज ही नहीं सकता। लिख दूंगा कि नौकरी छूट गयी है। वीरेन्द्र बहुत समझदार आदमी है, झट समझ जायगा।

उषा ने कहा—मगर समझने से क्या होगा खर्च का मसला कैसे हल होगा ?

सत्य ने कहा—कहीं और हाथ-पैर मारेगा, मैं तो बेबस हूं...

उषा के जी में एक बार आया कि कह दे—मेरे गहने हैं। तुम चाहो तो.....

मगर फिर रुक गयी। जिधर को हमारा रुझान है उधर मुमकिन है हमें खुद उन गहनों की ऐसी ही जरूरत पड़े....हम आजाद भी तो नहीं हैं हमारे साथ अरुण जो है। जब तक मियां बीबी अकेले रहते हैं तब तक एक बात रहती है और जब घर में बच्चा हो जाता है तब सब कुछ उसी के इर्द-गिर्द घूमने लग जाता है। तब फिर वैसी कुलांचें नहीं भरी जा सकतीं। मान लो आज हममें से कोई बीमार ही पड़ जाय। भगवान न करे ऐसा हो लेकिन मान लो आज अरुण ही सख्त बीमार पड़ जाय तो क्या हो ? उसके इलाज के लिए घर में रुपए हैं ? नहीं हैं, कानी कौड़ी नहीं है। तब फिर इन्हीं गहनों का तो सहारा रहेगा—या तो फिर अम्मां बाबू के आगे हाथ फैलाया जाय। तो भाई, हाथ फैलाना तो हाथ फैलाना है चाहे जिसके भी आगे फैलाया जाय। अपने बेटे के इलाज के लिए उनसे भी मदद लेना पैसे की—मुझे बुरा तो बहुत लगे। यों मजबूरी की बात और है। जब मांगना ही पड़ेगा तो जाऊंगी कहां, झख मारूंगी मांगूंगी, लेकिन बड़ी सख्त ठेस लगेगी मेरे स्वाभिमान को, यह मैं जानती हूं। तुम्हीं सोचो न, बात इन पर

आकर गिरती है और हम और ये दो थोड़े ही हैं।......यही सब विचार कर उषा चुप रह गयी।

उधर सत्य खा पीकर बिस्तर में आंख मूंद करके लेटा। बरसात शुरू हो गयी थी।

उषी ने कहा—कैसी उमस है। एक पत्ता जो डोलता हो।

सत्य ने कहा—सचमुच आज तो हद हो गयी। बदन ऐसा चिपचिपा रहा है कि कुछ पूछो मत।

उषा की बात का जवाब देकर सत्य फिर अपने ख़याल में डूब गया। उषा ने समझा, बहुत चिन्तित हैं। सत्य चिन्तित था सही मगर उतनी ही बात न थी। इस समय उसका शरीर दिन भर की थकान और तनाव से चूर था, मन चिन्तित भी कम नहीं था, बावजूद उषी की तमाम बातों के, लेकिन मन में थकान नहीं थी। पता नहीं कैसी एक स्फूर्ति वह अपने अन्दर महसूस कर रहा था, न जाने कैसी एक असम्भव अजेय ताक़त जिससे अन्दर ही अन्दर वह इस वक्त सिंच रहा था: कितना बदल गयी है उषी! पहले अगर कहीं ऐसी कोई बात हो गयी होती तो पता नहीं कै रोज उसका मुंह सीधा न होता। कहती: क्यों नहीं साहब, आप तो रिवोल्यूशनरी हैं! रिवोल्यूशनरी को आग तो होना ही चाहिए, किसी ने कोई बात कही नहीं कि आप उसके ऊपर चढ़ बैठे! कभी किसी की बात की ताब थोड़े ही न लाना चाहिए वर्ना फिर रिवोल्यूशनरी कैसा! अरे साहब, क्या मैं पूछ सकती हूं वह एतराज़ क्यों न करे, उसने क्या आपके प्रोपोगंडे के लिए अखबार निकाला है?! अपना प्रोपोगंडा करना है तो अपना अखबार निकालिये, और फिर उसमें जो चाहिए लिखिये, आपको कौन मना करता है, मगर यह क्या,

तोरे पैंजमवा में हमरो गोड़ (तेरे पाजामे में मेरा भी पैर) ! गधा ही होगा वो जो इस बात पर भी एतराज़ न करे...और फिर आपको इस बात का भी तो कुछ ख़याल होना चाहिए कि नतीजा क्या होगा इसका.......शादी आपने कर ली, बच्चा आपने पैदा कर लिया मगर अपनी ज़िम्मेदारी का कोई एहसास न हुआ आपको.... और हो भी कैसे, आपको तो ट्रेनिंग ही इस बात की दी जाती है कि घर वालों को घास भूसा समझो, जो घर वालों के प्रति अपनी ज़िम्मेदारी समझे वह भी कोई रिवोल्यूशनरी है ! तैश ही तैश में जो चाहे कर डालिए, आपके लिए सब जायज़ है क्योंकि आप रिवोल्यूशनरी हैं ! कम्युनिस्ट हैं ! तो फिर सोचने विचारने की क्या ज़रूरत, दिमाग़ को ठंडा रखने की भी क्या ज़रूरत, लीजिए दियासलाई और दिखा दीजिए घर को, सब भसम हो जाय और आपका भी पाप कटे। बहुत कुछ ऐसी ही टेढ़ी टेढ़ी बातें करती या शायद बिलकुल ही मुंह फुला लेती और कुछ भी न कहती और पता नहीं कै रोज़ मुंह फुलाये रहती, यहां तक कि घर में सांस लेना ज़हर हो जाता.. ....वर्ना देखो कैसे कायापलट हो गया है उसमें, कितनी ख़ूबसूरती से उसने लिया चीज़ को और कितनी ताक़त दी मुझको। जीवनसंगी का मतलब यही है। जो ज़िन्दगी के हर मोड़ पर तुम्हारे साथ रहे वही तो जीवनसंगी है। मीठा मीठा गप और कड़आ कड़आ थू वाला कभी जीवनसंगी नहीं हो सकता। सचमुच आज उषी ने मुझको बड़ी ताकत दी। मैं समझ रहा था कि अमूल्य के परिवार के संग उसका यह गहरा संसर्ग उसे बदल रहा है, उसकी बातों से ही पता चल जाता था मगर वह इतना बदल गयी है, अपने सिर आई हुई मुसीबत को भी इतने खुशी खुशी झेल लेगी यह मैंने नहीं सोचा था। दूसरे की तकलीफ में हमदर्दी करना आसान होता है, अपने पर पड़ी हुई तकलीफ़

को झेलनी मुश्किल ।.....मगर नहीं मेरा सोचना ग़लत नहीं निकला। उषी का तो मानसिक कायाकल्प हो गया है। सच बात है, उषी जैसा जीवनसंगी मुश्किल ही से मिलता है। उसमें कभी कोई खोट नहीं थी। घर का मोह किसे नहीं होता? दुनिया में कौन है जिसे घर का मोह नहीं होता? वही तो उषी को भी है। तो उसमें बुराई क्या है? हां अब इतना और हुआ कि संघर्ष की इस ज़िन्दगी में घर के मोह की क्या मुनासिब जगह है, यह भी उसकी समझ में आ चला है और यह बहुत बड़ी बात है। कोई मामूली बात नहीं है यह। बहुत बड़ी बात है। इसी में तो ज़िन्दगी के सुख का बीज है, इसी संघर्ष में। मार्क्स से उसकी लड़की ने पूछा—आपको किस चीज़ में सबसे ज्यादा सुख मिलता है? मार्क्स ने फौरन जवाब दिया—संघर्ष में। और बिलकुल सच बात है, सत्य और न्याय के लिए संघर्ष करने से बड़ा सुख कोई नहीं है और खास कर तब जब तुम्हारा जीवनसंगी पैर पकड़कर तुम्हें पीछे को घसीटता नहीं बल्कि मज़बूत क़दमों से तुम्हारे संग संग चलता है, अपनी शक्ति भी तुमको दे देता है जैसे कि उषा। इसके बाद फिर कुछ चाहने को नहीं रह जाता। यही चरम सुख है। बर्नर्ड शॉ ने भी बहुत कुछ यही बात कही है। उससे किसी ने पूछा—जीवन में सुखी रहने का क्या रहस्य है? बर्नर्ड शॉ ने जवाब दिया—तुम्हारा मन जिस काम की गवाही दे उससे अपनी ज़िन्दगी को इतना भर दो कि तुम्हें यह सोचने का अवकाश ही न मिले कि तुम सुखी हो या नहीं....उषी ने एक बार मुझसे पूछा था—विवाह अभिशाप होता है कि वरदान। याद नहीं, उस वक्त मैंने क्या कहा था। लेकिन मैं समझता हूं खुद अपने मन में उसको अब जवाब मिल गया होगा। विवाह जीवन का कितना बड़ा वरदान है, कोई इस वक्त मेरे दिल से पूछे! कोई दुविधा नहीं रह जाती तो कर्म की कितनी राहें खुल जाती हैं....

सत्य बिस्तर पर पड़ा पड़ा इन्हीं ख़यालों में डूब उतरा रहा था। उषा ने समझा—चिन्ताओं से बोझिल मन विश्राम कर रहा है। उसने छेड़ना ठीक नहीं समझा। वह अपने बिस्तर पर पड़ी पड़ी कोई किताब पढ़ती रही। उसे क्या पता कि उसने सत्य के थके हुए अंगों पर कैसा ठंडा मरहम रख दिया है।

पता नहीं अपनी कल्पनाओं की झील में हलकी हलकी चंदन बयार के संग संग अपनी नाव खेते खेते सत्य को कब नींद आ गयी।

उस वक्त वह जो आदमी उषा के देखते देखते लोरियों की तरह मीठी नींद में डूब गया, वह दुनिया का सबसे सुखी आदमी था।

३७

अब एक महीने का समय था, जिसके अन्दर सत्य को अपने लिए दूसरा काम तलाश कर लेना था और उषा को भी किसी स्कूल में जगह पानी थी, पानी ही थी।

दूसरे रोज शाम को ही दोनों उषी के पिता जी के पास पहुंचे। वे हस्बेमामूल अपने बागीचे में लगे हुए थे। झाड़ियों का छाँटना-तराशना चल रहा था। कैंची चलाते-चलाते ही बोले—अहे क़िस्मत, आज कैसे भटक गये सत्यबाबू।

सत्य ने व्यंग को समझते हुए माफी मांगने के लहजे में कहा—मुझे सचमुच बड़ी शर्मिन्दगी होती है बाबू जी, मगर मैं क्या करूं, आप उषी से ही पूछ लीजिये.......

उषी ने मुसकराते हुए कहा—देखो, मुझे खामखा अपने संग न सानो, मुझे बैसाखी बनाये बिना तुम्हारा काम नहीं चलता। अब अकेले ही निबटो बाबू जी से, मैं तो अम्मा के पास जाती हूं....

बाबू जी ने कैंची जमीन पर फेंकते हुए और हाथ झाड़ते हुए कहा—जाती कहां है! रुक! इसे तो देती जा मुझे....कहकर वह अरुण को लेने के लिए लपके। अरुण पहले तो उनकी गोद में जाने से झिझका, मगर फिर पता नहीं क्या सोचकर चला गया और जाने के साथ ही बाबू जी की बड़ी बड़ी मूंछों के बाल नोचने लगा। बाबू जी हँसते हुए बोले—अच्छा तो यह थी जनाब की मसलहत

जो इतनी भलमंसी से मेरे पास चले आए, वही मैं कहूं!....मगर हो उषी के ही बेटे....तुझे क्या पता, तेरी मां भी इसी तरह मेरी मूंछों के बाल नोचा करती थी...

बातचीत की आहट पाकर उषी की मां भी उसी वक्त बाहर आईं और वहीं बरामदे में से ही बोलीं—तुम्हारा ही तो नाती है—झाड़ी की सफाई ही तो कर रहा है वह भी....

फिर उषी के पास पहुंचते हुए बोलीं—बेटी, इनको दुनिया में अब बस एक यही काम रह गया है, जब देखो कैंची लिये खड़े हैं!

झाड़ी की सफाई हो गई तो अरुण ने पिपिहरी बजाई कि अब मुझे यहां से ले चलो मेरा काम पूरा हो गया—

बाबू जी ने मीठी झिड़की के साथ अरुण को उषा के हाथ में देते हुए कहा—उषी ले संभाल अपने किलौंटे को! कहां का जंगली है!

सब लोग जब आकर बरामदे में बैठे तब असल बात शुरू हुई। उषी ने ही बात शुरू की—इनको नोटिस मिल गया है।

बाबू जी ने कहा—क्यों क्या हुआ?

सत्य ने बतलाया—कुछ नहीं बाबू जी, कम्युनिस्ट होना खुद एक गुनाह है; एक जरी सी खबर की एडिटिंग पर बदमजगी हो गयी।

बाबू जी ने कहा—इस हद तक?

सत्य ने कहा—मैं तो समझता हूं वह किसी बहाने की तलाश कर रहा था।

उषी ने कहा—होना ही था वह तो आगे पीछे...मगर अब सवाल है कि क्या हो। मैंने सोचा है मैं भी कहीं....

बाबू जी ने कहा—तू? तू नौकरी करेगी?

उषी ने कहा—उसमें कोई बुराई है ? !

बाबू जी ने कहा—नहीं, बुराई की बात नहीं कहता, पर तुझसे होगी नौकरी ?

उषी ने कहा—क्यों नहीं होगी । दुनिया करती है, एक मुझी से न होगी ?

बाबू जी ने पूछा—कैसी नौकरी करेगी ?

उषी ने कहा—किसी स्कूल-विस्कूल में जगह मिल जाय.... तुम्हारे तो बहुत से जान पहचानी हैं और अभी जुलाई का ही महीना है । बहुत सी जगहों में अभी नये Appointments न हुए होंगे........

बाबू जी ने कहा—हां कुछ हो तो सकता है.....तू जब काम करना चाहती ही है तो फिर तेरे लिए काम पैदा करना ही पड़ेगा ।

क़िस्सा कोताह नोटिस की अवधि खत्म होने के पहले पहले महीने भर के अन्दर ही अन्दर उषा को एक गर्ल्स हायर सेकेन्ड्री स्कूल में जगह मिल गयी ।

इस जगह पर आकर उपन्यासकार का प्लाट उस प्लाट से टकरा गया जो ग्रहों नक्षत्रों ने सत्य और उषा को लेकर अपनी कहानी के लिए रच रखा था । उषा को स्कूल में नौकरी मिल जाने के बाद उपन्यासकार कहानी का विस्तार कुछ इस दिशा में चाहता था कि दिखलाता कैसे कुछ रोज बड़ी दिल्लगी रही, उषा बाहर काम करने जाती और पति देवता घर पर बैठकर बच्चा खेलाते, उषा आकर अरुण को उठा लेती या बहुत थकी होती तो चारपाई पर लेट जाती आंखमूंद कर, फिर सत्य एलेक्ट्रिक स्टोव पर चाय बनाकर ले आता और उषा को

हलके से आवाज़ देता और वह आंख खोलती तो प्याली उसकी ओर बढ़ा देता और वह उठकर बैठ जाती और प्याली सत्य के हाथ से लेकर मुंह में लगाती और कहती—तुमसे अच्छी चाय तो कोई बना ही नहीं सकता....तुम्हें तो कहीं किसी बड़े होटल में खानसामा होना चाहिए था.....

तब सत्य जवाब देता—हर मैजेस्टी का खानसामा हूं....इससे बड़ी जगह कहां मिलेगी सरकार ?

तब फिर दोनों हँस पड़ते और रोज़ यही या ऐसा ही कोई खेल होता। धीरे धीरे सत्य को भी कहीं कोई काम मिल जाता। फिर उनके खर्च ज्यादा इत्मीनान के साथ चलने लगते, दोनों में आपस में बड़ा प्यार होता, पहले जितना था उससे भी ज्यादा और अरुण दो से तीन और तीन से चार और चार से पांच साल का हो जाता और यों ही सुख-संतोष से उनके दिन कट जाते। कहानी यों ही काफी लम्बी हो गयी थी और यह अंत कुछ बुरा न होता, कहानी में 'जैसी इन पर गुज़री वैसी सब पर गुज़रे' की तलाश करने वालों को भी उनके मन की चीज़ मिल जाती.....

मगर कहानी का वैसा अन्त करना संभव नहीं हुआ क्योंकि शनि ने इनके लिए कुछ और ही प्लाट रच रखा था।

लिहाजा जिस रोज़ उषा को नौकरी मिली (संयोग की बात कि उस रोज़ शनिवार ही था भी) उसी रोज़ सत्य की गिरफ्तारी का परवाना आ गया। दफ्तर से लौटकर उसने मुंह हाथ धोया ही था, कपड़े बदले ही थे और चाय पीकर किसी मीटिंग में जाने की तैयारी कर ही रहा था कि....

वाक्य पूरा भी नहीं होने पाया और उनकी ज़िन्दगी की कहानी ने दूसरी राह पकड़ ली।

सत्य ने वारंट देखा, उसी के नाम का था। कोई गलती नहीं थी।

अन्दर आया। उषा अरुण को कपड़े बदला रही थी। आधे मिनट एकदम चुप खड़ा रहा। उसकी समझ ही में नहीं आया कि उषा को कैसे बताये कि इस एक मिनट में क्या हो गया है। अरुण उछल रहा था और उषा उसके कपड़े बदला रही थी और सत्य बुत की तरह खड़ा था। आखिर उसने हिम्मत की—उषी मैं जा रहा हूं।

—कहां ? चाय तो पी लो।

सत्य ने कोई जवाब नहीं दिया, बस खड़ा रहा।

उषी ने पता नहीं क्या भांपा, लपक कर सत्य के पास पहुंची और बोली—कुछ बोलो भी तो मुंह से, हुआ क्या है?

सत्य ने कहा—मेरी गिरफ्तारी का वारंट है।

उषा को यक़ीन नहीं आया। बोली—झूठ, मुझे डरवाते हो।

उसने कहा—झूठ नहीं कहता रानी, वही लोग तो आये हैं। पुलिसवैन खड़ी है।

अब यथार्थ की भयानकता उषा पर भी खुली और उसको लगा कि वह स्याह भूरे रंग के असीम अनन्त शून्य में गिरती चली जा रही है और पता नहीं कितनी सहस्राब्दियों तक वह इसी तरह गिरती रही, गिरती रही, गिरती रही, शून्य के काले गिलगिले पंखों से टकराती रही, दम घुटता रहा, उसने आवाज भी देने की कोशिश की लेकिन कोई नहीं आया, उस शून्य में शायद कोई था नहीं या उसके कंठ में स्वर नहीं था या स्वर में ध्वनि नहीं थी....यह डरावना सपना वह बहुत बार देख चुकी थी। इस डरावने सपने का अन्त सदा यह होता था कि उसकी नींद खुल जाती थी और नींद खुलने पर वह देखती

थी कि वह पसीने पसीने हो रही है और उसकी घिग्घी बँधी हुई है....मगर आज तो वह जागती हुई आंखों से इस डरावने सपने को देख रही थी। उसे बेहद डर मालूम हुआ : मेरे इस नन्हें से घोंसले को उजाड़ने के लिए ये यम के काले गिद्ध कहां से आ गये !

सहमी हुई कबूतरी की तरह उषी सत्य के सीने से लगकर खड़ी हो गयी। सत्य ने उसे अपनी बाँहों में भर लिया, अस्फुट बुदबुदाया—हम एक दूसरे को क्यों इतना प्यार करते हैं उषी ! और उसे वैसे ही सीने से लगाए आंख मूंदे खड़ा उसके बालों को अपने आंसुओं से भिगोता रहा।

तभी जैसे सात महाद्वीपों के अन्तराल को पार करके आती हुई आवाज उन्हें सुन पड़ी—मिस्टर सत्यवान.....

सत्य को भी यह आवाज़ कोड़े की तरह लगी। और वह जाग गया। उषा को अपने से अलग करते हुए वहीं से उसने पुकार कर कहा—ड्राइंगरूम खुला हुआ है, वहीं आप लोग बैठिये, मैं चाय पीकर बिस्तर कपड़े लेकर आता हूं।

मुंह धोने के लिए गुसलखाने की तरफ जाते हुए सत्य ने कहा—उषी, चाय ले आओ, आज और संग संग चाय पी लें फिर पता नहीं कब नसीब हो।

प्याली मुंह से लगाते हुए सत्य ने कहा—मैं सोचता हूं उषी, जहां सब कुछ अनिश्चित हो वहां इतना प्यार भी नहीं करना चाहिए ....बस तकलीफ ही हाथ लगती है। आज इस वक्त हम तुम साथ हैं कल इस वक्त पता नहीं मैं कहां होऊंगा और फिर पता नहीं कब इसी तरह हम लोग साथ साथ बैठ सकेंगे। कोई नहीं जानता। मगर छोड़ो इस बात को उषी। दिमाग़ को अगर

हमने इधर बहकने का मौका दिया तो अभी से ज़िन्दगी पहाड़ हो जायगी। जो संताप समझ बूझकर उठाया गया है उसके सम्मुख भी अगर आदमी कातर हो तो कुछ बचता ही नहीं। जो झेलना ही है उसे हंस खेलकर झेलना चाहिए क्योंकि दूसरी गति भी तो नहीं। तुम दुखी होना चाहो हो लो। मैं दुखी होना चाहूँ हो लूं। मगर उससे फ़र्क़ क्या पड़ता है, सिवाय इसके कि आदमी टूट जाय, बिखर जाय, उसका दुख तो अणु बराबर भी कम नहीं होगा। यह सब बात मेरी समझ में आती है मगर फिर भी जब तुमको देखता हूं और अरुण को देखता हूं तो दिल भर ही आता है। पहली बार जब मैं जेल गया था तब मेरे मन की ऐसी स्थिति ज़रा भी नहीं थी.....पर छोड़ो उस बात को....सुनो उषी, चलो मेरी तैयारी करा दो। एक बिस्तरा और उसमें दो कुर्ते दो पाजामे। बस तैयारी और क्या करनी है, पर देखना उषी, अपने हाथ के काढ़े हुए गिलाफ ज़रूर रख देना।

उषा की आंखों से आंसू लगातार झर रहे थे और वह सत्य का बिस्तर बांध रही थी और सत्य अपनी जगह पर बैठा अरुण को देखता रहा, फिर एकदम पागल जैसा उठा और फिर बैठ गया। अरुण ने घबराकर या पता नहीं क्यों ठिन ठिन शुरू ही की थी अभी। सत्य ने उसे गोद में लेकर अपने कंधे पर उसका सिर रखते हुए कहा—सो जाओ बेटे, मगर बेटा कहां सोता है। उसने कंधे पर से सिर उठा लिया और उसी तरह चकबकाकर देखता रहा। सत्य ने कहा—अरुण भी कुछ कुछ समझ रहा है जैसे!....और मुसकराने की कोशिश की। मगर उस खिसियाई हुई मुसकराहट को मुसकराहट कौन कहेगा।...

जेल पहुंचकर बराबर उषा का चेहरा याद आता जब कि वह उससे विदा हो कर पुलिस वैन में जा बैठा था। आंखों में कितनी ममता

कितनी करुणा कितनी फरियाद कितनी अबोध जिज्ञासा : कैसा यह बर्बर समाज है जो किसी का इतना सा सुख भी नहीं देख सकता, जो फौरन बाज़ की तरह झपटता है ! हमने किसी का क्या बिगाड़ा था ! .....सत्य ने सोचा कि काश वह सीखचों को तोड़कर बाहर जा पाता तो उषी का सिर अपनी बांहों में लेकर चूम लेता और उससे कहता : यही तो हमारा अपराध है उषी कि हमने किसी का कुछ नहीं बिगाड़ा है। बिगाड़ा ही होता तो फिर क्या बात थी, तब तो यह समाज, समाज की यह शासक सत्ता हमको भी अपना ही अंग समझती ! और तब न्याय की ये कठोर बांहें हमारे भी गले का गलहार बन जातीं जैसी कि तमाम पापियों के लिए हैं ! मगर वही तो हमने नहीं किया, हमने तो इस सत्ता को ही चुनौती दी। कितना जब्त कर रही थी उषी कि कहीं आंखें बरस न पड़ें और इसी कोशिश में उसके ओंठ कैसे फड़क फड़क कर रह जाते थे। अरुण को मेरे हाथ में देते समय उसका अपने पर बस न रह गया और उसने पागल की तरह मेरे पैर पकड़ लिये। घर ही उसका नन्हां सा स्वर्ग था और उसी को लूट लिया गया, कितनी सुखी थी वह उसमें, कितनी तृप्त, कितनी चाह न थी उसके पीछे और कितनी लगन, मगर कुछ भी काम न आया। एक घड़ी में सब लूट गया।

३८

उषा का ख़याल ऐसा न था। उसने अपनी डायरी में लिखा (शायद अपने सूनेपन को भरने ही के लिये उसने डायरी रखनी शुरू कर दिया था)...आज से मेरी नयी जिन्दगी शुरू होती है, सूनी मगर सूनी नहीं, उदास मगर उदास नहीं....जिस काम के लिए सत्य को सजा हुई मेरे लिए उस काम से बड़ा दूसरा कौन साथी हो सकता है। सत्य चोरी डकैती ग़बन के मामले में जेल नहीं गये, अपने आदर्शों के लिए जेल गये हैं, जनता की ख़ातिर जेल गये हैं। तो फिर लज्जा किस बात की और शोक किस बात का ? पवित्र आदर्शों के लिए दंड पाना—यही तो असल पुरस्कार है। जिन्दगी सूनी हो गयी ? कहीं तो नहीं, इतना सब तो पड़ा है करने को, सूनापन कैसा, मैं अब तक सत्य के कामों से दूर थी मगर अब वही मेरे संगी होंगे मेरे संबल। उसी उत्साह से मैं भी काम करूंगी। जो काम करते करते बीच में ही उन्हें उठा लिया गया है, वह काम रुकेगा नहीं....और तब फिर सूनापन कहां ? और यह अरुण, इसके रहते कहीं सूनापन पास फटक सकता है ! झूठ क्यों बोलूं, अकेलापन ज़रूर थोड़ा सालेगा, लेकिन तू ही कह उषी कि बिना प्रसव वेदना के कभी कोई जन्म हुआ है ?...आदमी से बेहया कोई जानवर नहीं उषी, वह सब सह लेता है।.....

दूसरे रोज़ सबेरे ही उषा के पिता जी और मां आईं—अख़बार में पढ़कर। मां बहुत ज़िद करने लगीं कि उषा चलकर वहीं घर पर रहे, यहां अकेली क्यों पड़ी रहेगी ; बाबू ने भी ज़ोर दिया। बाबू ने तो स्कूल भी छोड़ने के लिए कहा। कहा अब तो तत्काल कोई

ज़रूरत नहीं, आगे फिर ज़रूरत पड़ेगी तो देखा जायगा। अम्मां बाबू ने बहुत तरह से समझाया मगर उषी नहीं गई। उसने कहा—अम्मां, देखो मुझसे अपने जी के खिलाफ़ काम न करवाओ। मैं यहीं रहूंगी, घर तो है ही। नहीं जी लगेगा तो आऊंगी ही, पर रहूंगी यहीं, मुझे अच्छा लगेगा।

उषी की मां तो शायद इसके बाद भी हठ करतीं, मगर पिता जी ने मना कर दिया। अपनी बेटी को उन्होंने सदा ज्यादा समझा है।

उसके दूसरे रोज़, नहीं, उसी रोज़ शाम को बेटे की गिरफ़्तारी की ख़बर सुनकर सत्य की मां आईं। उन्होंने भी बहुत ज़ोर दिया कि उषी वहीं चलकर रहे, मगर उषा ने बड़े अदब के साथ उनसे भी नाहीं कर दी, बोली—देखिए अम्मां जी, घर तो छोड़ना है नहीं। पता नहीं महीना बीस रोज़ में ही छूट आवें या मान लीजिए साल छः महीने में छूटकर आते हैं, तो भी मकान तो किसी हालत में छोड़ना ही नहीं है और फिर बताइये अम्मां जी, ख़ाली मकान किसके भरोसे छोड़ दूं? कौन ताकेगा? आप देखती ही हैं शहर में रोज़ कितनी चोरियां होती हैं......

सत्य की मां की समझ में यह युक्ति फ़ौरन आ गई। बोलीं—हां, वह डर तो है। अच्छा तो फिर यहीं रहो। कोई काम लगे, कोई ज़रूरत हो तो फ़ौरन चली आना, समझीं?

उषा ने कहा कि वह ज़रूर ऐसा ही करेगी.....

उषा ने अपने घर पर और सब जगह नाहीं तो कर दी, मगर अब उसके सामने सवाल था कि अरुण को किसके पास छोड़कर स्कूल जाये। इतने से काम के लिए एक आया रखे यह बात अजीब बेतुकी सी थी। अरे खाना पकाने में कुछ था ही नहीं, स्कूल छोड़ बाक़ी सब जगह अरुण को अपने संग रखने का निश्चय उसने किया ही था, तब

फिर क्यों खामखा आया का रोग पाले। मंहगी भी तो पड़ती है।
लिहाजा उषा ने तय किया कि स्कूल जाते समय अरुण को ज्योती की
मां के पास छोड़ जाया करूंगी।........

और फिर यही सिलसिला चलने लगा। अमूल्य का घर स्कूल
के रास्ते में ही पड़ता था। उषा स्कूल जाते समय रोज अरुण को ज्योती
की मां के पास छोड़ देती और लौटते समय लेती हुई चली आती। एक
दो रोज तो अरुण ने थोड़ी आपत्ति की, लेकिन फिर उन्होंने स्थिति से
समझौता कर लिया। ज्योती की मां बच्चों को हिला लेने की कला
में बहुत निपुण भी थीं।

एक रात अरुण के सो जाने के बाद जब वह बिस्तर में लेटी हुई
थी और इधर-उधर की तमाम बातें उसके सिर में चक्कर काट रही
थीं उसके मन में सहसा एक विचार आया जिससे उसे पहले बड़ी
तकलीफ हुई : अरुण को जब किसी के पास छोड़ जाने का सवाल उठा
तो मुझे अम्मा का ध्यान क्यों नहीं आया, ज्योती की मां का ही ध्यान
क्यों आया ? मैं क्या अपनी मां से इतनी दूर हो गयी हूं ? अम्मा
क्या मेरे लिए बेगाना हो गई हैं ? उनका तो नाती है अरुण, वह तो
उसको इतना प्यार करतीं जितना कोई कर ही नहीं सकता। तब
भी मुझे उनका ध्यान क्यों नहीं आया ?

वह खयाल बार बार उसे डंक मारता रहा। पहले तो उसके मन
ने हलके-फुलके जवाब देकर उसे बहलाना चाहा : ज्योती का घर
रास्ते ही में पड़ जाता है न, इसीलिए। बड़ी सहूलियत है। दूसरे
हिल भी तो क्या गया है न उनसे, कई बार आया गया है, वह भी
कई बार आई हैं इसी से धीरे धीरे परच गया है उनसे और वही खास
बात है, नहीं चीख चीखकर आसमान सर पर उठा ले।......

इस जवाब से जब संतोष नहीं हुआ तो : कहां तुम्हारा स्कूल और

कहां तुम्हारा जार्जटाउन—रोज लाना ले जाना नहीं हो सकेगा। उससे तो अच्छा है कि अरुण को वहीं रख ही दो, न जाने कितनी बार अम्मां कह चुकी हैं। लेकिन यह बात उसके गले के नीचे नहीं उतरती थी। अरुण को छोड़कर वह कैसे रह सकती है? तब फिर वह भी वहीं जाकर क्यों न रहे और फिर अगर वहीं रहना है तो नौकरी क्यों की जाय, खाये पिये, आराम से पड़ी रहे। कोई इसे चाहे पागलपन ही कह ले, मगर उषा किसी तरह इस बात के लिए तैयार नहीं थी। जिन्दगी मुझे जीनी है इसी आंधी तूफान में इन्हीं संघर्षों के बीच। मैं तो समझती हूं भगवान ने मुझको उसी की ट्रेनिंग देने के लिए यह सब घटनाचक्र रचा है—अच्छा है साल छःमहीने संघर्ष की जिन्दगी बिताऐगी तो फिर सत्य के साथ ज्यादा अच्छी तरह पैर मिलाकर चल सकेगी नहीं तो सत्य को अभी भचक भचककर चलना पड़ता है। और बिलकुल ठीक बात है। मां के पेट से कोई कुछ सीख कर नहीं आता, आदमी को जो झेलना पड़ता है वैसा ही हो जाता है। सारी बात अभ्यास की है। तकलीफ सहने का भी अभ्यास होता है। तकलीफ सहने से ही तकलीफ सहना आता है। दूसरे की तकलीफ की आग पर हाथ सेंकना तो बहुत आसान काम है। आदमी अगर जरा भी भावुक है तो हमदर्दी के दो चार आंसू भी निकल ही आते हैं। मगर हमदर्दी के आंसू और तकलीफ को खुशी खुशी झेलना दो चीजें हैं।.....मैं तो हरगिज न जाऊंगी अम्मां के पास क्योंकि इसी आग में तपकर मैं सत्य के ज्यादा योग्य बनूंगी। वहां जाकर तो मैं फिर उसी राग-रंग में, आत्मा की उसी आरामतलबी में खो जाऊंगी जिससे बाहर आने के लिए मुझे और सत्य को भी इतना संघर्ष करना पड़ा है। मैं उस भूल भुलैया में न पड़ूं, यही ज्यादा अच्छा है........

यह तो बड़ा कारण था ही जिसने उषा को अपने मायके जाकर रहने से रोका, मगर उसके साथ ही साथ एक लगभग उतना ही

बड़ा कारण और भी था : अपनी नवार्जित स्वाधीनता, आत्मनिर्भरता की चेतना, जिसको इस खयाल से ही तकलीफ होती थी कि सत्य के हटते ही वह फिर किसी न किसी का (चाहे वह पिता ही क्यों न हो) आश्रय लेने के लिए मजबूर है । मैं अपने पैर पर खड़ी हो सकती

इसी तरह मज़े के साथ उषा की ज़िन्दगी चल निकली । चार पांच घंटे तो स्कूल में निकल जाते थे । बाक़ी वक्त के लिए भी उसने काम निकाल लिया था । उसकी बहुत पुरानी ख्वाहिश थी कि ग़रीब बच्चों और औरतों को पढ़ना-लिखना सिखाये । सो उसने वह काम भी शुरू कर दिया । पार्टी तो खुद ही बहुत दिनों से नाइट स्कूल की बात सोच रही थी, मगर कोई मिलता न था जिसको यह काम सौंपे । वैसे दो एक लड़कियां इस काम में हाथ बंटाने को तैयार थीं मगर अकेले हाथ डालते डरती थीं । उषा जब आगे आगे चलने को तैयार हुई तो रास्ता निकल आया । उषा के यहां से कुछ ही दूर पर साहनी साहब के घर के पिछवाड़े अछूतों की जो बस्ती है उसी में सबसे पहले काम करने की बात तय पाई । पन्द्रह सोलह बच्चे और सात माएं तो इसी वक्त से तैयार मिलीं और नाइट स्कूल क़ायम किया गया । हमारे यहां अक्सर नाइट स्कूलों की जिन्दगी फुलझड़ी जैसी होती है । दो चार रोज़ बहुत उत्साह दिखलायी देता है, खूब अच्छी तरह एक चिमनी पोंछ पांछकर लालटेन 'लेसी' जाती है, स्लेट पेंसिल वग़ैरह आती है, बेहद भद्दी छपी हुई, बेहद अनाकर्षक, हिन्दी वर्णमाला की पोथियां आती हैं और शुभलग्न देखकर विद्यारम्भ का कार्य शुरू होता है लेकिन इसके पहले कि पढ़ने वालों का उत्साह जागे-जागे पढ़ाने वालों का उत्साह सो जाता है और समाजसुधारक जी शिक्षा के प्रति लोगों की घोर अरुचि का रोना रोते रोते समाजसुधार की अपनी प्रवृत्ति के लिए कोई दूसरा निकास ढूंढ़ लेते हैं—

यहां इस बस्ती में भी अक्सर ऐसी ही कोई बात हुई होगी क्योंकि लोगों को जुटाने में उषा को भी शुरू में काफी कठिनाई हुई लेकिन काम करने का संकल्प लेकर निकली थी इसलिए हफ्ते दस रोज में ही उसको नतीजा दिखायी देने लगा—चार-पांच साल से लेकर बारह-तेरह तक के पन्द्रह-सोलह बच्चे और सात मांएं मिलीं जिनको लेकर नाइट स्कूल की शुरुआत हुई। पुरुष शुरू में अलग ही रहे।

इस तरह उषा के समय का बड़ा हिस्सा अब बच्चों को पढ़ाने में ही निकल जाता था। एक जगह से उसे अपने काम के लिए पैसा मिलता था और दूसरी जगह उसे अपनी जेब से पैसा लगाना पड़ता था। एक जगह उसे साफ सुथरे मगर ज्यादातर बोदे लड़के मिलते थे, दूसरी जगह उसे गन्दे, नंगे-अधनंगे मगर जहीन लड़के मिलते थे। एक जगह उसे कुर्सी मेज मिलती थी, दूसरी जगह उसे अक्सर नंगी जमीन पर धूल में ईंट-वींट रखकर या खटोले पर बैठना होता था—मगर इस सबके बावजूद अगर कोई उषा से पूछता कि तुम्हें सच्चा आत्मिक सन्तोष कहां मिलता है तो शायद उसे जवाब देने में एक पल की भी देरी न होती। बच्चों को पढ़ाने की साध उसे सदा से रही है, इस नाते उषा को स्कूल का भी काम अच्छा लगता है और वह जी लगाकर काम करती है, मगर सच्चा आत्मिक सन्तोष तो उसे इन अछूत, चमार-पासी लड़कों को पढ़ाने में ही मिलता है—कुआंरी धरती है, कितनी भूखी कितनी प्यासी, सारा का सारा आकाश अगर बादल बनकर बरस जाये तब भी शायद यह प्यास न बुझे, उसको भी गटागट करके पी जाये यह धरती। स्कूल में पढ़ने के लिए बच्चों को ठेलना पड़ता है, डराना धमकाना पड़ता है, नाइट स्कूल में बच्चे अपने मन से आकर बहिन जी के गिर्द जमा हो जाते हैं, किसी के यहां अगर छोटी मोटी फटी-पुरानी दरी हुई तो उसे बिछाकर बैठे बहिन जी के आने की राह देखा करते हैं और कभी अगर किसी कारण से वह नहीं जा

सकी है तो ज़रूर एक न एक लड़का उसके पास आया है। ज्ञान की शिक्षा की इतनी भूख है उनके अन्दर। इसीलिए वह एक बार स्कूल चाहे न भी जाय मगर नाइट स्कूल ज़रूर जाती क्योंकि उसे पता था कि वहां न जाये तो लड़के खुशी ही मनायेंगे और यहां तो पता नहीं कितनों का दिल टूट जायेगा, समाज ने उनको जिस शिक्षा से वंचित रखा है उसको पाने के लिए उनके न जानें कैसे कैसे हौसले जुड़े हुए हैं उन सबको पाला मार जायगा। वे कहेंगे कि ये सब बड़े लोग ऐसे ही होते हैं। हमने इन बहन जी को औरों से कुछ फर्क समझा था मगर ये भी वैसी ही निकलीं। चार दिन तमाशा दिखाकर चली गयीं।

स्कूल जाते समय तो उषा अरुण को ज्योती की मां के पास छोड़ जाती मगर नाइट स्कूल वह उसे अपने संग ले जाती। फिर वहां कोई भी औरत उसे ले लेती। सभी का वह लाडला था। पहले तो उषा के नज़दीक आने की उन्हें हिम्मत न होती, बच्चे को गोद में लेना तो दर किनार, मगर जिस सहज स्वाभाविक रूप में उषा उनके संग घुल मिल गई उससे उनका डर जाता रहा। इसमें कुछ समय ज़रूर लगा मगर बहुत नहीं। असल बात यह है कि आदमी के मन में अगर दूरी न हो तो किसी को किसी के पास पहुंचने में कठिनाई नहीं होती, सभी खाई खंदक पार हो जाते हैं। मामूली बोल चाल के लहजे, उठने-बैठने, कुशल-क्षेम पूछने बताने तक में आत्मा अपनी झलक दिखा जाती है और दूसरा आदमी उसे पहचान लेता है और पहचान-कर या तो और दूर चला जाता है या पास खिंच आता है। उषा के अन्दर ऐसा ही कुछ जादू था जिसने चन्द महीनों में ही उनके बीच की तमाम दीवारें ढहाकर उसे उनका सगा बना दिया। यह कविता की बात नहीं है कि आत्मा बोलती है। यह एक सच्चाई है।

सत्य के न होने से उषा की जिन्दगी में एक रीतापन था सही और शायद दुनिया की कोई भी चीज़ उसे नहीं भर सकती थी, मगर यह भी सच है कि अपनी इस व्यस्त जिन्दगी में उषा को एक ऐसा गहरा, शब्दातीत उल्लास मिला जिसकी अनुभूति उसके लिए एकदम नई थी।

एक दिन शाम को जब वह बस्ती में जा रही थी, अपने घर के पास ही रास्ते में दमयन्ती मिल गयी।

दमयन्ती ने कहा—अब तो आप कभी हमारे यहां आती ही नहीं उषा जी, इधर रोज़ कहां जाती हैं आप? मैं अक्सर आपको इधर से गुज़रते देखती हूं........

उषा ने कहा—आपके पिछवाड़े अछूतों की जो बस्ती है उसी में जाती हूं—बच्चों को पढ़ाने।

दमयन्ती ने अस्फुट व्यंग के स्वर में कहा—अच्छा तो अछूतोद्धार हो रहा है!

उषा ने कहा—जो चाहे कह लीजिए मगर सच बात तो यह है कि अछूतों से ज्यादा मैं अपना उद्धार कर रही हूं।

उषा की यह उलटबांसी दमयन्ती की समझ में नहीं आई। बोली—मैं आपका मतलब नहीं समझी।

उषा ने कहा—सारे ज़माने को ग़रीब और नंगा रखकर अब अपनी सफेदपोशी का बोझ ढोया नहीं जाता। उसी ऋण को सिर से उतार रही हूं।

अब भी दमयन्ती की समझ में बात कुछ ख़ास आई नहीं, लेकिन उसने अब और ज्यादा सिर खपाना बेकार समझा, बात का रुख बदलने की ग़रज़ से कहा—आपके पति अच्छे हैं न?

उषा ने कहा—जी हां, इधर कुछ महीने से जेल में हैं।

दमयन्ती ने आश्चर्य से पूछा—जेल में? क्या किया था?

उषा ने कहा—यही तो राज़ की बात है। गवर्नमेन्ट को खुद नहीं मालूम कि उन्होंने कौन सा जुर्म किया था। इसीलिए वह उनपर मुक़दमा भी नहीं चलाती, बस नज़रबन्द किए हुए है।

दमयन्ती ने अपनी समझ में बहुत दूर की कौड़ी लाते हुए कहा—अच्छा। तो किसी पोलिटिकल अफेंस के लिये गये हैं।

उषा ने चुटकी ली—आपने क्या समझा, ग़बन के मामले में?

दमयन्ती को कोई जवाब नहीं सूझा, इतना सा मुंह निकल आया।

दमयन्ती की स्थिति का रस लेते हुए उषा ने कहा—दमयन्ती जी, हम तो चाहते हैं कोई यह सब कलाएं हमको भी सिखाये, मगर कोई सिखाता ही नहीं। जो सिखा सकते हैं उन्हें अपना ही घर भरने से फुर्सत नहीं....फिर राज काज की तमाम जिम्मेदारियां हैं, लॉ ऐण्ड ऑर्डर की हिफ़ाज़त भी करनी ही पड़ती है!

दमयन्ती ने पैर बढ़ाते हुए कहा—बेबी को भी आप अपने संग ही ले जाती हैं?

उषा ने बनावटी भोलेपन से पूछा—क्यों? नहीं ले जाना चाहिए?

दमयन्ती ने कहा—आप भी कैसी बात करती हैं जैसे कुछ समझतीं ही नहीं। हज़ार बीमारियां होती हैं.....बेबी को क्यों न छोड़ दिया कीजिए यहीं, अजीत के संग खेलता रहेगा, आया हुई।

उषा ने मज़ाक़ किया—नहीं वहीं अच्छा है। राजकुमारों के संग खेलता है।

दमयन्ती—राजकुमारों के संग?

उषा—और नहीं तो क्या ! कल को उन्हीं का तो राज होगा ?!

दमयन्ती ने अब समझ लिया कि उषा का दिमाग़ पूरी तरह खराब हो गया। लिहाज़ा अब और एक मिनट भी खराब न करते हुए उसने उशा को जैसे उत्तरी ध्रुव पर से बहुत ठंडी सी नमस्ते की और आगे बढ़ गयी।

उस रात जब उषा लौट कर घर आई तो उसे रोज़ की याद आये बिना न रही जब वह पहली बार दमयन्ती के घर गई थी और वहां से लोटने पर उसमें और सत्य में झगड़ा हो गया था। वह बिस्तर में लेटी हुई दुनिया भर की बातें सोचती रही :

उस वक्त मेरी आंखों में उनका घर बसा हुआ था, उनका घर जिसमें किसी चीज़ को कोई कमी नहीं थी, जिसमें रूपया-पैसा नौकर चाकर सभी कुछ था, उनका घर यानी उनका ऐश्वर्य, उनकी शान-शौकत, उनकी सुरुचि....और जब मैं उनका मिलान अपने से करती थी तो मुझे बेइन्तहा खीझ होती थी कि हमारे पास वह सब क्यों नहीं है जो दमयन्ती के पास है ? हम आखिर यह सब झख क्यों मार रहे हैं, जैसे हमीं ने इंक़लाब का ठेका ले रक्खा हो।...

लेकिन आज क्या वह वासना मेरे अन्दर है ? हां वासना तो है पर वासना की सुलगन नहीं है। झूठ नहीं बोलूंगी, वह चाह तो अब भी मेरे अन्दर मरी नहीं। मैं नहीं जानती. सत्य के अन्दर यह चाह भी है या नहीं। मैं जानती नहीं पर हो सकता है न हो। मैं अपनी बात जानती हूं, उसकी चाह मेरे अन्दर है लेकिन अब मेरी समझ में आने लगा है कि उस तक पहुंचने की हमारी राह वह नहीं होगी जो साहनी साहब की है। साहनी साहब के आलीशान बंगले की नींव में न जानें कितने ग़रीबों की लाशें होंगी, न जाने कितनों को रौंदकर यह इमारत खड़ी हुई होगी। देखतीं नहीं, अगर हम अपने समाज को

भी एक इमारत मान लें तो साहनी साहब का बंगला इसका अगवाड़ा है और उसका पिछवाड़ा है साहनी साहब के पिछवाड़े की वह अछूत बस्ती, जिसके बीच से साहनी साहब का नाला वाक़ई बहता है।

लिहाज़ा यहां घी दूध बहता है।

वहां परनाले का कीचड़ बहता है।

यहां हज़ार कंदीलों की रोशनी के कुमकुमे हैं

वहां सरे शाम से घुप अंधेरा है क्योंकि मिट्टी का तेल नहीं मिल।

यहां चन्दन और अगुरु का धुआं उड़ता है

वहां इंसान की इंसानियत का धुआं उड़ता है

यहां बच्चे क़ालीनों पर दौड़ते हैं

वहां बच्चे धूल में नहाते हैं—गौरैयों की तरह।

यहां लोगों को अपने सफ़ेद चमड़े और सफ़ेद कपड़े पर नाज़ है।

वहां किसी को किसी चीज़ पर नाज़ नहीं है। हज़ारों बरस की गुलामी ने वह चीज उनके अन्दर से मार मार कर निकाल दी है।

अब जीवन में पहली बार यह समाज अपने ठठरी रूप में मेरे सामने आया है वर्ना अब तक इसका रंग-रोग़न किया हुआ, सजा-बजा, क़ीमती कपड़ों और अलंकारों से ढका हुआ रूप ही सामने आता था। इन कपड़ों और अलंकारों के नीचे स्वस्थ सबल सुंदर पुष्ट देह नहीं कंकाल है, यह मैं कभी नहीं समझ सकती अगर मैंने इस हरिजन बस्ती को पास से न देखा होता। हरिजन बस्ती! हरिजन बस्ती माने अछूत बस्ती। हरिजन=अछूत। मैं देखती हूं कांग्रेसियों का यह हरिजनोद्धार सब ढोंग-ढकोसला है। पचास साल अछूतोद्धार करके गांधी जी ने

अछूतों को क्या दिया, बस यह एक नाम—जाओ मैं तुम्हें वरदान देता हूं कि आज से तुम्हें लोग हरिजन नाम से पुकारेंगे। तथास्तु ! समाज अब भी तुमसे घृणा करेगा, छू जाने पर नहायेगा, यथापूर्वम् डंडे और जूते बरसायेगा। तुम्हारे कोई अधिकार नहीं होंगे। तुम्हारी स्थिति पूर्ववत् अपने सुअरों जैसी ही रहेगी। कुछ मंदिरों के दरवाज़े भी मैंने तुम्हारे लिए खुलवा दिए हैं जिनके भीतर तुम जा सकते हो और देवदर्शन से अपने को कृतार्थ कर सकते हो बशर्ते तुम मेरे पीछे पीछे दुम की तरह चले आओ क्योंकि पता नहीं वह दरवाज़ा यों तुम्हारे लिए खुलता भी है कि नहीं और अगर खुलता भी है तो कौन जाने किस घड़ी बन्द हो जाय। इसलिए मैं गौरीशंकर की चोटी पर खड़े होकर, त्रिकाल को साक्षी मानकर और संसार को ही नहीं सारे सौर मंडल को सुनाकर कहता हूं कि हे अछूतो, आज से तुम अपने नए नाम से जाने जाओगे, भले लोग अब हरिजन नाम से वैसे ही मुंह बिचका दिया करें जैसे अब तक अछूत नाम से करते रहे हैं, मगर उससे क्या होता है वह तो छोटी बात है, बड़ी बात यह है कि अब तुम अपने नए नाम से पुकारे जाओगे जब तक यह हरिजन नाम भी बदबू नहीं करने लगता और जब वह दिन आयेगा तब मैं पुनः अवतार लूंगा (भगवान कृष्ण ने गीता में कहा है—यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत....) और अछूत शब्द की नयी व्याख्या करके तुम्हें फिर से यही नाम दे दूंगा जो पुराना होते हुए भी नया होगा, नया होते हुए भी पुराना होगा। समाज की सनातन प्रगति का, इतिहास की पुनरावृत्ति का सिद्धान्त यही है।....अच्छा अब मैं जाता हूं वत्स हरिजन !...(वैष्णव जन तो तेणे कहिए गाते हुए हवा में विलीन हो जाना। दृश्य परिवर्तन, अपितु परिवर्तित दृश्य नहीं—वही दलदल, वही कीचड़, वही मिट्टी के घरौंदे जैसे मकान, जिन्हें बच्चों की इन्द्रधनुषी कल्पना का वरदान भी प्राप्त नहीं, वही कीचड़

में सने हुए सुअरों के गोल, वही लीधर बहाए हुए नंगधड़ंग बच्चों की टोलियां, वही शाश्वत भूख—रोटी की, वेदान्त की नहीं, वही अज्ञान और वही विराट अशान्त दिग्भ्रान्त जिज्ञासा. . .) . . . . .जरूर कड़वी लगती होगी बात, मगर लगने का क्या सवाल है बात ही कड़वी है। मुझे भी कड़वी लगती है मगर मैं क्या करूं। सच को झूठ मान लूं, सच से आंख मूंद लूं—ऐसी विराट् मेधा मेरे पास नहीं। मेरी जो छोटी सी बुद्धि है बस वही तो है मेरे पास। जो देखती हूं मन पर उसकी चोट लगती ही है। मैंने कांग्रेसी परिवार में जन्म पाया है, उसी वातावरण में पली हूं, मेरे सारे संस्कार वैसे ही रहे हैं लेकिन जिस पलड़े में सत्य बैठ जाता है वह पलड़ा फिर किसी वेदान्त और किसी दर्शन के उठाये नहीं उठता। मेरे संग भी यही हुआ है। मैं अपनी आंखों देख रही हूं। मेरा पुनर्जन्म हो रहा है। मुझे कहनी नहीं चाहिए ऐसी बात, मगर यह सच है कि सत्य का जेल जाना परो रूप में मेरे लिए वरदान सिद्ध हुआ। उनके रहते शायद मुझे इतना कुछ सीखने की, जानने की अंतः प्रेरणा भी नहीं होती, मौका भी न मिलता शायद। इन छः महीनों में मैंने जितना कुछ देखा और समझा है उतना विवाह के कुल चार वर्षों में भी नहीं देखा और समझा। इसलिए नहीं कि सत्य की तरफ से कोई रुकावट थी—सत्य ने तो लगातार इसी चीज के लिए संघर्ष किया—खुद मैंने ही उसकी जरूरत को नहीं समझा जो कि परिस्थितियों के चक्र ने समझा दिया। और इस चीज़ में सत्य के जेल जाने का बड़ा हाथ है, न सत्य जेल जाते न मुझे घर से बाहर निकलने की जरूरत पड़ती और जिन्दगी यों ही लेस्टम पस्टम गुज़र जाती। इस तरह थोड़ी तकलीफ तो हुई लेकिन अच्छा हुआ, अब मैं सत्य के योग्य बन रही हूं जैसा कि वे चाहते हैं, जैसा कि उन्होंने सदा चाहा है और कम्युनिस्ट धीरज के साथ चाहा है जो हारना या थकना नहीं जानता, जिसे अपनी बात की सचाई का ऐसा अटल विश्वास

होता है कि वह अक्लांत अपना संघर्ष चलाये जाता है।... कैसी छोटी छोटी बात पर मैं मुंह फुला लिया करती थी, अब सोचती हूं तो हँसी आती है—और रोना भी आता है। न जाने कितनी बार मैंने उनका दिल दुखाया होगा....पता नहीं कैसे हैं जेल में। इधर महीने भर से कोई चिट्ठी नहीं आई। बदमाशों ने यहां रहने भी नहीं दिया नहीं महीने में एक बार देख तो लेती थी, अब तो उसका भी सहारा नहीं। बरेली जाना-आना कोई खेल थोड़े ही है। कम से कम पचास रुपए का खर्चा है, बार बार कोई थोड़े ही न आ-जा सकता है .....मगर कोई बात नहीं सत्य तुम अब जब आओगे तब अपनी उषा को और ज्यादा अपनी पाओगे...

इसके बाद तो सत्य की स्मृतियों का तांता लग गया जिसका उल्लेख इस समय अप्रासंगिक होगा।

३९

उस दिन क्लास खत्म होने के बाद बस्ती की तमाम औरतों ने और कुछ मर्दों ने भी उषा को घेर लिया। उषा को भी ऐसा एहसास हुआ था कि आज और दिन से ज्यादा सरगर्मी है।

एक अधेड़ मेहतर बोला—बिटिया, तुम तो बहुत पढ़ी लिक्खी हो, एमे बीए पास हो, बताओ ई कहां का न्याव है।

उषा ने पूछा—क्या सुखई काका ?

सुखई ने कहा—अरे यही बिटिया कि कुर्सियन पर अपने आदमी जाकर बैठ तो गये मुदा हम पँचन का हाल आजो उहै है जौन पहिले रहा।

उषा ने कहा—काका, कहां हुआ अभी राज हम लोगों का, अभी तो.....

सुखई ने उषा की बात काटते हुए कहा—बिटिया तुम्हार यू बात तो हम नहीं मान सकिति। राज तो आपन होइ गवा है। पहिले जौने कुर्सी पर साहब बैठत रहा ओही कुर्सी पर अब शर्मा जी बइठते हैं ....और सुखई ने अपनी बात की तसदीक़ कराने के लिए अपने साथियों की ओर देखा और तसदीक़ मिल जाने पर बोला—बिटिया मैं आज का थोड़े ही न हूं, इसी काम में मैं बुढ़ा गया। मेरे देखते देखते इस कुर्सी पर न जाने कितने लोग आये और कितने लोग गये...यू बात तो हम तुम्हार नहीं मान सकिति, राज तो आपन होइ गवा है

मुदा हम पँचन की तकदीर जस की तस है। हम मुरुख मनई का जानी, न पढ़े न लिखे मुदा यू बात हमका कोउ नहीं समझावत कि जौन सरकार लाखन करोड़न रुपया खरच करती है ऊ हम गरीबन का दो चार रुपया मंहगाई भी काहे नहीं दे पाती ?......

उषा ने कहा—दूसरे खर्चों से पैसा उबरे तब तो ! पुलिस मिलिटरी के खर्च से बचे तब तो ! सब अपना अपना घर भरने में लगे हैं, किसी को तुम्हारी दया-मया थोड़े ही है।....

सुखई ने कहा—हम सब मर जायेंगे तो पुलिस-मिलिटरी क्या करेगी बिटिया ?

उषा ने कहा—हमारी तुम्हारी लाश पर पहरा देगी काका, जिसमें गिद्ध नोचने न पावें ......

सुखई ने कहा—अभी लाश में कसर बाकी ही है ? अभी कोई कम गिद्ध नोच रहे हैं।

दूसरे एक मेहतर ने कहा—अब तो फिर एक बार हो जाय घमसान। उनियन (यूनियन) ने हड़ताल की नोटिस दे दी बहिन जी। कब तक रोयें कलपें। कोई साला नहीं सुनता। सब जबरे का ठेंगा दिखलाते हैं। फिर हमहूं लोग कहा कि बद जाय इस बार.......

अनुभवी सुखई ने कहा—कन्हई, बदी तो बहुत बार मुदा जो बहुत बढ़ बढ़ के बतियाते हैं न ओ ही सबसे पहले झाड़ू संभालते हैं......

कन्हई ने इसे अपने ऊपर चोट समझकर बिफरते हुए कहा—दोगले की जात होते होंगे वो साले। अबकी वैसा नहीं होगा।

अधेड़ सुखई ने इतने सहज ही आश्वस्त होने से इनकार करते हुए कहा—देखो बेटा, मेरे तो बाल इसी में पक गये।

एक बुढ़िया मेहतरानी ने कहा—बिटिया, तुम हम लोगों के साथ

जरूर रहना। रहोगी न ?

उषा ने कहा—तुम भी कैसी बात करती हो माई ! तुम्हारी तो न्याय की लड़ाई है ....

बुढ़िया ने कहा—न्याव-अन्याव कौन देखता है बेटा।

उषा ने कहा—नहीं माई, मैं जरूर रहूंगी तुम्हारे साथ.....

कन्हई ने जानपांड़े के लहजे में कहा—तू जानती नहीं काकी, इन बहिन जी के आदमी हमारे बड़े नेता हैं, हमारी खातिर जेहल काट रहे हैं।

बुढ़िया ने कन्हई की बात को कुछ खास अहमियत न देते हुए कहा—तुम साथ रहोगी बिटिया तो बड़ी तागद रहेगी, ऊ सब भी समझेंगे कि हां.....

४०

उषा के पिता जी ने कहा—तुम तो अब पहिचानी ही नहीं जातीं बेटी, तुमको हो क्या गया है, कभी घर भी नहीं आतीं ?!

उषा ने कहा—क्या करूं बाबू, इधर कुछ ऐसा हो गया है कि फ़ुर्सत ही नहीं मिलती। कई दिन से सोच रही हूँ कि घर आऊं मगर मौक़ा ही नहीं लगता—दिन स्कूल में निकल जाता है और रात को एक अछूत बस्ती में नाइट स्कूल लगती है।

उषा के पिता जी ने थोड़ी खीझ के स्वर में कहा—यह तुमको कबसे लीडरी का चस्का लग गया ?

उषा ने कहा—लीडरी की बात नहीं है बाबू, तुम अगर चार दिन मेरे साथ घूमो तो फिर तुम्हें भी चैन न आये....बड़ा बदजात समाज है यह जिसमें हम-तुम रहते हैं....जो समाज ग़रीब आदमी को सुअर की ज़िन्दगी बसर करने पर मजबूर करता है उसे जितनी जल्दी उड़ाया जा सके उड़ा देना चाहिए।

उषा के पिता जी तो ऐसे ही ख़बर लेने आ गये थे, थोड़ी देर बैठकर और घर आने के लिए कहकर चले गये। लेकिन उषा के दिमाग़ में वही अछूत बस्ती चक्कर काटती रही....कितना सहता है इंसान, मगर एक हद आ जाती है जब और नहीं सहा जाता। तभी विस्फोट होता है। विस्फोट जब हो जाता है तब लोग कान पर हाथ रखते हैं, कहते हैं यह बुरा हुआ वह बुरा हुआ ऐसा नहीं होना चाहिए वैसा

नहीं होना चाहिए हिन्दुस्तान कभी तरक्की नहीं कर सकता। यहाँ सबको अपनी अपनी पड़ी रहती है मुल्क चाहे भाड़ में चला जाय. . . .इन कमीनों का दिमाग़ सबसे ज़्यादा चढ़ाया है कम्युनिस्टों ने, अपने सामने अब ये किसी को कुछ समझते थोड़े ही हैं भला बताइए शहर में कितनी गंदगी फैलेगी हैज़ा प्लेग पता नहीं क्या क्या बीमारियां फैलेंगी लोग मक्खियों की तरह मरेंगे मगर इसका ग़म किसे है उन्हें तो अपने दो रुपए से मतलब है. . . .सब भुनभुन करेंगे मगर कोई यह जानने की कोशिश नहीं करेगा कि इसकी नौबत आख़िर क्यों आती है, आख़िर क्यों इसी दो रुपए चार रुपए के लिए ये ग़रीब अपना सब कुछ दांव पर लगा देते हैं, मारे जाते हैं पीटे जाते हैं नौकरी से अलग किये जाते हैं जेल भेजे जाते हैं, सब इसी दो रुपए की ख़ातिर. . . .आप बड़े धन्ना सेठ हैं आपके लिए दो रुपए कुछ नहीं, मगर जिसे कुल बारह रुपया पन्द्रह रुपया मिलता हो उसके लिए दो रुपया बहुत बड़ी चीज़ है। मगर यह सब कुछ किसी की समझ में नहीं आता, हां भुनभुन करने के लिए सब अलबत्ता बड़े शेर हैं. . . . .और गवर्नमेन्ट को तो कुछ कहना ही बेसूद है, डकोटा खरीदने के नाम पर आप चाहे उनसे पचास करोड़ ले लीजिए मगर मेहतरों को मंहगाई देने के नाम पर कानी कौड़ी तो निकलती नहीं उनकी टेंट से। इधर मंहगाई का आपने नाम लिया नहीं कि उधर उनके खज़ाने का दिवाला निकला ! यह भी क्या बात हुई कि आपकी रिआया तो भूखों मर रही है और आपको सबसे पहले पड़ी है अपनी पुलिस और मिलिटरी की ! सबका पेट काटकर आप उनका पेट भर रहे हैं ! कुछ भी कहिए तो बस एक जवाब : हमें अपने देश की हिफ़ाज़त नहीं करनी है ?! कोई नहीं पूछता उन मत के मारों से कि कहीं भूखों नंगों ने भी कभी देश की हिफ़ाज़त की है ? मैं कहती हूं मान लीजिए आज कोई आपके देश पर चढ़ आये तो क्या आप समझते हैं आपकी यह मिलिटरी देश की हिफ़ाजत कर लेगी ? इस भुलावे में भी मत

रहियेगा, बालू की भीत की तरह भहराकर गिरेगी आपकी मिलिटरी की दीवार ! किसी भी देश की असल हिफाजत करते हैं वहां के रहने वाले स्त्री और पुरुष बच्चे और बुड्ढे और जवान और अगर वही उस ओर से उदासीन हो जायं तो समझ लीजिये बेड़ा ग़र्क़ । और इस वक्त ठीक वही हालत यहां चल रही है। इन्हीं पिछले पन्द्रह दिनों में पता नहीं कितनी जाहिल-जपट्ट औरतों और दो एक आदमियों के मुंह से भी सुन चुकी हूं—कोउ नृप होय हमें का हानी । चेरि छांड़ि न होउब रानी । इनसे अच्छा तो अंग्रेज राज्य था—यह जुमला तो आज शायद हर हिन्दुस्तानी की ज़बान पर है...कितनी भयानक बात है जब कोई आज के मुक़ाबिले में अंग्रेजी गुलामी को सराहे तब फिर बताइये इसके बाद बचा ही क्या...और आप हैं कि अपनी पुलिस और मिलिटरी में ही मगन हैं और आपको खाक धूल पता नहीं कि भीतर ही भीतर सारा मामला कितना पोला है....और ठीक भी तो है किसी में बिजली दौड़े भी कहां से, आदमी जान की बाज़ी लगावे तो काहे के लिए....लेकिन ज़रा देर के लिए इस तसवीर को उलट दीजिए....लोगों को भरपेट और अच्छा खाना मिल रहा है, बेकारी नहीं है सब अपनी रोजी से लगे हुए हैं । लोगों के झुंझलाये हुए मस्ख चेहरे पर मुस्कराहट खेलने लगी है, इन्तिहाई फिक्र और परीशानी के बोझ से टूटती हुई कमर सीधी होने लगी है, लोगों को जिन्दगी में रस आने लगा है—बहुत बड़ी बात है यह—इतना हो जाय तो फिर क्या कहना, देश की कायापलट हो जाय, कायापलट....फिर आप मिलिटरी रखिए या न रखिए, यही आपकी मिलिटरी हैं इन्हें ज्यादा नहीं बस एक एक राइफल दे दीजिए और इधर से बेफिक्र हो जाइये । दुनिया में ऐसी ताक़त पैदा ही नहीं हुई जो ऐसे एक मुल्क को दबोच सके, लोग नौ लाख निन्यानबे हज़ार तरीकों से उसका बचाव कर लेंगे, मौत की बारिश भले हो मगर दुश्मन का झंडा अपनी ज़मीन पर

नहीं गड़ सकता। उसके पहले देश का बच्चा बच्चा कट मरेगा और दस बीस को मारकर मरेगा। लोगों को एक बार समझने का मौका तो दीजिए कि जिन्दगी में आजादी कहते काहे को हैं, वह चीज़ क्या है, देश आज़ाद होता है तो उसके रंग ढंग में आखिर कौन सी तबदीली आ जाती है, उन्हें उस चीज के दर्शन खुद अपनी जिन्दगी में हों, तब तो उन्हें महसूस हो कि कितनी अनमोल चीज दांव पर लगी है जिसकी हिफाज़त उन्हें करनी ही है।...तो असल हिफाजत की तरफ तो किसी का ध्यान जाता नहीं सब अपने लकड़ी के घोड़ों और लकड़ी के सिपाहियों में ही मगन हैं....

और जिसकी परवाह करनी चाहिए उसी की परवाह कोई नहीं करता। ये लोग कितना जानना चाहते हैं सीखना चाहते हैं पर साधन नहीं है। जिनके पास साधन है उनके पास जिज्ञासा नहीं है और जिनके पास जिज्ञासा है उनके पास साधन नहीं है। पैसे वालों के लड़कों से ये लड़के पचासगुना ज्यादा इन्टेलिजेन्ट होते हैं। मगर क्या पढ़ें और लिखें... सुखिया दुखिया दोनों कैसा चीथड़ा लगाये घूमती हैं और बात अकेले सुखिया दुखिया की थोड़े ही न है, सबका यही हाल है। वह तो मिसाल के लिए मैंने उनका नाम लिया। रोज़ ही देखती हूं उनको, बच्चियाँ नहीं हैं कि बिश्टी लगा कर घूमें, खासी सयानी हैं मगर लाज ढँकने को कपड़ा नहीं है लिहाज़ा बेहयाई ओढ़े घूमती हैं! क्या करें? हे भगवान तेरी आंखों के सामने तेरी बच्चियां नंगी-उघाड़ी घूमा करती हैं और तेरे किये कुछ नहीं होता—दुःशासन द्रौपदी का चीर हरण कर रहा है और तू नपुंसक की तरह बैठा देख रहा है? सुना है कभी तूने द्रौपदी की लाज बचाई थी....कि वह भी बस एक कहानी ही है?...

४१

अल्टीमेटम की आज आखिरी तारीख है। अगर आज उधर से कोई बात न हुई तो कल से हड़ताल शुरू।

जैसा कि सब पहले से जानते थे अधिकारियों ने कुछ भी नहीं किया, एकदम सोंठ बने बैठे रहे।

हड़ताल शुरू हो गयी। सबसे पहले मेहतरों ने एक जुलूस शहर भर में घुमाया। उषा एक अधेड़ मेहतरानी के साथ सबसे आगे आगे थी। इस जुलूस की जरूरत को सब लोग नहीं महसूस कर रहे थे। मगर उषा ने ही इस पर जोर दिया, कहा : शहर के लोगों की हमदर्दी अपनी तरफ करने के लिए यह जरूरी है वर्ना पता नहीं वे लोग हमारे बारे में क्या क्या सोच बैठे और वह चीज हमारे खिलाफ पड़ेगी। और विरोधी प्रचार तो होगा ही..शहर के तमाम लोगों की हमदर्दी हासिल करनी जरूरी है, उससे हमारी लड़ाई को बल मिलेगा।.....लिहाजा जुलूस शहर भर में घूमा और उसने नुक्कड़ों पर रुक रुक कर लोगों को बतलाया कि क्यों मेहतरों को हड़ताल करनी पड़ी, कैसे मजबूर होकर उनको यह क़दम उठाना पड़ा, कैसे उन्होंने बहुत बार अपनी मांगें अधिकारियों के सामने रखीं और हर बार उन्हें ठुकरा दिया गया..हम जानते हैं कि हमारी हड़ताल से आप लोगों को भी तकलीफ उठानी पड़ती है, इसीलिए हम बराबर हड़ताल से बचते रहे और चाहते थे कि सुलह से मामला तय हो जाय, मगर नहीं, अधिकारी सुलह नहीं

जंग चाहते थे, लिहाज़ा उन्होंने हमारी बात पर कान ही नहीं दिया जैसे हम लोग कुत्ते हों और भूंक रहे हों ! लाचार होकर हमें भी जंग का रास्ता पकड़ना पड़ा। आप लोगों को जो तकलीफ़ होगी उसके लिए आप हमें माफ कर दीजिए, यह हमारे पेट की लड़ाई है। और सिर्फ माफ ही न कर दीजिए, हमारी मदद कीजिए ताकि मामला शान्ति से हल हो जाय। हमारी मांग है कि म्युनिस्पिल्टी के एक प्रतिनिधि, शहर के लोगों के एक प्रतिनिधि और हमारे एक प्रतिनिधि को लेकर एक कमेटी बने जो इस मसले पर अपनी राय दे कि हमारी मांगें सही हैं या ग़लत। हम हड़ताल करने के लिए हड़ताल नहीं करते। हम शान्तिपूर्ण तरीक़ों से मामले को सुलझाना चाहते हैं और आप भी इसी चीज़ के लिए ज़ोर लगाइये। हम कोई धांधली नहीं करना चाहते, हम जानते हैं कि सचाई हमारे साथ है और आपके सामने भी उसे रखने के लिए तैयार हैं.... लेकिन अधिकारी अगर शुरू से ही सुलह का रास्ता बन्द कर देंगे, तो फिर आप ही बताइये हम और क्या करें.... आपकी गंदगी साफ करते हैं, क्या हमें भर पेट खाना मांगने का भी हक़ नहीं है ? अपनी बहू-बेटियों का तन ढँकने के लिए कपड़ा मांगने का भी हक़ नहीं है ?

हक़ की बातें कौन सुनता है जी ! यह बाबा आदम के वक्त की बेसुरी रागिनी है। यहां तो जिसकी लाठी उसकी भैंस। अब ये चमार-पासी, मेहतर-डोम भी हक़ की बातें करने लगे ! इनकी अक़्ल ठीक करनी होगी। ये लात के देवता हैं बात से नहीं मानेंगे ! चौदह पुश्त से लात खाते चले आ रहे हैं, वही इनकी खूराक है।

लिहाज़ा तय पाया कि हड़तालियों को अच्छी खासी खूराक दी जाय ताकि कुछ दिन याद करें नहीं तो अगर कहीं साले मुंह लग गये तो सोना-जागना हराम कर देंगे, जब देखो तब तीर-कमान लेकर खड़े रहेंगे।

हड़ताल बहुत शान्तिपूर्वक चल रही थी। कहीं कोई दंगा फसाद नहीं हुआ और न हड़तालियों की तरफ से किसी को मारा-पीटा गया। हां पुलिस ने अलबत्ता बहुत काफी कारगुजारी दिखायी, बहुत से घरों पर छापे मारे, बहुतों के हँड़िया-पुरवे फोड़े, कई को मारा-पीटा, छः सात को गिरफ्तार किया। कन्हई तो पहले ही हल्ले में चला गया। हड़ताल पर इस सब का विशेष असर नहीं हुआ। हड़ताल तोड़ने के लिए आस पास की तहसीलों से मेहतर लाने की भी कोशिश की गई लेकिन वह भी बेसूद। चार-छः मान लीजिये आ भी गये तो उनसे कहीं काम चलता है ?! ऊंट के मुंह में जीरा। एकाध रोज कुछ कांग्रेसी नेताओं पर, जिनमें कुछ धारासभा के सदस्य भी थे, जनसेवा का भूत सवार हुआ और उन्होंने झाड़ू उठायी। मगर वह भी, दूसरे रोज अखबार में तसवीरें आ जाने के बाद आप से आप ग़ायब हो गया, जैसे आया था बिलकुल उसी तरह।

धीरे धीरे करके हड़ताल को छः रोज़ पूरे हो गये और स्थिति बहुत ही नाजुक हो चली। शहर में गंदगी तो खैर फैल ही रही थी, बीमारियां फैलने का भी अंदेशा था मगर अधिकारियों को इन बातों की इतनी चिन्ता न थी जितनी इस बात की कि शहर में गली गली उनकी भद उड़ रही थी। सब कह रहे थे——मेहतर तक तो आपके बस में हैं नहीं, नाक सड़ाकर रख दी !....और यह चीज अधिकारियों को जहर में बुझे हुए तीर की तरह लगती। लिहाजा फैसला किया गया कि चाहे जैसे हो हड़ताल दो रोज़ के अन्दर तोड़नी ही है।

आज शहर में बड़ी सनसनी है। शाम को जुलूस निकलने वाला है। शहर भर में लाल लाल पगड़ी ही दिखायी दे रही है। हवा में आतंक है। राह चलते लोग आपस में बात कर रहे हैं कि आज कुछ अनर्थ होने वाला है।

पुलिस की तैयारियों को देखकर हड़तालियों का जोश और उबाल खा रहा है। लिहाजा जो ज्यादा नौजवान और जोशीले हैं वह तो पुलिस से मुठभेड़ तक की बात कर रहे हैं, ईंट-पत्थर जेबों में भर रहे हैं, और कुछ डंडे-वंडे का भी इंतजाम कर रहे हैं। लेकिन हड़ताल के नेताओं ने बहुत कड़े शब्दों में ताकीद कर दी है कि हमारा जुलूस बिलकुल शान्तिपूर्ण होगा। इससे नौजवानों को कुछ मायूसी भी हुई और वे आपस में भुनभुन कर रहे हैं मगर नेताओं का कहना है कि जुलूस जितना ही शान्तिपूर्ण होगा, हमको अपने काम में उतनी ही ज्यादा कामयाबी मिलेगी। इस वक्त हमारा मक़सद पुलिस से टक्कर लेना नहीं, शहर के लोगों तक पुलिस के जुल्म की दास्तान को पहुंचाना है—

लिहाजा जुलूस निकला, एक हजार मेहतरों का जुलूस लाल झंडा उड़ाता हुआ। लाल झंडे कम थे तो कुछ ने अपना महावीरी झंडा ही उठा लिया था। अरुण को उषा ज्योती की मां के पास ही छोड़ आयी थी। आजकल ज्यादा समय अरुण उन्हीं के पास रहता था क्योंकि उषा का ज्यादा समय बस्ती में ही बीतता था। इस समय उषा और सुखई और कोई दो मेहतरानियां ही जुलूस के आगे आगे थीं। उनके आगे बस वह बांका जवान शंभू था जो बड़ा सा लाल झंडा लिये चला जा रहा था। अब तक दो नुक्कड़ों पर सभाएं हो चुकी थीं और उनका सुनने वालों पर गहरा असर पड़ा था। हड़ताल से लोगों को तकलीफ हो रही थी सही। मगर फिर भी वह जानना चाहते थे कि आखिर माजरा क्या है, आखिर क्यों यह चीज तूल पकड़ती जा रही है—इन नुक्कड़ सभाओं में उनको पूरी बात बतलायी गयी जिससे उन्हें बहुत इत्मीनान हुआ। यहां तक कि उनमें से कुछ जुलूस के साथ हो लिये—कुछ उत्साह में आकर कुछ यों ही तमाशबीनी के लिए।

पुलिस ने यह चीज देखी तो उनके कान खड़े हुए—इस तरह तो नहीं चलेगा, जुलूस को तितर-बितर करना ही होगा। इस तरह तो ये हरामजादे सारे शहर को अपने साथ बहा ले जायेंगे।

घंटाघर पर जुलूस का पहुंचना था कि आर्म्ड कांस्टेबलरी की एक गारद ने कोतवाली की तरफ से मौके पर पहुंचते हुए, अपनी मोटर में लगे हुए माइक से जुलूस को तितर बितर हो जाने का हुक्म दिया। कहा—यह जूलूस ग़ैरकानूनी है और पांच मिनट के अन्दर इसे तितर-बितर हो जाना चाहिए। जंट साहब का हुक्म है।

जंट साहब का हुक्म मानने के लिए तो जुलूस निकला नहीं था, जुलूस तो निकला था लोगों को अपनी बात सुनाने। लिहाजा लोगों ने माइक की आवाज को सुना अनसुना कर दिया। जुलूस ठहर गया और कड़ियल दबंग आवाज वाले मतई ने आगे बढ़कर, अपने भोंपू में मुंह डालकर बोलना शुरू किया—भाइयो, आप हमारी लड़ाई में हमारा साथ दे रहे हैं इसका फल आपको भगवान देगा। आज हमारी हड़ताल का सातवां दिन है। आप हमारे यहां चलकर देखिए हमारे पास मुट्ठी भर आटा नहीं है। हम लोग पानी पीकर जी रहे हैं। उस पर से पुलिस हमारी कोठरियों पर हमला करती है....

पुलिस की माइक में से बिजली की तरह कड़कती हुई आवाज आई—जुलूस अब अगर एक मिनट के अन्दर तितर-बितर नहीं होता तो हमें लाठीचार्ज करना पड़ेगा। एक मिनट के अन्दर जुलूस को खत्म करो और अपने अपने घर जाओ—

कुछ के जी में आया कि चलो भाग चलें, यह तमाशा ठीक नहीं। लिहाजा चन्द लोगों ने खिसकना भी शुरू कर दिया मगर जो असल जमात थी जिसका यह जुलूस था, जिसे पेट की आग ने लड़ाई

के मैदान में उतारा था, वह चट्टान की तरह खड़ी रही, उसपर कोई असर नहीं हुआ। मतई बोलता रहा...भाइयो, हमारे भी बच्चे हैं उनको भी भूख लगती है.....

तभी आर्डर मिला—लाठीचार्ज।

लाठियां बरसनी शुरू हो गयीं। उषा की आंखों के सामने पहली लाठी मतई के सिर पर पड़ी और वह गिर पड़ा। दूसरी लाठी बड़ा-सा लाल झंडा थामे हुए नौजवान शंभू पर पड़ी। उसके सिर से फव्वारे की तरह खून निकला जिसके तीन चार छींटे उसके ठीक पीछे खड़ी उषा के आँचल पर भी गिरे। शंभू के पैर लड़खड़ाने लगे मगर उसने झंडे को छोड़ा नहीं। पर कब तक ?...उषा ने शेरनी की तरह कूदकर गिरते हुए शंभू के हाथ से झंडा अपने हाथ में ले लिया, मतई की तरफ बढ़ी और चिल्लायी : साथियो, इम्तहान की घड़ी यही है। अपनी जगह से हिलो भी मत। हक़ के लिए लड़ने निकले हो तो हिम्मत से......

वाक्य भी पूरा नहीं कर पायी थी कि पता नहीं कितनी लाठियां उसके ऊपर गिरीं...उस पर का एक वार सुखई ने अपने ऊपर लिया और उसकी बांह टूटकर ऐसे झूल गयी जैसे पहले से उसी तरह लटकी हुई हो। बहिन जी को और बूढ़े सुखई को गिरते देखा तो मेहतरों के सर पर खून सवार हो गया और उन्होंने भी लाठी छीन-छानकर हाथ चलाना शुरू किया और पुलिस ने भी पूरी बेदर्दी से उनको कूंचा, जितना कूंच सकते थे, ...

मार्का खत्म हुआ तो नौ लोग खून में लथपथ ज़मीन पर पड़े थे जनमें उषा भी थी। और मतई तो ठंडा हो चुका था।

४२

उषा के घर में खबर पहुंची तो कुहराम मच गया। मां ने जोर जोर से रोना शुरू कर दिया—मेरी बेटी...मेरी बेटी...। बस यही दो लफ़्ज़ थे और रोना था। बाबू जी उन्हें तो चुप करा रहे थे और खुद उनकी आंखों से झरना बह रहा था। ज़ब्त करने के लिए जितना ही वह अपने ओठों को काटते आंखें उतनी ही जल्दी जल्दी भर आतीं। उन्हें कुछ नहीं सूझ रहा था कि क्या करें यहां तक कि वह उस आदमी से अब तक पूरी बात भी नहीं पूछ पाये थे। बस इतना सुन पाये थे कि उषा बेहोश पड़ी है, उसे बहुत चोट आयी है.....

सुबकते हुए रामू को भेजकर पड़ोसी डाक्टर नीलकंठन को बुलवाया और उन्हीं की गाड़ी में उषा को लेने अछूत बस्ती पहुंचे। वहां कोई एक घायल था, तमाम घायल ही घायल थे जिनकी मरहम पट्टी हो रही थी, हल्दी चूना लगाया जा रहा था।

बस्ती वाले पहले समझे नहीं कि मोटर पर चढ़कर यह कौन आया है और क्यों आया है? यहां पर इसका क्या काम है। लेकिन जब उन्हें मालूम हुआ कि ये उषा बहिन जी के बाप हैं तो उनकी मुद्रा एकदम बदल गयी। एक अधेड़ मेहतर ने पास आकर कहा—आपकी बेटी हमारी बेटी है। कितनी बहादुर है! भगवान लड़का लड़की दे तो ऐसे। तड़ातड़ लाठी चल रही थी मगर इतना सा तो डरी नहीं......

उषा के पिता जी में इस समय यह सब सुनने की ताब नहीं थी। वह फ़ौरन उषा को देखना चाहते थे।

उस मेहतर ने इनके दिल का भाव ताड़ लिया और कहा—आप घबरायें नहीं बाबू जी, बेटी को अब कोई खतरा नहीं है। अपना देसी इलाज भी हम लोगों ने कर दिया है बाबूजी, जितना कुछ हम जानते हैं, थोड़ी दारू भी मुंह में डाल दी है जिसमें बदन में गर्मी आ जाय.. हम लोगों का तो बाबू जी, इसी तरह काम चलता है। डांगदर-वांगदर हमको कहां मिले और सिर तो रोज़ ही किसी न किसी का फूटता रहता है, कहां जायें डाँगदर खोजने....

उषा के पिता जी को इस बातूनी आदमी पर बहुत चिढ़ आने लगी थी लेकिन उसकी इस बात से उन्हें बहुत क़रार आया था कि उषा को अब कोई खतरा नहीं है। तभी उन्हें सुनाई दिया, वही मेहतर बोल रहा था—...चलिए बिटिया के पास।...हँ हँ देखिए उधर कीचड़ है उससे बचकर आइयेगा...रोसनी भी तो नहीं है। कीचड़ और अँधेरा—इसी में हमारी जिनगी बीत जाती है बाबू जी।

उषा इसी मेहतर की झोपड़ी में थी। अभी उसको ठीक से होश भी नहीं आया था, बेहोश कहना ही ज्यादा ठीक होगा..पर सांस सम चल रही थी। नाड़ी पर से हाथ उठाते हुए डाक्टर नीलकण्ठन ने कहा—पल्सबीट बिलकुल ठीक है।

उषा के बाक़ी धड़ में ज्यादा चोटें आई थीं, सिर पर शायद एक ही लाठी तिरछी पड़ी थी जो सिर के बायें हिस्से को घायल करते हुए गर्दन और हँसुली की हड्डी पर आकर गिरी थी। दोनों ही जगह काफी कड़ी अन्दरूनी चोट आई होगी। सिर पर भद्दी सी मैली-कुचैली पट्टी बंधी हुई थी। ढिबरी के मद्धिम प्रकाश में उन्होंने चार-पांच औरतों

को भी देखा, जो उषा की खाट की पाटी के आस-पास बैठी थीं। उनके चेहरे पर गहरी ममता और कृतज्ञता का भाव था और उसके साथ साथ कुछ ऐसा भी भाव कि जैसे उन्हीं के कारण उषा की यह हालत हुई हो, अपराधी जैसा भाव। हलका ही, ज्यादा नहीं, मगर था। उषा के पिता जी को यह सब देखने सुनने की फुरसत नहीं थी, एक तो यहां इस भीड़ भाड़ में, इतनी तंग जगह में जिसमें हवा का भी गुजर नहीं है और इतनी औरतें घेरे बैठी हैं, ऐसी जगह उषा को ज्यादा देर रखना भी ठीक नहीं। अरे माना कि जगह को झाड़ पोंछकर काफी साफ कर दिया गया है लेकिन गंदी जगह आखिर कितनी साफ हो ही सकती है, झाड़ने पोंछने से मिट्टी का फर्श मोजेक का फर्श तो हो नहीं जायगा। तो एक तो यह बात उन्हें परीशान कर रही थी, दूसरी यह कि वहां उषा की मां रोते रोते जान दे देगी—वह भी तो आने को कह रही थी, मैंने कहा कि मैं अभी लेकर आता हूं.....

उषा के बहुत पास जाकर झुककर उन्होंने दो बार उषी को पुकारा—उषी....बेटी....

बेटी के अन्दर कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई।

उषी के पिता जी ने डाक्टर को देखा और बहुत सोच में पड़ते हुए पूछा—ऐसे में ले जाना ठीक होगा ?

डाक्टर नीलकंठन ने कहा—अब जैसा कहिए, ऐसे में बहुत हिलाना-डुलाना ठीक तो नहीं ही है मगर जैसा कहिए....

उस मेहतर ने बड़ी आन्तरिक पीड़ा के स्वर में कहा—बाबू जी, आपके घर जैसा आराम तो हम कहां से देंगे पर बिसवास रखिए बिटिया को हम कोई तकलीफ न होने देंगे। यह हमारी बिटिया है। इसने हमारी खातिर चोट खाई है। हम आंख में मिर्चा झोंककर रात भर

जागेंगे बाबू जी—रात गुजर जाने दीजिए, कल सुचित्त में ले जाइयेगा।

पिता का हृदय किसी तरह इस बात को नहीं स्वीकार कर सका। लेकिन वह इन लोगों का दिल भी नहीं दुखाना चाहता था जिनकी खातिर उषा ने लाठी खाई। फिर उन्हें अकेले घर जाने में भी डर लगा। बोले—भाई मैं जानता हूं तुम लोग कुछ उठा नहीं रखोगे, लेकिन तुम्हीं बताओ रात भर में इसकी मां का क्या हाल हो जायगा, वह तो रो रो कर जान दे देगी। अपनी आंख से देख लेने की बात दूसरी होती है।

इस तर्क ने सबको जीत लिया। मोटर में से स्ट्रेचर मंगाया गया और उषा को बड़े हलके हाथों से उठाकर लाकर मोटर में लिटाया गया। और मोटर चल दी। किसी के मुंह से कोई शब्द नहीं निकला। मगर सारी अछूत बस्ती के दिल से बस एक असीस निकली—भगवान हमारी बिटिया को जल्दी अच्छा करे....

४३

दूसरे दिन होश आने पर उषा ने आंखें खोलीं तो सत्य को कमरे में अकेले अपने सिरहाने बैठा पाया। कहीं सपना तो नहीं देख रही हूं! आंखें मूंदी और फिर खोलीं—सत्य ही तो है! सिर की चोट में धक्का लगा। बोली—तुम?...तुम आ गये! और उठने लगी। सत्य ने कुर्सी से उठकर बहुत हलके से अपना बांया हाथ उसके सर के नीचे लगाकर दाहिने हाथ से उसे लिटाते हुए कहा—उषी, उठो मत लेटी रहो।

उषा ने आंखें फाड़े फाड़े फिर पूछा—तुम? तुम कब आए?

सत्य ने मुसकराते हुए, उषा के गालों पर बड़े प्यार से हाथ फेरा, जैसे अपने जादू भरे स्पर्श से उषा का सारा दर्द अपनी उंगलियों में खींच लेना चाहता हो। उषा की आंखें मुंद गयीं और आंसू आंख की कोरों से ढुलककर गाल पर आने लगे।

सत्य ने उषा की आंख से रुमाल लगाते हुए कहा—यह क्या, पागल...मज़े की बात देखो उषी वह कानून ही जिसके मातहत हम बन्द थे ग़ैरकानूनी क़रार दे दिया गया। वही मसल है, अंधेर नगरी धमधूसर राजा..ऐसी अंधेर नगरी वहां भी न रही होगी...प्रफुल्लबाबू अमूल्य सब छूट जायंगे। फिर वही पुरानी हड़ाहुड़ी रहेगी। बड़ा मज़ा आयेगा। मगर तुमने यह क्या कर डाला..पर नहीं मैं भी कैसा गधा हूं, बक बक किए जा रहा हूं, वह सब बाद में बताना तुम...अभी तुम चुपचाऽऽप लेटी रहो....

उषा के ज़र्द चेहरे पर एक हलका सा स्मित आया जो बड़े भोले स्वर में कह रहा था—तुम्हीं ने तो यह घाव दिया और तुम्हीं पूछते हो !

उषा ने कहा—'मैंने कुछ बुरा तो नहीं किया सत्य'. . .और अपनी हिरनौटे जैसी आंखें मूंदे मूंदे सत्य को भेंटने के लिए अपनी आतुर कांपती हुई बांहें फैला दीं। सत्य ने कोई जवाब नहीं दिया, दरवाज़े की ओर ताका और झुककर उषा की मुंदी आंखों को, ललाट को और फिर सिर के उस घाव को बहुत हलके से चूम लिया। उषा की बांहें अपनी सारी ताक़त से उसे घेरे हुए थीं और उसका सिर उषा की छाती पर था जो ज़ोर से धकधक कर रही थी। कितनाऽऽ सुख मिल रहा था ! इतना सुख कि उसे अपने सीने में दर्द सा महसूस हुआ जैसे किसी ने उसके दिल को स्पंज की तरह लेकर गार दिया हो !

उषा की बांहों से अपने को छुड़ाते हुए उसने कहा—दुत्—पगली. .

उषा ने आंखें खोलीं और निर्निमेष सत्य को देखती रही। सत्य ने सोचा—कितना गहरा कितना नीला है इसकी आंख का समुद्र. . . उसने बार बार कहना चाहा : उषी तू नहीं जानती, तेरे इस घाव में हमारे नये जीवन के विराट् अश्वत्थ का बीज छिपा हुआ है, हमारे नये सुख का बीज, नये प्रभात का बीज। उषी, आ इस स्वयंवर बेला में हम उस प्रभात को प्रणाम करें।

उसने बार बार कहने चाहे ये शब्द मगर कह नहीं सका, इन शब्दों की गूंज भी कानों में ओछी-सी सुन पड़ी। शब्द सब लंगड़े हो गये थे।